जय महावीर

जय गुरु समरथ   जय गुरु चंपक

जैनागम नवनीत

आगम निबंधमाला

भाग- २

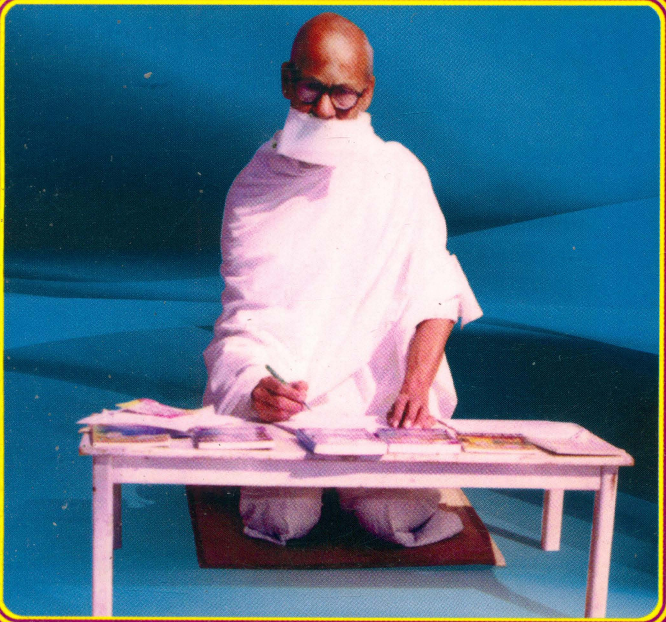

संपादक

तिलोकचन्द जैन (आगम मनीषी)

साहित्य सूचि

[इन्टरनेट पर उपलब्ध-जैन ई लाइब्रेरी तथा आगम मनीषी]

हिन्दी साहित्य :-

१ से ३२	आगम सारांश हिंदी
३३ से ४०	(१) गुणस्थान स्वरूप (२) ध्यान स्वरूप (३) संवत्सरी विचारणा (४) जैनागम विरूद्ध मूर्तिपूजा (५) चौद नियम (६) १२ व्रत (७) सामायिक सूत्र सामान्य प्रश्नोत्तर युक्त (८) सामायिक प्रतिक्रमण के विशिष्ट प्रश्नोत्तर (९) हिन्दी में श्रमण प्रतिक्रमण (१०) श्रावक सविधि प्रतिक्रमण
५१ से ६०	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर भाग-१ से १०
६१-६२	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर विविध दो भागों में
६३-६४	आचारांग प्रश्नोत्तर दो भागों में
६५	ज्ञानगच्छ में.......प्रकाशगुरु का शासन......
६६	स्था. मान्य ३२ जैनागम परिचय एवं साहित्य समीक्षा
६७(१०१)	जैनागम नवनीत निबंधमाला भाग-१
६८(१०२)	जैनागम नवनीत निबंधमाला भाग-२

गुजराती साहित्य :-

१ से ९	जैनागम सुत्तागमे गुजराती लिपि में- ९ भागों में
१०	जैन श्रमणों की गोचरी, श्रावक के घर का विवेक
११	जैनागम ज्योतिष गणित एवं विज्ञान
१२ से १९	जैनागम नवनीत-मीठी मीठी लागे छे महावीरनी देशना(८)
२०-२९	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर भाग-१ से १०
३०-३१	(१) १४ नियम, (२) १२ व्रत
३२	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर विविध भाग-१
३३-३४	आचारांग प्रश्नोत्तर दो भागों में
३५(१०३)	स्था. मान्य ३२ आगम परिचय एवं साहित्य समीक्षा (प्रेस में)

(योग-६७ + ३५ = १०२)

जय महावीर

जय गुरु समरथ

जय गुरु चम्पक

जैनागम नवनीत

आगम निबंध माला

[भाग-२]

आगम मनीषी

श्री त्रिलोकचन्द जी जैन
राजकोट

प्रकाशक : श्री जैनागम नवनीत प्रकाशन समिति, राजकोट

[पुष्पांक-१०२]

सम्पादक : आगम मनीषी श्री त्रिलोकचन्दजी जैन

प्रकाशन समय : ३०।७।२०१४

प्रथम आवृत्ति : प्रत : १०००

मूल्य : **50-00** पाँच पुस्तकों का सेट : **250-00**

ऐच्छिक उदारता-पुस्तक मिलने पर आप पुस्तक की कीमत ५०/- अथवा एक साथ पाँच भागों की रकम २५०/- अथवा कोई भी सहयोग राशि भेजना चाहें तो सूचित खाते में भेज सकेंगे। मनीओर्डर भी स्वीकार्य होगा परंतु मनीओर्डर में प्राप्तकर्ता का नाम-गोविंदभाइ पटेल लिखेंगे। एड्रेस और *A/c No* निम्नोक्त रहेगा।

A/c No. : 18800100011422 Tilokchand Golchha
Bank Of Baroda, Rajkot (Raiya Road)

प्राप्तिस्थान : **श्री त्रिलोकचन्द जैन**
ओम सिद्धि मकान
६, वैशालीनगर, रैया रोड,
राजकोट-360 007 (गुजरात)
Mo. 98982 39961 / 98980 37996

EMAIL : agammanishi@org
www.agammnishi.org / jainlibrary.e.org

कोम्प्युटराईज- डी. एल. रामानुज, मो.९८९८० ३७९९६
फोरकलर डिजाइन- हरीशभाई टीलवा, मो.९८२५० ८८३६१
प्रिन्टिंग प्रेस- किताबघर प्रिन्टरी मो.९८२४२ १४०५५
बाईन्डर- हबीबभाई, राजकोट मो.९८२४२ १८७४७

प्रकाशकीय-संपादकीय

मानव जीवन अनेक उतार-चढावों का पिटारा है । जो इसमें संभल संभलकर चले वही श्रेष्ठ लक्ष्य को पा सकता है अन्यथा कभी भी भटक सकता है । वैसी स्थिति में आगमज्ञान प्रकाश ही जीवन का सही मार्गदर्शक बन सकता है ।

इस ज्ञान श्रृंखला में पाठकों को ३२ आगम सारांश एवं ३२ आगम प्रश्नोत्तर के बाद अब नया अवसर आगमिक निबंधों का संग्रह-निबंध निचय अनेक भागों के रूप में हस्तगत कराया जायेगा । जिसमें आगम सारांश और आगम प्रश्नोत्तर की पुस्तकों में से ही विषयों को उट्टंकित कर निबंध की शैली में प्रस्तुत किया जायेगा ।

ये निबंध पाठकों, लेखकों, मासिकपत्र प्रकाशकों एवं जीवन सुधारक जिज्ञासुओं को उपयोगी, अति उपयोगी हो सकेंगे । इसी शुभ भावना से आगम ज्ञान सागर को इस तीसरी निबंध श्रेणी में तैयार किया गया है ।

(१) स्वाध्याय संघों के सुझाव से----- आगम सारांश

(२) आचार्यश्री देवेन्द्रमुनिजी की प्रेरणा से---- आगम प्रश्नोत्तर

(३) नूतनपत्रिका संपादक से प्रेरणा पाकर--- आगम निबंध

आशा है, आगम जिज्ञासु इस तीसरे आगम उपक्रम से जरूर लाभान्वित होंगे ।

इस निबंध माला के प्रथम भाग में मुख्य रूप से शासन एवं आगम परम्परा-इतिहास, संयम, दीक्षा एवं अध्ययन-अध्यापन, पद व्यवस्था, प्रायश्चित्त तथा आचार, समाचारी, एवं कर्म अवस्था इत्यादि विषयों को स्पर्श करने वाले निबंध संपादित किये है । द्वितीय भाग में आगम की कथाओं का एवं उनसे मिलने वाली शिक्षा-प्रेरणाओं का तथा ज्ञातव्य तत्वों का संकलन किया है ।

T. C. JAIN

अनुक्रमणिका

निबंधांक		पृष्टांक
(१)	दस प्रत्याख्यान एवं उनके १५ आगार	०९
(२)	समभाव-क्षमाभाव चिंतन : १५ दोहे	१४
(३)	नमिराजर्षि और शकेन्द्र के १० प्रश्नोत्तर	१६
(४)	बहुश्रुत का महात्म्य एवं १६ उपमाएँ	१८
(५)	चतुर्विध मोक्षमार्ग	१९
(६)	१२ प्रकार के तप का संक्षिप्त स्वरूप	२१
(७)	६ लेश्याओं के लक्षण से अपने को पहचानो	२३
(८)	भगवान महावीर स्वामी की संयम साधना	२५
(९)	पंडित मरण के तीन प्रकार	३५
(१०)	क्षमाभाव अंतर्हृदय का आवश्यक	३८
(११)	जैनसिद्धांत और वर्तमान ज्ञात दुनिया	४०
(१२)	ज्योतिष मंडल के प्रति वैज्ञानिक एवं आगम दृष्टि	४६
(१३)	केवली प्रथम पद में नहीं पाँचवें पद में	५२
(१४)	समाधि मरण-संलेखना संथारा	५६
(१५)	अबूझ कहावतों में संशोधन	५९
(१६)	उदक पेढालपुत्र एवं गौतमस्वामी की चर्चा	६२
(१७)	श्रेणिकपुत्र मेघकुमार के पाँच भव	६५
(१८)	मेघकुमार अध्ययन से प्राप्त शिक्षा	६७
(१९)	धन्य सार्थवाह के जीवन से प्राप्त शिक्षा	६८
(२०)	दीक्षार्थी के प्रति कृष्ण वासुदेव का कर्तव्य	७०
(२१)	शैलक अध्ययन से प्राप्त शिक्षा एवं तत्त्व	७२
(२२)	मल्ली भगवती के ३ भवों का अद्भुत वर्णन	७३
(२३)	मल्ली भगवती के अध्ययन से प्राप्त ज्ञेय तत्त्व	७९
(२४)	राजा और मंत्री का जीवन व्यवहार	८२
(२५)	मनुष्य भव में हारा मेंडक भव में जीता	८५

(२६)	द्रौपदी के अध्ययन से प्राप्त ज्ञेय तत्त्व	८८
(२७)	सुंसमा दारिका के अध्ययन से प्राप्त शिक्षा ज्ञातव्य	९१
(२८)	पुंडरीक कंडरीक के अध्ययन से प्राप्त शिक्षा	९३
(२९)	ज्ञाता सूत्र के १९ अध्ययनों का हार्द	९५
(३०)	ज्ञाता सूत्र श्रुत स्कंध-२ वर्णित २०६ आत्माएँ	९९
(३१)	काकंदी के धन्ना अणगार का तप एवं आहार	१०२
(३२)	दुःखविपाक अध्ययनों से शिक्षा	१०६
(३३)	सुखविपाक के अध्ययनों से शिक्षा-ज्ञातव्य	११५
(३४)	अंबड संन्यासी तथा उसके ७०० शिष्य	११८
(३५)	सूर्याभ देव का मनुष्य लोक में आगमन	१२२
(३६)	सूर्याभ देव की भक्ति एवं ऋद्धि	१२४
(३७)	प्रदेशी राजा का जीवन परिवर्तन	१२६
(३८)	चितसारथी द्वारा कर्तव्य पाालन	१२८
(३९)	केशीश्रमण के साथ प्रदेशी राजा का संवाद	१३०
(४०)	प्रदेशी राजा के जीवन वर्णन से प्राप्त शिक्षा ज्ञातव्य	१४०
(४१)	ज्योतिषी देवेन्द्र का पूर्वभव	१५१
(४२)	श्री ह्री लक्ष्मी बुद्धि आदि दस देवियाँ	१५४
(४३)	नरक तिर्यंच गति के दुख	१५६
(४४)	चोरी करने वालों का इस भविक दुःख	१५९
(४५)	असत्य त्याग (कथा)	१६१
(४६)	निंदा : प्रश्नोत्तर	१६७
(४७)	पाप-पुण्य विचारणा	१७२
(४८)	कर्म और पुनर्जन्म की विचारणा	१७४
(४९)	कर्म की अवस्थाएँ	१७६
(५०)	तीर्थंकरों के ३४ अतिशय	१७९
(५१)	राणियों की संख्या एवं स्त्री की ६४कलाएँ	१८१
(५२)	शरीर वर्णन : शरीर के लक्षण ३२ आदि	१८३

(५३)	नवनिधि का परिचय	१८४
(५४)	चक्रवर्ती के १४ रत्नों का विशेष परिचय	१८६
(५५)	चक्रवर्ती के खंड साधन के मुख्य केन्द्र और १३ तेले	१९०
(५६)	भरत चक्रवर्ती को केवलज्ञान	१९१
(५७)	उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के ६-६ आरे	१९२
(५८)	दूसरे आरे से संवत्सरी की कल्पना	२०५
(५९)	मनःपर्यवज्ञान आदि विषयक समीक्षा	२०६
(६०)	द्वादशांगी परिचय के तीन सूत्रों में तुलना	२०९
(६१)	भगवान महावीर का शरीर सौष्ठव	२११
(६२)	संख्यात असंख्यात अनंत की भेदयुक्त व्याख्या	२१३
(६३)	पल्योपम का भेद-प्रभेद युक्त विश्लेषण	२१६
(६४)	सात स्वरों का ज्ञान	२१९
(६५)	तीन प्रकार के अंगुल एवं उत्सेधांगुल का ज्ञान	२२०
(६६)	चार निक्षेपों का रहस्य एवं व्यवहार	२२२
(६७)	सात नयों का स्वरूप एवं दृष्टांत	२२३
(६८)	श्रावक की ११ पडिमाओं का विश्लेषण	२३२
(६९)	चैत्य शब्द के अर्थों का ज्ञान	२३७
(७०)	श्रावकों के जानने योग्य २५ क्रियाएँ	२३८
(७१)	भगवान की धर्म देशना :औपपातिक सूत्र	२४०
(७२)	तप के १२ भेदों का विस्तार	२४३
(७३)	श्रमण के पर्यायवाची शब्द एवं अर्थ	२५४
---	अपनी बात	२५५

निबंध-१

दस प्रत्याख्यान एवं उनके आगार

प्रतिक्रमण एवं विशुद्धिकरण के पश्चात् तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार किया जाता है जो आत्मा के लिये पुष्टिकारक होता है । तप से विशेष कर्मों की निर्जरा होती है । अतः छट्ठे आवश्यक (अध्याय)में इत्वरिक अनशन तप के १० प्रत्याख्यान के पाठ कहे गये हैं । इसमें संकेत प्रत्याख्यान भी है एवं अद्धा प्रत्याख्यान भी है ।

(१) नमस्कार सहितं (नवकारसी)- इस पाठ में **सहियं** शब्द का प्रयोग हुआ है जो **गंठि सहियं, मुट्ठिसहियं** के प्रत्याख्यान के समान है । अतः सहित शब्द की अपेक्षा यह संकेत प्रत्याख्यान होता है । संकेत प्रत्याख्यानों में काल की निश्चित मर्यादा नहीं होती है । ये संकेत निर्दिष्ट विधि से कभी भी पूर्ण(समाप्त)कर लिये जाते हैं यथा- गांठ खोलने से, नवकार गिनने से ।

काल मर्यादा नहीं होने से संकेत प्रत्याख्यानों में **सर्व समाधि प्रत्ययिक** आगार नहीं होता है क्यों कि पूर्ण समाधि भंग होने की अवस्था के पूर्व ही संकेत पच्चक्खाण कभी भी पार लिया जा सकता है । तदनुसार नवकारसी के मूलपाठ में भी यह आगार नहीं कहा गया है और नमस्कार सहितं शब्द प्रयोग किया गया है । इसलिये यह अद्धा प्रत्याख्यान नहीं है किन्तु संकेत पच्चक्खाण है अर्थात् समय की कोई भी मर्यादा इसमें नहीं होती है, सूर्योदय के बाद कभी भी नमस्कार मंत्र गिन कर यह प्रत्याख्यान पूर्ण किया जा सकता है । शेष सभी(९) अद्धा प्रत्याख्यान है ।

नवकारसी प्रत्याख्यान में चारों आहार का त्याग होता है एवं दो आगार होते हैं- भूल से खाना और अचानक सहसा मुँह में स्वतः चले जाना । वर्तमान में इसके ४८ मिनट समय निश्चित्त करके इसे अद्धाप्रत्याख्यान में माना जाता है । अतः पाठ में आगार भी सुधार लेने चाहिये अर्थात् पाठ में तीन आगार बोलने चाहिए ।

(२) पोरिसी- चौथाई दिन को एक पोरिसी कहते हैं । सूर्योदय से लेकर पाव दिन बीतने तक चारों आहार का त्याग करना **पोरिसी**

प्रत्याख्यान है। इसका समय तीन घंटों के करीब होता है । पोरिसी आदि ९ प्रत्याख्यानों में हीनाधिक विविध आगार कहे गये हैं । जिनको अर्थ सहित आगे स्पष्ट किया गया है।

(३) **पूर्वार्द्ध(पुरिमड्ढ)=दो पोरिसी**–इसमें सूर्योदय से लेकर आधे दिन तक चारों आहार का त्याग होता है ।इसका समय छ घंटों के लगभग होता है ।

(४) **एकासन**–इसमें एक स्थान पर एक बार भोजन किया जाता है। उसके अतिरिक्त समय में (पूरे दिन–रात में) तीनों आहार का त्याग होता है। केवल अचित्त जल दिन में लिया जा सकता है।

(५) **एकस्थान(एकल ठाणा)**–इसमें एक बार एक स्थान पर भोजन करने के अतिरिक्त समय में चारों आहार का त्याग किया जाता है अर्थात् आहार और पानी चारों प्रकार का आहार एक स्थान पर एक साथ ही ले लिया जाता है । उसके बाद दूसरे दिन सूर्योदय तक चारों आहार का त्याग कर लिया जाता है ।

(६) **निवी**–इसमें एक बार रुक्ष आहार किया जाता है। पाँचों विगयों का एवं महा विगय का इसमें त्याग होता है। एक बार भोजन के अतिरिक्त तीनों आहार का त्याग होता है। अचित्त जल दिन में पिया जा सकता है । खादिम, स्वादिम का इसमें सर्वथा त्याग होता है ।

(७) **आयंबिल**–इसमें एक बार भोजन किया जाता है जिसमें एक ही रुक्ष (लूखा–अलूणा)पदार्थ को अचित्त जल में डुबोकर या भिजोकर नीरस बनाकर खाया एवं पीया जाता है। अन्य कुछ भी नहीं खाया जाता है ।एक बार भोजन के अतिरिक्त दिन में आवश्यकता अनुसार अचित्त जल लिया जा सकता है ।

वर्तमान में आयंबिल ओली के प्रचार से कई लोग(विशेष करके गुजरात में एवं देरावासी समाज में) १०–२० द्रव्यों से एवं नमक आदि मसाला का उपयोग करके भी आयंबिल करते हैं । वह मात्र परंपरा का आयंबिल होता है । आगम शुद्ध आयंबिल नहीं होता । आगम दृष्टि से उसे निवी कहा जा सकता है ।

(८) **उपवास**–इसमें सूर्योदय से लेकर अगले दिन तक चारों आहार का त्याग किया जाता है अथवा तिविहार उपवास भी किया जा सकता है, जिसमें दिवस में गर्म या अचित्त पानी पिया जा सकता है।

(९) **दिवस चरिम**– शाम के भोजन के बाद अवशेष चौथे प्रहर में चारों आहार का त्याग किया जाता है, उसे दिवस चरिम प्रत्याख्यान कहते हैं। यह प्रत्याख्यान सूर्यास्त के पूर्व कभी भी किया जा सकता है। यह प्रत्याख्यान हमेशा किया जा सकता है अर्थात् आहार के दिन या आयंबिल, निवी एवं तिविहार उपवास में भी यह दिवस चरिम प्रत्याख्यान किया जा सकता है। इसमें सूर्यास्त तक का अवशेष समय एवं पूर्ण रात्रि का काल निश्चत होता है। अतः यह भी अद्धा (समय मर्यादा वाला) प्रत्याख्यान है। इसलिये इस प्रत्याख्यान में **सर्व समाधि प्रत्ययिक** आगार कहा गया है।

(१०) **अभिग्रह**– आगम निर्दिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव संबंधी विशिष्ट नियम अभिग्रह करना और अभिग्रह सफल नहीं होने पर निर्धारित तपस्या करना। यह अभिग्रह मन में धारण किया जाता है, प्रकट नहीं किया जाता है। समय पूर्ण हो ज़ाने के बाद आवश्यक हो तो कहा जा सकता है।

इन दस प्रत्याख्यानों में से कोई भी प्रत्याख्यान करने से छट्ठा प्रत्याख्यान आवश्यक पूर्ण होता है।

दस प्रत्याख्यानों में आये १५ आगारों का अर्थ :-

(१) **अनाभोग**– प्रत्याख्यान की विस्मृति से, अशनादि चखना या ख़ाना पीना हो जाय तो उसका आगार।

(२) **सहसाकार**–वृष्टि होने से, दही आदि मंथन करते, गायादि दुहते, मुँह में छींटा चले जाय तो उसका आगार।

(३) **प्रच्छन्नकाल**–सघन बादल आदि के कारण पोरिसी आदि का बराबर निर्णय न होने से, समय मर्यादा में भूल हो जाय, उसका आगार।

(४) **दिशामोह**– दिशा भ्रम होने पर पोरिसी आदि का बराबर निर्णय न होने से समय मर्यादा में भूल हो जाय, उसका आगार।

(५) **साधु वचन**–पोरिसी आदि का समय पूर्ण हो गया, इस प्रकार साधु(सभ्य प्रामाणिक पुरुष) के कहने से भी कदाचित् उसकी गलती से समय मर्यादा में भूल हो जाय तो आगार ।

(६) **सर्वसमाधि प्रत्ययागार**– संपूर्ण समाधि भंग हो जाय अर्थात् आकस्मिक रोगातंक (सीरियस अवस्था) हो जाय, तो उसका आगार।

(७) **महत्तरागार**– गुरु आदि की आज्ञा का आगार ।

(८) **सागारिकागार**– गृहस्थ के आ जाने पर साधु को स्थान परिवर्तन करने का आगार(एकाशन आदि में)।

(९) **आकुंचन प्रसारण**– हाथ-पैर आदि के फैलाने का अथवा संकुचित करने का आगार ।

(१०) **गुर्वभ्युत्थान**– गुरु आदि के विनय अथवा जरूरी सेवा कार्य के लिये उठने, खड़े होने का आगार ।

(११) **पारिष्ठापनिकागार**– साधु समुदाय में बढ़ा हुआ आहार परठना पड़ता हो तो उसे खाने का आगार । [***विवेक रखते हुए कभी गोचरी में आहार अधिक आ जाय। खाने के बाद भी शेष रह जाय तो गृहस्थ आदि को देना या रात्रि में रखना संयम विधि नहीं है । अतः वह आहार परठने योग्य होता है । उसे खाने का अनेक प्रत्याख्यानों में साधु के आगार रहता है । गृहस्थ के यह आगार नहीं होता है***]

(१२) **लेपालेप**–शाक, घृत, आदि से लिप्त बर्तन को पोंछ कर कोई रुक्ष आहार बहरावे, उसका लेप लग जाय तो आगार ।

(१३) **उत्क्षिप्त विवेक**– दाता पहले से रखे हुए सुखे गुड़ आदि को उठाकर रूक्ष पदार्थ दे तो लेने का आगार ।

(१४) **गृहस्थ संसृष्ट**–दाता के हाथ, अंगुली आदि के लगे हुए गुड़ घृत आदि का लेप मात्र रुक्ष आहार में लग जाय उसका आगार ।

(१५) **प्रतीत्यम्रक्षित**– किन्हीं कारणों से या रिवाज से किंचित् अंश मात्र विगय लगाया गया हो तो उसका आगार। यथा–गीले आटे पर घी चोपड़ा जाता है। पापड़ करते समय तेल चोपड़ा जाता है। दूध या दही के बर्तन धोया हुआ धोवण पानी इत्यादि इन पदार्थों का निवी में आगार होता है ।

प्रत्येक प्रत्याख्यान में आगार :-

तप नाम	आगार संख्या	आगार क्रमांक
१. नवकारसी में	२	पहला,दूसरा
२. पोरिसी में	६	१,२,३,४,५,६
३. पूर्वार्द्ध (पुरिमड्ढ)में	७	१,२,३,४,५,६,७
४. एकासन में	८	१,२,६,७,८,९,१०,११
५. एकलठाणा में	७	१,२,६,७,८,१०,११
६. निवी में	९	१,२,६,७,११,१२,१३,१४,१५
७. आयंबिल में	८	१,२,६,७,११,१२,१३,१४
८. उपवास में	५	१,२,६,७,११,
९. दिवस चरिम में	४	१,२,६,७
१०.अभिग्रह में	४	१,२,६,७

कौन सा आगार किस तप में :-

आगार नाम	तप संख्या में से	तप क्रमांक या विवरण
१. अनाभोग	१० में	सभी में
२. सहसाकार	१० में	सभी में
३. प्रछन्नकाल	२ में	पोरसी में, दो पोरसी में
४. दिशा मोह	२ में	पोरसी में, दो पोरसी में
५. साधु वचन	२ में	पोरसी में, दो पोरसी में
६. सर्वसमाधि प्रत्यागार	९ में	नवकारसी सिवाय सभी में
७. महत्तरागार	८ में	नवकारसी पोरसी में नहीं,शेष में ।
८. सागारिकागार	२ में	एकासणा, एकलठाणा में
९. आकुंचन प्रसारण	१ में	एकासणा में
१०. गुरु अभ्युत्थान	२ में	एकासणा, एकलठाणा में
११. परिष्ठापनिकागार	५ में	४,५,६,७,८नंबर के प्रत्याख्यान में
१२. लेपालेव	२ में	निवी आयंबिल में
१३. उत्क्षिप्त विवेक	२ में	निवी आयंबिल में
१४. गृहस्थ संसृष्ट	२ में	निवी आयंबिल में
१५. प्रतीत्य मृक्षित	१ में	निवी में

विशेष– नवकारसी में सर्व समाधि प्रत्ययिक आगार नहीं होता है, शेष सभी में होता है। परिठावणियागार पाँच में होता है, पाँच में नहीं होता है। १. एकासना २. एकलठाणा ३. निवी ४. आयंबिल ५. उपवास में होता है । महत्तरागार दो में नहीं होता है, नवकारसी और पोरिसी। शेष आठ में होता है। प्रतीत्यम्रक्षित आगार केवल निवी में होता है।लेपालेप, उत्क्षिप्तविवेक, गृहस्थ-संसृष्ट ये तीन आगार आयंबिल, निवी इन दो प्रत्याख्यानों में ही होते हैं। अनाभोग और सहसागार ये दो आगार सभी में होते हैं । प्रछन्न काल, दिशा मोह, साधु वचन ये तीन आगार,पोरसी एवं दो पोरसी, दो पच्चक्खाण में ही होते हैं ।आकुंचन प्रसारण आगार एकासन में ही होता है।

निबंध-२

समभाव-क्षमाभाव चिंतन : १५ दोहे

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई ॥आव.४॥

चौथा आवश्यक का यह अंतिम पाठ है । पाँचवें आवश्यक के कायोत्सर्ग में इसका चिंतन करना चाहिये ।

व्रत शुद्धि रूप प्रतिक्रमण के साथ-साथ हृदय की पवित्रता, विशालता एवं समभावों की वृद्धि हेतु क्षमापना भाव की भी आत्म उन्नति में परम आवश्यकता है। अतः प्रतिक्रमण अध्याय क समस्त सूत्रों के बाद यह क्षमापना सूत्र दिया गया है। इस सूत्र का कायोत्सर्ग मुद्रा में चिंतन मनन करके आत्मा को विशेष विशुद्ध-कषाय मुक्त बनाया जा सकता है ।

आत्मा को विशुद्ध बनाने के लिये पूर्ण सरलता और शांति के साथ, समस्त प्राणियों के अपराधों को उदार चिंतन के साथ, क्षमा करके अपने मस्तिक को उनके प्रति परम शांत और पवित्र बना लेना चाहिये।

अहंभाव, घमंड़ को मन से दूर हटा कर, अपनी यत्किंचित्

भूलों का स्मरण कर, स्वीकार कर, उससे संबंधित आत्मा के साथ लघुता पूर्वक क्षमा याचना कर, उसके हृदय को शांत करने का अपना उपक्रम-प्रयत्न कर लेना चाहिये ।

अपनी मनोदशा ऐसी बन जानी चाहिये कि जगत के समस्त प्राणियों के साथ मेरी मैत्री ही है, किसी के भी साथ अमैत्री या वैर विरोध भाव नहीं है। जो भी कोई वैर भाव क्षणिक बन गया हो तो उसे हटा कर भुला देना चाहिये एवं समभाव द्वारा मैत्री भाव, तटस्थ भाव मानस में स्थापित कर देना चाहिये। किसी के प्रति किसी भी प्रकार का नाराजी का भाव नहीं रखना चाहिये । अभीचिकुमार के जीवन वर्णन से योग्य शिक्षा ग्रहण कर अपने को सभी के प्रति पूर्ण समाधानमय मानस बना लेना चाहिये ।

[भगवतीसूत्र शतक-१३ अनुसार भगवान महावीर का श्रावक अभीचिकुमार ने श्रावक व्रतों की पूर्ण आराधना और १५ दिन का संथारा किया था किंतु भगवान के पास दीक्षा लेकर मोक्ष गये अपने पिता के प्रति नाराजी भावों का समाधान नहीं किया था, जिससे वह संथारे में काल करके भी आतापा नामक असुरकुमार में उत्पन्न हुआ अर्थात् मिथ्यात्व में आयुष्य बांधा और विराधक गति को प्राप्त हुआ । इस दृष्टांत के मर्म को समझ कर पूर्ण लक्ष्य के साथ आत्म शुद्धि कर लेनी चाहयि]

समभाव क्षमाभाव चिंतन के कुछ दोहे :-

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणई ॥१॥

क्षमा बडन को चाहिए, छोटन को उत्पात ।
कहा कृष्ण को थई गयो, भृगु जी मारी लात ॥२॥

जैसी जापे वस्तु है, वैसी दे दिखलाय ।
वांका बुरा न मानिए, वो लेन कहाँ पर जाय ॥३॥

बांध्या बिन भुगते नहीं, बिन भुगत्या न छुडाय ।
आप ही करता भोगता, आप ही दूर कराय ॥४॥

बांध्या सो ही भोगवे, कर्म शुभाशुभ भाव ।
फल निर्जरा होत है, यह समाधि चित चाव ॥५॥

जो जो पुद्‌गल फरसना, निश्चय फरसे सोय ।
ममता समता भाव से, कर्म बंध क्षय होय ॥६॥

राई मात्र घट-वध नहीं, देख्या केवल ज्ञान ।
यह निश्चय कर जानिए, तजिए आर्तध्यान ॥७॥

सुख दुःख दोनों बसत है, ज्ञानी के घट माँय ।
गिरि सर दीसे मुकुर में, भार भींजवो नाँय ॥८॥

निज आतम को दमन कर, पर आतम मत चीन ।
परमातम को भजन कर, सो ही मत परवीन ॥९॥

पर स्वभाव को मोडा चाहता, अपना ठसा जमाता है ।
यह न हुई न होने की, तूँ नाहक जान जलाता है ॥१०॥

गई वस्तु सोचे नहीं, आगम वाँछा नाँय ।
वर्तमान वर्ते सदा, सो ज्ञानी जग माँय ॥११॥

अवगुण उर धरिए नहीं, जो हो वक्ष बबूल ।
गुण लीजे कालू कहे, नहीं छाया में सूल ॥१२॥

ईष्ट मिले आशा मिले, मिले खान अरु पान ।
एक प्रकृति ना मिले, इसकी खेंचातान ॥१३॥

गाली सह्या गुण घणा, देने से लगता दोष ।
देने से मिलती दुर्गति, सहने से मिलता मोक्ष ॥१४॥

परालब्ध पहले बना, पीछे बिना शरीर ।
यह अचंभा हो रहा, मन नहीं धरता धीर ॥१५॥

निबंध-३

नमिराजर्षि और शक्रेन्द्र के १० प्रश्नोत्तर

सती मदनरेखा(मयणरेहा)के पुत्र नमिकुमार संयम स्वीकार करने के लिये तैयार हुए थे। तब उनके वैराग्य की परीक्षा ब्राह्मण का रूप धारण कर स्वयं शक्रेन्द्र ने की थी। नमि राजर्षि ने इन्द्र को यथार्थ उत्तर देकर संतुष्ट किया। दोनों का संवाद उत्तराध्ययन सूत्र के नौंवे अध्ययन में १० प्रश्नोत्तरों के रूप में है। दीक्षा स्थल पर दीक्षा पच्चक्खाण के पूर्व ये प्रश्न किये गये थे, यथा-

प्रश्न–१ मिथिलानगरी में कोलाहल क्यों हो रहा है ?

उत्तर– नगरी के लोग अपने स्वार्थ एवं मोह के कारण रोते हैं । उसी का वह कोलाहल हो रहा है ।

प्रश्न–२ जलते हुए अंतःपुर की तरफ क्यों नहीं देखते हो ?

उत्तर– जहाँ मेरा (मेरी आत्मा का) कुछ नहीं है वहाँ भवनों के जलने से मेरी आत्मा का कोई नुकशान नहीं है।

प्रश्न–३ नगर को सुरक्षित अजेय बनाकर फिर दीक्षा लेना ?

उत्तर– श्रद्धा, तप, संयम आदि से आत्मा को कर्मशत्रुओं से अजेय बनाया जा सकेगा। नगरी की अजेयता तो स्थाई रहने वाली नहीं है।

प्रश्न–४ जलमहल आदि निर्माण कराकर, नगरी की शोभा बढा कर फिर दीक्षा लेना ?

उत्तर– महल एवं घर, संसार भ्रमण के बीच नहीं बनाकर, शाश्वत घर मोक्षस्थान को प्राप्त करना ही आत्मा के लिये श्रेयस्कर है।

प्रश्न–५ चोर ड़ाकुओं से नगर की रक्षा कर फिर दीक्षित होना ?

उत्तर– राजनीति में अन्याय-न्याय सब कुछ संभव हो जाता है, चोर ड़ाकु में झूठे बच जाते हैं, सच्चे दंड़ित हो जाते हैं। ऐसी यह राजनीति दोषयुक्त है अतः त्याज्य है ।

प्रश्न–६ उद्दंड़ राजाओं को वश में करके, जीत करके फिर दीक्षित होना ?

उत्तर– राजाओं को वश में करने की अपेक्षा एक आत्मा को ही वश में करना श्रेष्ठ है। युद्ध भी आत्म दुर्गुणों के साथ ही करना चाहिये । बाह्य संग्राम से कोई लाभ आत्मा को नहीं होता है। आत्म-विजय से ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न–७ यज्ञ, दान, ब्राह्मण भोजन करवा कर तथा उन्हें दक्षिणा आदि देकर फिर दीक्षा लेना ?

उत्तर– प्रति मास १० लाख गायों के दान की अपेक्षा कुछ दान नहीं करते हुए संयम साधना करना श्रेष्ठ है ।

प्रश्न–८ घोर गृहस्थाश्रम है अर्थात् गृहस्थ जीवन चलाना अत्यंत कठिन है, उससे पलायन नहीं करना चाहिये । अन्य सरल जीवन की

अर्थात् संयम की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये ।उसी में रहकर व्रताराधन करना चाहिये ?

उत्तर– घोर या कठिन जीवन, निर्वाण या मोक्ष का एकांत हेतु नहीं है किंतु ज्ञान और विवेक के साथ संयम आचरण ही मुक्ति का सही हेतु है ।

प्रश्न–९ सोने चांदी से भंड़ार भराकर फिर दीक्षित होना ?

उत्तर– सोने चांदी के पहाड़ खड़े कर देने पर भी संतोष एवं त्याग के बिना इच्छाएँ पूर्ण होने वाली नहीं है। अतः इच्छाएँ छोड़कर संयमाचरण करना श्रेष्ठ है ।

प्रश्न–१० वर्तमान प्राप्त सुखों को छोड़कर भावी सुखों की कामना करना योग्य नहीं है। नहीं मिलने पर पश्चात्ताप होगा ?

उत्तर– आगामी भोगों की चाहना से संयम साधना नहीं की जाती है। क्यों कि भोगों की चाहना मात्र भी दुर्गति दायक होती है। अतः मोक्ष हेतु संयम साधना करने में पश्चात्ताप या संकल्प विकल्प म दुःखी होने की बात ही नहीं है ।

निबंध–४

बहुश्रुत का महात्म्य एवं १६ उपमाएँ

उत्तराध्ययन सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन में बताया गया है कि बहुश्रुत ज्ञानी मुनि संघ में अपने श्रुतज्ञान से अत्यधिक शोभायमान होते है । वहाँ उनके लिये कही गई विभिन्न उपमाएँ इस प्रकार है–

(१) बहुश्रुत भिक्षु शंख में रखे गये दूध के समान शोभायमान होते हैं।

(२) उत्तम जाति के अश्व के समान मुनियों में वे श्रेष्ठ होते हैं ।

(३) पराक्रमी योद्धा के समान वे अजेय होते हैं ।

(४) हथनियों से घिरे हुए बलवान हाथी के समान अपराजित होते हैं ।

(५) तीक्ष्ण सींग एवं पुष्ट स्कंध वाले बैल के अपने यूथ में सुशोभित होने के समान वे साधु समुदाय में अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और ज्ञान से पुष्ट होकर सुशोभित होते हैं ।

(६) उसी प्रकार पशुओं में सिंह के समान वे निर्भय होते हैं ।

(७) अबाधित बल में वासुदेव के समान होते हैं।
(८) राजेश्वर्य में चक्रवर्ती के समान वे श्रमणों में ऐश्वर्यशाली होते हैं।
(९) देवताओं में शक्रेन्द्र के समान प्रधान होते हैं।
(१०) अज्ञानांधकार नाश करने में सूर्य के समान तेजस्वी होते हैं।
(११) ताराओं में प्रधान परिपूर्ण चन्द्र के समान सौम्य एवं उद्योतकर होते हैं।
(१२) परिपूर्ण कोठारों के समान ज्ञान निधि से संपन्न होते हैं।
(१३) जम्बू सुदर्शन वृक्ष के समान श्रेष्ठ होते हैं।
(१४) नदियों में सीता नदी(सबसे विशाल नदी) के समान विशाल।
(१५) पर्वत में ऊँचे मंदर मेरु पर्वत के समान।
(१६) समुद्रों में स्वयंभूरमण समुद्र के समान वे बहुश्रुत विशाल एवं गंभीर होते हैं।

ऐसे श्रेष्ठ गुण एवं उपमाओं से संपन्न बहुश्रुत भगवान संघ में श्रुत प्रदानकर्ता, शंका-समाधान कर्ता एवं चर्चा वार्ता में सर्वत्र अजेय होते हैं। अतः मोक्ष के इच्छुक संयम पथिक प्रत्येक साधक को संयम लेकर प्रारंभ से ही लक्ष्य रखकर आगम अनुसार यथाक्रम से श्रुत अध्ययन करने में पुरुषार्थशील होना चाहिये ताकि यथासमय श्रुतज्ञान संपन्न शुश्रुत एवं उक्त उपामाओं संपन्न बन सके। विशेष में प्राप्त श्रुत से "अहं का पोषण" आदि दुरुपयोग कभी भी नहीं करके स्व-पर की कल्याण साधना करनी चाहिये तथा जिन शासन की प्रभावना में अपनी ज्ञान शकित का सदुपयोग करना चाहिये।

निबंध-५

चतुर्विध मोक्षमार्ग

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप चतुर्विधि धर्म से संयुक्त यह मोक्ष मार्ग है। इन चारों की युगपत् आराधना करना ही मोक्ष प्राप्ति का राजमार्ग है। उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन में इन चारों का विश्लेषण किया गया है। इसलिये अध्ययन का नाम भी मोक्षमार्ग रखा गया है।

सम्यग्ज्ञान :– इस अध्ययन में मति आदि ज्ञान के ५ भेद गिनाये हैं। द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप बताया है। गुणों का आश्रय–आधार वह द्रव्य है। एक द्रव्य के आश्रय में अनेक गुण रहते हैं और पर्यायें, द्रव्य–गुण दोनों के आश्रय से रहती है। ६ द्रव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया है जिसमें जीव-अजीव का लक्षण स्पष्ट किया गया है। जीव का लक्षण भी दो अपेक्षाओं से कहा है– (१) सामान्य जीव उपयोग लक्षण वाला, ज्ञान–दर्शन गुण वाला, सुख-दुःख का अनुभव करने वाला है। (२) अपेक्षा से ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये गुण भी संसारी जीव की अपेक्षा होते हैं।

अजीव का लक्षण :– शब्द, अंधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप और वर्णादि ये पुद्गल **द्रव्य** के लक्षण है। मिलना, बिछुड़ना, संख्या वृद्धि–हानि, संस्थान, संयोग, विभाग ये **पर्यव–पर्याय** के लक्षण है।

सम्यग्दर्शन :–जीवादि नव पदार्थों को जान कर उनकी यथार्थ श्रद्धा करना, यही समकित है। यह समकित भी जीव को १० प्रकार से प्राप्त होती है– (१) स्वभाविक खुद के ज्ञान चिंतन से (२) उपदेश–प्रेरणा–समझाइस से (३) बड़े बुजुर्गों की आज्ञा से कि यह अपना धर्म है अथवा ज्ञानियों की आज्ञा समझ कर स्वीकारना (४) शास्त्र के अभ्यास से (५) बीज रुचि–थोड़े ज्ञान से एवं उसका विस्तार होने से (६) श्रुत का निरंतर पूर्ण अध्ययन से (७) सर्व द्रव्य, सर्व दृष्टि, सर्व नय, निक्षेप, प्रमाणचर्चा सहित विस्तार रुचि से होने वाली समकित (८) क्रिया– आचार पालन से सामायिक आदि व्रत–नियम, त्याग, प्रत्याख्यान करते करते श्रद्धा होना। (९) संक्षेप में अपना धर्म समझ कर श्रद्धा रखना, ज्ञानचर्चा का उपयोग नहीं लगाना (१०) अस्तिकाय धर्म अर्थात् षट द्रव्य, श्रुतधर्म और चारित्र धर्म वगैरह जिनशासन में अनुपम तत्त्व है ऐसा समझकर श्रद्धा करना अर्थात् ऐसा धर्म अन्यत्र संभव नहीं है ऐसा मान कर अहोभाव युक्त श्रद्धा करना।

समकित महत्त्व– परमार्थ परिचय आदि समकित की पुष्टि के चार प्रकार है। समकित के बिना अकेला चारित्र हो नहीं सकता। दोनों साथ में हो सकते हैं। अकेली समकित, बिना चारित्र के एक दो भव तक रह सकती है ज्यादा नहीं रहती, मिथ्यात्व में परिणत हो जाती

है । अत: समकित लाभ के बाद व्रतधारण भी आत्म विकास में आवश्यक है ।

समकित के आठ अंग– (१) निशंकित रहना (२) आकांक्षाओं से हित होना (३) धर्म फल में संदेह रहित रहना (४) ज्ञान वृद्धि करना (५) सुसंगति से श्रद्धा पुष्ट करना (६) स्वयं स्थिर-दृढ़ होना, दूसरों को भी स्थिर करना (७) धर्म का प्रेम बढ़ाना (८) धर्म की दलाली प्रेरणा प्रभावना प्रचार करना ।

सम्यग् चारित्र-तप :– सामायिक आदि ५ चारित्र कहे है, जिसमें छद्मस्थ और केवली दोनों के चारित्र हैं। **चयरित्त करं**–कर्मों के संग्रह को कम करने वाले चारित्र कहे जाते हैं। तप, बाह्य आभ्यंतर दो प्रकार का होता है। चारित्र और तप का विस्तार भगवती आदि सूत्रों में है। उपवास आदि बाह्यतप एवं स्वाध्याय आदि आभ्यंतर तप में यथाशक्ति यथावसर क्रमशः वृद्धि करते रहने का प्रयत्न करना, शरीर के ममत्व को दूर कर कर्म क्षय करने में संपूर्ण आत्मशक्ति को झोंक देना, **"देहं पातयामि कार्यं साधयामि"** अथवा **"देह दुक्खं महाफलं"** के आगमिक सिद्धांत को आत्मशात कर देना **'तपाराधना'** है। तप में भी ध्यान के बाद अंतिम तप **व्युत्सर्ग** है इसमें मन, वचन, काया, कषाय, गण समूह आदि का एवं शरीर के ममत्व का तथा आहारादि का व्युत्सर्जन (त्याग) किया जाता है ।

संक्षिप्त सार :– ज्ञान से तत्त्वों को, आश्रव-संवर को जानना । दर्शन से उनके विषय में यथावत् श्रद्धान करना । चारित्र से नये कर्म बंध को रोकना और तप से पूर्व कर्मों का क्षय करना, इस प्रकार चारों के सुमेल से ही मोक्ष की परिपूर्ण साधना होती है। यही इस अध्ययन का उद्घोष है । किसी भी एक के अभाव में साधना की सफलता सम्भव नहीं है। महर्षि कर्मक्षय करने के लिये चतुर्विध मोक्ष मार्ग म पराक्रम करते हैं ।

निबंध-६

बारह प्रकार के तप का संक्षिप्त स्वरुप

(१) नवकारसी, पोरिसी, आयंबिल, उपवास से लेकर ६ मास तक का

तप एवं अन्य अनेक श्रेणी, प्रतर तप **इत्वरिक=अल्पकाल का अनशन** तप है। आजीवन संथारा करना भी शरीर के बाह्य परिकर्म युक्त और परिकर्म रहित दोनों प्रकार का होता है, वह **यावत्कथित =आजीवन अनशन तप** है ।

(२) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय के भेद से ऊणोदरी तप पाँच प्रकार का है। भूख से कम खाना, **द्रव्य उणोदरी** है। शेष चार भेद अभिग्रह संबंधी है ।

(३) पेटी, अर्धपेटी आदि आगमोक्त आठ प्रकार की गोचरी या सात प्रकार की पिंड़ेषणा(आचारांग में) या अन्य अनेक नियम अभिग्रह में से कोई भी अभिग्रह करके भिक्षा के लिये जाना **भिक्षाचर्या तप** है। अभिग्रह बिना सामान्य गोचरी करना तप नहीं किन्तु एषणा समिति रूप चारित्र है ।

(४) पाँच-विगय में से किसी भी एक या अनेक विगयों का त्याग करना अथवा अनेक मनोज्ञ खाद्यपदार्थों का त्याग करना, **रस परित्याग तप** है ।

(५) वीरासन आदि अनेक कठिन आसन करना, रात्रि भर एक आसन करना, लोच करना, परीषह आदि सहन करना, ये सब **कायक्लेश तप** है।

(६) अरण्य, वृक्ष, पर्वत, गुफा, स्मशान, झोंपड़ी आदि एकान्त स्थान में आत्मलीन होकर रहना अथवा कषाय, योग, इन्द्रियों के प्रवर्तन का परित्याग करना, **प्रतिसंलीनता तप** है।

(७) दस प्रकार के प्रायश्चित्त में यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार करना, **प्रायश्चित्त तप** है।

(८) गुरु या वडील के आने पर खड़े होना, आसन निमंत्रण करना, हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाना आदि गुरु भक्ति और भाव सुश्रुषा करना **विनय तप** है।

(९) आचार्य, स्थविर, रुग्ण साधु या नवदीक्षित आदि दस की यथाशक्ति सेवा करना **वैयावृत्य तप** है।

(१०) नये नये श्रुत के मूल एवं अर्थ की वाचना लेना, कंठस्थ करना;

शंकाओं को पूछकर समाधान करना; श्रुत का परावर्तन करना; अनुप्रेक्षा करना; धर्मोपदेश देना, **स्वाध्याय तप** है।

(११) आत्म स्वरूप का, एकत्व, अन्यत्व, अशरण भावना आदि का, लोक स्वरूप का एकाग्र चित्त से आत्मानुलक्षी सूक्ष्म-सूक्ष्मतर चिंतन करते हुए उसमें तल्लीन हो जाना ध्यान तप है। प्रथम अवस्था **धर्म ध्यान** है और उससे आगे की अत्यंत सूक्ष्म तत्त्व चिंतन अवस्था **शुक्लध्यान** है ।

(१२) व्युत्सर्ग- मन,वचन,काया के व्यापारों का निर्धारित समय के लिये पूर्ण रूप से परित्याग कर देना, **योग-व्युत्सर्ग** है। इसे प्रचलन की भाषा में **कायोत्सर्ग** कहा जाता है । इसी तरह कषायों का, कर्मों का, समूह-गण का व्युत्सर्जन कर एकाकी रहना, ये **व्युत्सर्जन तप** के द्रव्य एवं भाव भेदों के प्रकार हैं।

इन ६ बाह्य और ६ आभ्यंतर तपों का यथाशक्ति जो मुनि सम्यक् आराधना करता है एवं इनमें उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए आगे बढ़ता है, वह शीघ्र ही कर्मों की महान निर्जरा करते हुए संसार से मुक्त हो जाता है।

निबंध-७

६ लेश्याओं के लक्षण से अपने को पहिचानो

कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्या अशुभ है और तेजो, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्या शुभ है। अथवा तीन अधर्म लेश्याएँ हैं वे जीव को दुर्गति में ले जाने वाली है और तीन धर्म लेश्याएँ हैं वे जीव को सद्गति में ले जाने वाली है।

लेश्याएँ द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की होती है। भावलेश्या तो आत्मा के परिणाम अर्थात् अध्यवसाय रूप है, जो अरूपी है । द्रव्यलेश्या पुद्गलमय होने से रूपी है उसके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, परिणाम, स्थान, स्थिति आदि का उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-३४में वर्णन किया गया है तथा भावलेश्या की अपेक्षा-लक्षण, गति, आयुबंध का वर्णन किया गया है।

(१) **कृष्ण लेश्या का लक्षण**– पाँच आश्रवों में प्रवृत्त, अगुप्त, अविरत, तीव्र भावों से आरंभ में प्रवृत्त, निर्दय, क्रूर, अजितेन्द्रिय, ऐसे अपने परिणाम हों तो **कृष्ण लेश्या** समझना चाहिये।

(२) **नील लेश्या का लक्षण**– ईर्ष्यालु, कदाग्रही, अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, गृद्ध, धूर्त, प्रमादी, रसलोलुप, सुखैशी, अविरत, क्षूद्र स्वभावी, ऐसे अपने परिणाम हों तो **नील लेश्या** समझना चाहिये।

(३) **कापोत लेश्या का लक्षण**– वक्र, वक्राचरण वाला, कपटी, सरलता से रहित, दोषों को छिपाने वाला, मिथ्यादृष्टि, अनार्य, हंसोड़, दुष्टवादी, चोर, मत्सर–भाव वाला, ऐसे अपने परिणाम हों तो **कापोत लेश्या** समझना चाहिये।

(४) **तेजो लेश्या का लक्षण**– नम्रवृत्ति, अचपल, माया रहित, कुतूहल रहित, विनय, दमितात्मा, समाधिवान, प्रियधर्मी, दृढ़धर्मी, ऐसे अपने परिणाम हों तो **तेजोलेश्या** समझना चाहिये।

(५) **पद्म लेश्या का लक्षण**– क्रोध,मान,माया,लोभ अत्यंत अल्प हों, प्रशांत चित्त, दमितात्मा, तपस्वी, अत्यल्प भाषी, उपशांत, जितेन्द्रिय, ऐसे अपने परिणाम हों तो **पद्म लेश्या** समझना चाहिये।

(६) **शुक्ल लेश्या का लक्षण**– आर्तरौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म और शुक्लध्यान में लीन, प्रशांत चित्त, दमितात्मा, समितिवंत, गुप्तिवंत, उपशांत, जितेन्द्रिय, इन गुणों से युक्त, सराग हों या वीतराग, ऐसे अपने परिणाम हों तो **शुक्ल लेश्या** समझना चाहिये।

इन परिणामों की अवस्थाओं का अनुशीलन कर तीन शुभ लेश्या के परिणामों में रहने का प्रयत्न करना चाहिये और ३ अशुभ लेश्याओं के परिणामों से यथाशक्य दूर रहना चाहिये । अशुभ लेश्या में अशुभ कर्म और अशुभ आयुष्य का बंध होता है तथा अशुभ लेश्या के परिणामों में संयम भाव ज्यादा समय टिकता नहीं है वह असंयम में परिणत हो जाता है । इसलिये तीन शुभ लेश्याओं का साधक जीवन में अत्यधिक महत्त्व है ।

संयम के मूलगुण या उत्तर गुण में दोष लगाने वाला साधक तीन अशुभ लेश्याओं के लक्षण में विद्यमान हो तो उसका संयम नष्ट हो जाता है वह तत्काल असंयम में चला जाता है।

निर्दोष संयम का पालन करने वाले साधकों को ६हों लेश्या में संयम रह सकता है । अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, विशिष्ट लब्धि आदि की उत्पत्ति तीन शुभ लेश्याओं में ही होती है । वैमानिक देवों में उत्पन्न होने वाले तिर्यंच मनुष्यों के शुभ लेश्या होती है, अशुभ लेश्याओं में मरने वाला वैमानिक देवों में नहीं जाता है । सातवाँ गुणस्थान भी तीन शुभ लेश्याओं में ही होता है । अतः प्रत्येक साधक को ये उपरोक्त लेश्याओं के लक्षणों को सही रूप में समझ कर अनुभव में ले लेना चाहिये ।

निबंध–८

भगवान महावीर स्वामी की संयम साधना

आचारांग सूत्र के नौवें अध्ययन का नाम 'उपधान श्रुत' है । इसमें भगवान महावीर स्वामी के छद्मस्थ अवस्था के संयम पर्याय में आचरित विविध साधनाओं एवं तप–उपसर्ग आदि का किंचित् संकलन और दिग्दर्शन है । पूरा अध्ययन गाथामय–पद्यमय है । इस अध्ययन में ४ उद्देशों में भगवान महावीर स्वामी का संयम जीवन वर्णन इस प्रकार है– **प्रथम उद्देशक में**– संयम ग्रहण के पूर्व का आचरण, संयम ग्रहण के बाद की साधनाएँ, साधना और धर्म संबंधी सिद्धांत, समिति गुप्ति के पालन की विधियाँ एवं देवदूष्य वस्त्र ग्रहण करने का और उसके व्युत्सर्जन–छोडने का वर्णन है ।

दूसरे उद्देशक में– संयम के विचरणकाल में निवास करने के मकानों–शय्याओं का, उनमें होने वाले कष्ट उपसर्गों का और भगवान की सहनशीलता का वर्णन है ।

तीसरे उद्देशक में– अनार्य क्षेत्र में विचरण का, अनार्य लोगों द्वारा दिये जाने वाले घोर रोमांचकारी उपसर्गों का और भगवान की शूरवीरता का वर्णन है ।

चौथे उद्देशक में– भगवान की अनशन, ऊणोदरी, रस परित्याग आदि तपस्याओं का, गोचरी की गवेषणा विधियों का, ध्यान करने का और अप्रमाद का अर्थात् प्रमाद (दोष सेवन) नहीं करने का वर्णन है ।

प्रश्न–३ : श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने दीक्षा कब और किस तरह ली थी ?

उत्तर– भगवान ने हेमंतऋतु के प्रारंभ में प्रव्रज्या ग्रहण करके विचरण किया था ।– **हेमंते, अहुणा पव्वइए रीयत्था ॥१॥**

भगवान ने निष्क्रमण के पहले कुछ अधिक दो वर्ष सचित्त पानी पीने का त्याग कर दिया था, एकत्ववास में रहे अर्थात् स्त्रीसंग का त्याग किया था, शरीर की सार संभाल बंध कर दी थी अर्थात् स्नान, मंजन आदि और शरीर संस्कार, विभूषा आदि का भी दो वर्ष साधिक त्याग किया था । यह प्रथम उद्देशक की ग्यारहवीं गाथा में वर्णित है । इसी सूत्र में आगे २४ वें भावना अध्ययन में भगवान की दीक्षा विधि का तथा अन्य भी बहुत वर्णन विस्तार से है ।

प्रश्न–४ : तीर्थंकर वस्त्र रखते हैं ? उसको उपयोग में लेते हैं ?

उत्तर– तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण करते समय इन्द्र द्वारा प्रदत्त एक देवदूष्य नामक वस्त्र ग्रहण करते हैं, रखते हैं । तीर्थंकरों का यह परम्परानुगत धर्म अथवा आचारकल्प होता है कि वे उस इन्द्रप्रदत्त वस्त्र को रखते हैं किंतु उसका उपयोग नहीं करते ।श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने उस वस्त्र को एक वर्ष और एक महीने तक रखा था । फिर उसको वोसिरा दिया था, पूर्णतया छोड दिया था । उसे छोडने के बाद प्रभु अचेल रहे थे ।

यहाँ पर यह विशेष विचारणीय है कि भगवान के जीवन वर्णन में देवदूष्य के अतिरिक्त किसी भी उपकरण की चर्चा नहीं है । मुख वस्त्रिका और रजोहरण ये दोनों संयम जीवन के उपयोगी एवं अत्यंत आवश्यक उपकरण हैं । सभी गच्छत्यागी, वस्त्रत्यागी अचेल साधक भी जिनशासन में रहते हुए ये दो उपकरण अवश्य रखते हैं । भगवान के विषय में आगम वर्णनों में मुखवस्त्रिका, रजोहरण रखने का वर्णन भी नहीं है और नहीं रखने रूप स्पष्ट निषेध भी कहीं नहीं है । इन दोनों उपकरणों के बिना भाषासमिति और ईर्यासमिति का सम्यक् पालन होना संभव नहीं है अपितु असंभव जैसा ही है । इस विचारणा के कारण आजकल के विचारक तीर्थंकरों के मुखवस्त्रिका रजोहरण दो उपकरण होना स्वीकार करने की प्रचारपत्रों से चर्चा करते हैं ।तीर्थंकर को स्वलिंग

सिद्ध में गिना जाता है और द्रव्य से स्वलिंग कम से कम मुखवस्त्रिका और रजोहरण ही है । उसके बिना स्वलिंग का कोई परिचय नहीं होता है । कुछ भी उपकरण नहीं होना तो अलिंग होता है अथवा पूर्ण अचेल तो अन्य धर्मी भी होते हैं तो उनमें और जैन साधु में स्वलिंग अन्यलिंग का अंतर कुछ नहीं रहता है ।स्वलिंग में उत्कृष्ट एक समय में १०८ सिद्ध हो सकते हैं । उनमें तीर्थंकर भी साथ में हो सकते हैं । भगवान ऋषभदेव स्वामी एक समय में १०८ के साथ निर्वाण प्राप्त हुए थे जिसमें ऐरवत क्षेत्र के तीर्थंकर भी सामिल करके गिने गये है ।

कोई भी साधु केवली हो जाने पर मुखवस्त्रिका और रजोहरण का त्याग नहीं करता है, नहीं कर सकता है । इन दोनों उपकरणों के बिना चल भी नहीं सकता । यथासमय प्रमार्जन नहीं करने वाले को पापश्रमण कहा गया है और खुल्ले मुँह बोलना तो शक्रेंद्र के लिये भी सावद्य भाषा कही गई है। तीर्थंकर संयम जीवन में और केवल ज्ञान पर्याय में अरबों खरबों वर्ष भी प्रवचन प्रश्नोत्तर देते ह उस समय निरंतर मुँह के पास हाथ रखना भी योग्य या उपयुक्त नहीं लगता है । अतः दोनों उपकरणों के होने की नूतन विचारकों की विचारणा खंडन योग्य नहीं अपितु विचारणीयं, अनुप्रेक्षणीय अवश्य है।

सभी तीर्थंकर ग्रहण किये और रखे गये देवदूष्य वस्त्र को एक वर्ष के बाद कभी भी वोसिरा देते ह । भगवान महावीर स्वामी ने एक वर्ष और एक महिना रखने के बाद सर्दी की ऋतु में विहार करते हुए मार्ग में योग्य स्थान में वस्त्र को वोसिरा दिया था, परठ दिया था ।

प्रश्न-५ : भगवान महावीर ने वस्त्र को जंगल में परठ दिया था या किसी ब्राह्मण को दे दिया था ?

उत्तर- आगम के इस वर्णन से स्पष्ट है कि भगवान ने विहार करते रास्ते में एक वर्ष बाद उस वस्त्र को परठ दिया, वोसिरा दिया । किसी को देने के लिये यहाँ कोई शब्द नहीं है । वस्त्र को छोडने का प्रसंग, कथन होते हुए भी देने की बात यहाँ नहीं की गई है । अतः हम आगम आधार से यह नहीं कह सकते, नहीं मान सकते कि भगवान ने वस्त्र फाडकर ब्राह्मण के मांगने पर उसे दिया । कथा विस्तार में कई बातें कथाकार विस्तृत बना देते ह, घड देते हैं, उसे शास्त्र जितना

प्रमाणभूत मानना जरूरी नहीं है । वास्तव में संयम मर्यादा में गृहस्थ को वस्त्रादि दिये नहीं जाते । अनावश्यक हो तो वोसिरा दिये जाते हैं । भगवान ने अपने साधना जीवन काल में कोई भी संयम मर्यादा का भंग नहीं किया था । अतः भगवान ने आधा देवदूष्य वस्त्र ब्राह्मण को फाडकर दे दिया था, ऐसा कथन आगम से विपरीत है, कल्पित मात्र है । इस अध्ययन के मूल पाठ से ऐसा कोई अर्थ निकलता भी नहीं है । अतः ऐसी कथाओं की परंपराएँ ध्यान में आ जाने के बाद छोडनी चाहिये, सुधार लेनी चाहिये ।

प्रश्न-६ : संयम विधियों के पालन में छद्मस्थ काल में भगवान ने क्या ध्यान रखा था ?

उत्तर- (१) भगवान छ काय के जीवों का पूर्ण ध्यान रखते हुए उनकी तनिक भी विराधना न हो, इस तरह प्रत्येक प्रवृत्ति करते थे । (२) एकाग्रचित्त से सामने मर्यादित(पुरुष प्रमाण) भूमि देखते हुए आजु-बाजु नहीं देखते हुए चलते थे । (३) स्त्रियों से संयुक्त स्थान में ठहरने का प्रसंग आ जाय तो भगवान अपने ब्रह्मचर्य व्रत में सावधान रहते थे । (४) गृहस्थ लोगों के साथ बैठकर बातचीत करना आदि अतिसंपर्क का त्याग करके ध्यान में लीन रहते थे । (५) रास्ते चलते कोई अभिवादन करे या कुछ पूछे तो उसका कुछ भी उत्तर दिये बिना भगवान आगे बढ जाते थे । (६) संकल्पजा या असंकल्पजा किसी प्रकार की हिंसा नहीं करते, नहीं करवाते । (७) आधाकर्मी(औद्देशिक) आहार पानी, गृहस्थ का वस्त्र या पात्र ग्रहण नहीं करते और संखडी=बडे जीमणवार में भिक्षार्थ नहीं जाते थे । (८) आँखो की सफाई, शुद्धि भी नहीं करते और शरीर में खाज भी नहीं खुजलाते, निरोग होते हुए भी भगवान सदा भूख से कम ही खाते थे, कोई भी प्रकार की चिकित्सा नहीं लेते थे । (९) स्नान, मालिस, दंतमंजन, शरीर मर्दन, वमन विरेचन क्रिया आदि नहीं करते थे अर्थात् शरीर की शुश्रूषा से भगवान मुक्त रहते थे । (१०) पशु, पक्षी, भिक्षाचरों को अंतराय न पडे, इसका पूर्ण पालन करते हुए ग्रामादि मे प्रवेश कर विशुद्ध भिक्षा ग्रहण करते थे एवं मंद गति से चलते थे।

प्रश्न-७ : श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने १२ वर्ष साधिक

(साडे पाँच महीना)साधना काल में कभी सयन आसन किया था? निद्रा ली थी ?

उत्तर– कथाग्रंथों एवं श्रुतिपरंपरा में ऐसा कहा जाता है कि– "भगवान महावीर स्वामी ने साढे बारह वर्ष में सयनासन नहीं किया था और बिना सोये(प्रचला निद्रा की अपेक्षा भगवान को कुल मिलाकर अनेकों बार की जोड करने पर भी) मुहूर्त भर की निद्रा आई थी किंतु भगवान ने संकल्प पूर्वक सोना या निद्रा लेना नहीं किया था ।"

आचारांग के इस अध्ययन के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि कथाग्रंथों आदि की ऐसी एकांतिक धारणा आगम सापेक्ष नहीं है । अर्थ भ्रम तथा भक्ति, अतिशयोक्ति से चल पडी है । इस अध्ययन के दूसरे उद्देशक की पाँचवीं गाथा में कहा गया है– **णिद्दं पि णो पगामाए सेवइ, भगवं उट्ठाए। जग्गावइ य अप्पाणं, इसिं साई आसि अपडिण्णे ॥५॥ भावार्थ**– भगवान(प्रकाम) अत्यधिक निद्रा का सेवन नहीं करते थे । शीघ्र उठकर(सावधान होकर) आत्मा को जागृत कर लेते थे। लम्बे सोने के आग्रह बिना अर्थात् आवश्यक लगने पर थोडा सो जाते थे, लेट जाते थे । उठने पर भी निद्रा से पूर्ण मुक्ति पाने के लिये भगवान कोईक बार रात्रि में बाहर निकलकर थोडी देर चंक्रमण कर लेते थे अर्थात् भ्रमण कर लेते थे ।**(ऐसा गाथा–६ में कहा गया है)** ।

तात्पर्य यह है कि श्रमण भगवान महावीर साधना काल में अधिकतम द्रव्य से और भाव से जागृत रहते थे, अत्यधिक निद्रा नहीं लेते थे और लम्बे समय के संकल्प से नहीं सोते थे अर्थात् कुछ निद्रा का सेवन भी कर लेते थे और कुछ सो भी जाते थे । किंतु सामान्य मानव स्वभाव के अनुसार पाँच-सात घंटे पूर्ण सोना या निद्रा लेना आदि नहीं करते थे । शरीर स्वभाव से स्वतः कभी निद्रा आ जाती तो शीघ्र जागृत हो जाते एवं कभी विश्राम की आवश्यकता महसूस होती तो थोडा सा सयन भी कर लेते थे । इस प्रकार के स्पष्ट आगम वर्णन के होने से कथा ग्रंथों की अतिशयोक्ति युक्त कथन के आग्रह म नहीं पडना चाहिये ।

प्रश्न–८ : इसी अध्ययन के चौथे उद्देशक में कहा है कि–

भगवान ने छद्मस्थ काल में एक बार भी प्रमाद का सेवन नहीं किया था, इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर– उस पंद्रहवीं गाथा में भावप्रमाद की अपेक्षा कथन है वे भाव-प्रमाद भी उसी गाथा में सूचित किये गये हैं । **अकसाई, विगय गेही, सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई । छउमत्थे वि परक्कममाणे, णो पमायं सइं पि कुव्वित्था ॥१५॥ भावार्थ**– भगवान महावीर स्वामी कषाय रहित होकर, शरीरादि पर गृद्धि भाव से रहित होकर एवं शब्द रूप आदि विषयों में मूर्च्छा चाहना से रहित होकर आत्म ध्यान में रहते थे । इस प्रकार भगवान ने छद्मस्थ काल में संयम तप में पराक्रम करते हुए कभी भी संयम में प्रमाद अर्थात् दोष सेवन नहीं किया था । तप संयम में, नियम उपनियम में या भाव शुद्धि-पवित्रता में कभी किसी भी प्रकार का प्रमाद(दोष सेवन) नहीं किया था ।

इस गाथा में सोने या निद्रा लेने का प्रसंग स्पष्ट है भी नहीं और समझना भी नहीं चाहिये । क्यों कि ऐसा समझने से अर्थ भ्रम का दोष और पूर्वापर विरोध दोष होता है । इस अध्ययन के दूसरे उद्देशक की पाँचवीं-छट्ठी गाथा को नजर में रखते हुए इस चौथे उद्देशक की पंद्रहवी गाथा का ऐसा सही एवं प्रसंग संगत अर्थ करना ही उपयुक्त होता है ।

प्रश्न–९ : भगवान ने साधना काल में क्या-क्या तप किये थे ?

उत्तर– आचारांग सूत्र के इस नौवें अध्ययन के वर्णन अनुसार भगवान महावीर स्वामी ने बाह्य और आभ्यंतर तप इस प्रकार किये थे– (१) आहार की मात्रा(खुराक या भूख) से कम खाना, औषध त्याग । (२) ठंडी एवं गर्मी की आतापना । (३) भात(ओदन), बोरकूटा उडद(के बाकुले) इन तीन खाद्य पदार्थों से आठ महिने तक निर्वाह किया था अर्थात् तीन पदार्थों में से कोई पदार्थ मिले तो लेना, ऐसा अभिग्रह किया था ।(४) साधना काल में भगवान ने कभी अर्ध मासखमण, कभी मासखमण, कभी साधिक दो मास की तपस्या यावत् कभी छः महीने की अनशन तपस्या की थी । ये सभी तपस्या भगवान ने चौविहार की थी अर्थात् गर्म पानी का भी तपस्या में सेवन नहीं किया था ।

(५) अमनोज्ञ, नीरस, उच्छिष्ट ऐसे(अन्न ग्लान) आहार का भी

कभी सेवन करते थे अर्थात् लोगों के खाने के बाद बचा खुचा तथा अन्य श्रमण भिक्षु जिसे लेना भी नहीं चाहे वैसा फेंकने योग्य आहार भी भगवान कभी ग्रहण कर संतोष करते थे अर्थात् वह आहार संयम के किसी नियम से अयोग्य नहीं होता किंतु मन को योग्य नहीं लग सकता और कभी शरीर को भी योग्य नहीं हो सकता, ऐसे आहार का प्रशस्त परिणामों से सेवन करते थे ।[ऐसे उच्च साधकों को अशाता वेदनीय का संयोग न होने से वह अमनोज्ञ आहार भी सही रूप में परिणत हो जाता है ।]

(६) कभी भगवान बेला, तेला, चौला, पंचोला आदि तपस्याएँ करते थे; वे भी केवल कर्म निर्जरा हेतु करते थे ।

(७) कभी संस्कारित, कभी रूखासूखा, कभी **ठंडा आहार** ग्रहण करते थे । कभी पुराने उडद, कभी निस्वादु, कभी निस्सार- पौष्टिक तत्त्व रहित, ऐसे हल्की जाति के पदार्थों का आहार ग्रहण करते थे। यहाँ ठंडे आहार से **टीकाकार श्री शीलांकाचार्यने** 'दो तीन दिन के आहार' को ग्रहण करते थे, ऐसा भी अर्थ किया है। क्षेत्र, काल मौसम की अनुकूलता हो तो खाद्य पदार्थ अनेक दिन भी योग्य (खाने लायक) रह सकते हैं और गृहस्थ लोग विवेक से रखते भी हैं, खाते भी हैं । अतः किसी भी पदार्थ के बिगडने के लिये कोई समय का एकांतिक नियम नहीं कहना चाहिये । देरावासी लोगों ने ऐसे कई एकांतिक नियम खाद्य पदार्थों के लिये कल्पित करके उनका सिद्धांत कायम कर असत्प्ररूपणा ग्रंथों के नाम से शरु करी है, जो आगम वर्णनों की उपेक्षा करने वाली एवं पूर्व महापुरुषों की आशातना कराने वाली है । २२ अभक्ष्य की संख्या भी ऐसे ही अनेक दोषों से मिश्रित है ।

(८) भगवान स्थिर खडे रहकर या बैठकर ध्यान करते थे । जिसमें आत्म चिंतन के अतिरिक्त तत्त्वचिंतन या लोक स्वरूप चिंतन भी करते थे ।

प्रश्न- १० : साधना काल में भगवान ने कौन कौन से परीषह उपसर्ग सहन किये थे ?

उत्तर- (१) संयम ग्रहण करने के अनंतर भगवान ने चार महीना

साधिक अनेक छोटे त्रस प्राणियों द्वारा हुए त्रास को सहन किया । दीक्षा ग्रहण के पूर्व भगवान के शरीर पर लगाये गये सुगंधी द्रव्यों की सुवास के कारण ये जन्तु आकर भगवान के शरीर पर घूमते थे और कोई रुष्ट होकर काट लेते थे। भगवान उन जीवों को हटाने का संकल्प भी नहीं करते थे ।

(२) भगवान वस्त्र रहित(नग्न) रहते थे और चलते समय आँखों को एक क्षेत्र अवग्रह(पुरुष प्रमाण) में स्थिर, एकाग्र रखकर चलते थे । ऐसी चाल और निर्वस्त्रता के कारण कुतूहल प्रकृति के बालक भगवान के पीछे हो जाते या अन्य बालकों को बुला-बुला कर दिखाते कि- अरे ! यह क्या आया है ? भगवान उन बच्चों के कोलाहल को समभाव और अपनी ज्ञान की मस्ती से पार कर लेते थे ।

(३) कई जगह भगवान के ठहरने के बाद वहाँ स्त्रियाँ भी आकर रह जाती और वे कई प्रकार से अनुकूल परीषह रूप प्रवृत्तियाँ भी करती । भगवान बडे विवेक से उनकी उपेक्षा करके आत्म ध्यान में लीन बन जाते थे ।

(४) कभी भगवान अपने ध्यान मौन के कारण किसी के अभिवादन (विनय-अनुनय)को स्वीकार नहीं करते थे । तब कोई पुण्यहीन लोग गुस्से में आकर भगवान को मारपीट(डंडों से) भी कर देते थे और लहुलुहाण भी कर देते थे ।

(५) दुस्सह कष्ट होने पर भी उन्हें भगवान समभाव से पार कर लेते थे और कभी भगवान के विश्रांति स्थान में या उसके अत्यंत निकट सामने नृत्य, गीत, वाजिंत्र, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध एवं परस्पर वार्तालाप आदि कार्यक्रम और प्रसंग उपस्थित हो जाते तो भगवान किसी भी प्रकार का शोक-हर्ष नहीं करते थे । उनको देखने सुनने की चाहना भी नहीं करते थे ।

(६) सर्दी के मौसम में जब लोग अग्नि तापते, वस्त्र कम्बलों का उपयोग करते, वैसी अति कष्टकारी हेमंत ऋतु में भगवान खुली शालाओं में ठहरकर भी निर्वस्त्र रहकर शीत को सहन करते । उसमें भी कभी हाथ पसार कर–फैलाकर खडे होकर कायोत्सर्ग करते और कभी रात्रि में मकान से बाहर निकलकर खुल्ले में ध्यान कर शीत

परीषह सहन करते थे । किंतु हाथों को छाती के पास बंधे रखकर सर्दी से कभी ठिठुरते नहीं थे ।

(७) भगवान जिन मकानों में ठहरते थे, रात्रि निवास करते थे; वहाँ सर्प, चूहे, चमगादड, मच्छर आदि पशु पक्षियों के कष्टदायक उपसर्ग होते थे । परदारसेवी घुमक्कड लोग, कोतवाल, पहरेदार, ग्रामरक्षक तथा ग्रामीणजनों के द्वारा, स्त्रियों के द्वारा अकेले और निर्वस्त्र भगवान को अनेक प्रकार के उपसर्ग आते थे । देव संबंधी उपसर्ग भी आते थे; इन सभी अनुकूल और प्रतिकूल कष्ट उपसर्गों को भगवान रति-अरति (हर्ष-शोक)से मुक्त होकर समभाव से सहन करते हुए आत्म रमणता में लीन रहते थे ।

(८) भगवान कुछ समय अनार्य क्षेत्र में गये थे । वहाँ क्षेत्रीय और व्यक्तीय अनेक भीषण कष्टों को भगवान ने सहन किये । यथा- वहाँ आहार भी अत्यंत रूक्ष मिलता था । वहाँ के लोग भगवान के शरीर को नखों से लूषित कर देते थे । कुत्तों से रक्षा करना तो दूर किंतु छू छू करके कुत्तों को काटने की प्रेरणा करते थे । अन्य संन्यासी लाठी, दंड रखकर चलते थे तो भी उन्हें कुत्ते काट लेते थे । ऐसे क्रूर कुत्तों के उपद्रव युक्त क्षेत्रों में भी भगवान कुत्तों से किसी प्रकार का अपना बचाव किये बिना अपनी मस्ती से चलते थे । शरीर का ममत्व छोडकर शरीर में कांटे के समान खटकने वाले ऐसे घोर कष्टों को संग्राम के अग्रभाग में गये हाथी के समान भगवान सहन करते थे।

(९) अनार्य क्षेत्र में कई बार रात्रि निवास के लिये गाँव भी नहीं मिलते और कभी तो कोई गाँव के बाहर से ही भगवान को हकाल देते थे- चले जाओ इस गाँव में आने की जरूरत नहीं हैं, अन्यत्र कहीं भी चले जाओ ।

(१०) कई बार वहाँ भगवान को डंडे, मुष्टि, भाले आदि से मारा गया। कभी मांस काट लिया गया, कभी चमडी को चिमटी द्वारा उपाड लिया गया । कोई पीटते, कोई धूल उछालते, कोई खडे रहे भगवान को पीछे से पकड कर ऊँचे उठाकर पटक देते । कोई बैठे हुए भगवान को धक्का मारकर आसन से अलग दूर कर देते । इन सभी कष्टों को भगवान ने अनार्य भूमि में निश्चल भावों से सहन किये । वास्तव में

भगवान अपने महान कर्मों की निर्जरा के लिये, अपनी क्षमता को देखकर ही अनार्य भूमि में विचरण करने गये थे । सामान्य रूप से साधुओं को अकारण ऐसे अनार्य क्षेत्रों में जाने का आगम में निषेध किया गया है । क्यों कि सामान्य तया कोई भी श्रमण इतना धैर्य रखने में समर्थ नहीं हो सकता; जिससे वह अपनी संयम समाधि में नहीं रह पाए, ऐसी संभावना रहती है।

प्रश्न–११ : भगवान के कानों में कीले ठोके गये आदि क्या इस अध्ययन में है ?

उत्तर– कानों मे कीले, पाँवों मे खीर पकाना, चंडकोशिक सर्प, तेरह अभिग्रह, संगमदेव आदि विविध अनेक उपसर्ग कथा ग्रंथों में है । उन्हीं के आधार से प्रचलित है । ये सब वर्णन इस अध्ययन में नहीं है और अन्य आगमों में भी नहीं है । उन घटनाओं का विस्तार तीर्थंकर चारित्र से जानना चाहिये । वे घटनाएँ आगम के किसी भी तत्त्व से बाधक नहीं हों और अनावश्यक अतिशयोक्ति वाली न हो तो उन्हें स्वीकार करने में या मानने में कोई आपत्ति नहीं समझनी चाहिये ।

प्रश्न–१२ : भगवान साधना काल में वस्त्र रहित होने से क्या सदा गाँव या नगर आदि के बाहर दूर ही ठहरते थे ?

उत्तर– भगवान महावीर स्वामी छद्मस्थ काल में या केवल ज्ञान प्राप्ति के बाद तथा भगवान के अन्य श्रमण नगर या ग्राम के बाहर ही रहे, ऐसा एकांत नियम नहीं समझना चाहिये ।

भगवान साधना काल में भी ग्राम नगर के मध्य एवं बाहर दोनों ही स्थानों में ठहरते थे और केवलज्ञान के बाद भी साधुओं की संख्या अधिक होने से बाहर बगीचों में ठहरते थे । फिर भी अंतिम चातुर्मास नगर के भीतर किया था, कई बार बस्ती के निकट ठहरते थे और कभी उपनगरों में भी ठहरते थे । एक बार भगवान सकडाल श्रमणोपासक की कुंभकारशाला में ठहरे थे ।

इस अध्ययन के दूसरे उद्देशे की गाथा दूसरी और तीसरी क अनुसार साधना काल में भगवान– खुले घर, सभाभवन, प्याऊ, दुकानों, बढई–लुहार की कर्मशालाओं, घास पराल के पुंज युक्त मकानों,

झोंपडियों, मुसाफिरखानों अर्थात् धर्मशालाओं, बगीचों के मकानों में कई बार ठहरे थे । कभी ग्रामों में नगरों में भी भगवान ठहरे थे । कभी स्मशान, खण्डहर और वृक्ष के नीचे भी ठहरे थे । इस प्रकार भगवान की शय्याएँ अर्थात् निवास करने के स्थान यहाँ शास्त्र में बताये गये ह । भगवान के चातुर्मास का कुछ वर्णन भगवती सूत्र में है तदनुसार भी नगरी के अंदर भगवान ने साधना काल में चातुर्मास किये थे ।

अतः जो लोग यह कहते हैं कि "पहले जैन श्रमण जंगलों में और नगरों के बाहर ठहरते थे, फिर धीरे धीरे ढिलाई आ जाने से गाँवों, नगरों के अंदर ठहरने लग गये हैं " यह आगम के अपूर्ण ज्ञान से अपने को पंडित् मानने की भ्रमणा का परिणाम है, आगम ऐस एकांत प्ररूपणा वाले नहीं हैं।

निबंध-९

पंडित मरण के तीन प्रकार

(१) भक्तप्रत्याख्यान पंडित मरण :-किसी भी प्रकार के अनुभव ज्ञान या अनुमान ज्ञान से जब यह आभास हो जाय, समझ में आ जाय कि अब जीवन का समय अधिक नहीं है, अंतिम समय निकट आ पहुँचा है, तब आहार पानी का त्याग करना, शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त समस्त प्रवृत्तियों का त्याग करना, श्रमणोपासक को समस्त सावद्य कार्यों का त्याग करना होता है । समस्त जीवों के प्रति वैर विरोधभाव को दूर कर क्षमा भाव, समभाव उपस्थित करना होता है । आत्म परिणामों को समस्त जीवों के प्रति समझपूर्वक पूर्ण पवित्र बनाना होता है । जीवन में हुए अपने विशिष्ट दोषों का, गलत कार्यों का और व्रतभंग के प्रसंगो का स्मरण कर, उनकी आलोचना प्रायश्चित करना होता है । दोषों को संख्या अधिक हो तो पुनः नये रूप से व्रतारोपण करना होता है अर्थात् पुनः महाव्रत या व्रतों के पच्चक्खाण का उच्चारण कर स्वीकार करना होता है । फिर शरीर के प्रति ममत्व छोड कर, देह और आत्मा की भिन्नता का चिंतन सदा उपस्थित रखते हुए धर्म ध्यान के चिंतन में ही लगे रहना

होता है । अन्य किसी भी चिंतन को अपना विषय नहीं बनाना होता है । शारीरिक कष्ट या कोई व्याधि हो तो भी परम शांति से सहन करते हुए शांत प्रशांत मुद्रा में ही रहना होता है । इस प्रकार का भक्तप्रत्याख्यान नामक पंडित मरण, कभी भी, कहीं भी, कोई भी व्यक्ति मृत्यु समय निकट जानकर कषाय रहित परिणामों में स्वीकार कर सकता है ।

(२) इंगिनी मरण अनशन :– विशिष्ट क्षमतासंपन्न साधक इंगिनी मरण नामक दूसरे प्रकार का अनशन स्वीकार करते हैं । इस अनशन विधि में अन्य के द्वारा किसी भी प्रकार की शरीर परिचर्या, सेवा सुश्रूषा नहीं ली जाती है, अन्यत्र गमनागमन भी नहीं किया जाता है। सीमित ५–२५ फुट आदि क्षेत्र में या कमरे में स्वयं उठना, बैठना, घूमना आदि कर सकता है । शरीर को दबाना खुजलाना स्वयं कर सकता है । बाह्य लेप या औषध-उपचार भी नहीं कर सकता । भक्त प्रत्याख्यान रूप प्रथम अनशन की अपेक्षा इसमें ये विशेषता होती है। भक्त प्रत्याख्यान वाला भी इन नियमों का पालन कर सकता है किंतु उसमें ये नियम पालन आवश्यक नहीं होते हैं ।

(३) पादपोपगमन अनशन :– इस अनशन को स्वीकार करने वाला मलमूत्र त्याग की प्रवृत्ति के लिये हलन-चलन या गमनागमन करता है। उसके अतिरिक्त दिन-रात एक ही किसी सयन आसन से स्थिर निश्चेष्ट जैसा रहता है । मौन पूर्वक, ध्यानपूर्वक, शारीरिक कष्ट या उपसर्ग को सहन करता है । यदि सेवा में अन्य श्रमण हो तो वे बाह्य सुरक्षा का ध्यान रखते हैं । यदि अकेला ही है तो पशु आदि किसी के कुछ भी करने पर निश्चेष्ट जैसे ही धर्म ध्यान में लीन रहता है । यह अनशन साधना का अंतिम और उत्कृष्ट दर्जा है । इस अनशन को धारण करने वाले की क्षमता और धैर्य अपार होता है। शेष नियम भक्तप्रत्याख्यान वाले तो होते ही हैं । यह अनशन घर में या गाँव-नगर में नहीं होता, जंगल में या पहाडों पर किया जाता है ।

भक्तप्रत्याख्यान के सभी नियम विधान तो **इंगिनीमरण** और **पादपोपगमन** में होते ही हैं, उसके अतिरिक्त इन दोनों अनशनों की कुछ विशेषता होती है, जो ऊपर बताई गई है ।

तीन मनोरथ चिंतन एवं संस्कार :–ठाणांगसूत्र ठाणा–३ के अनुसार प्रत्येक आत्मलक्षी साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओं को प्रतिदिन **तीन मनोरथ** का चिंतन करना होता है, जो कि आत्मा के लिये महान निर्जरा महान मुक्ति का हेतु बताया गया है । तदनुसार गृहस्थ और श्रमण दोनों प्रकार के साधकों को सदा अपनी चाहना, मनोगत संकल्प और अंतरंग आत्मपुकार से अपने को पूर्ण अभ्यस्त और संस्कारित करते रहना होता है कि जब कभी आयुष्य की समाप्ति और मरण का अवसर आने का किंचित् भी संकेत या अनुभव हो जाय तो मैं अविलंब निर्णय के साथ, संलेखना संथारा और आजीवन अनशन स्वीकार कर, स्वयं इच्छापूर्वक कषाय भावों से अलग हट कर, आर्तध्यान रौद्रध्यान रूप अशुभ ध्यानों से रहित होकर, मात्र धर्मध्यान के संकल्प और प्रवृत्ति में अपने उस अवशेष जीवन को लगा दूँ और अंतिम श्वास तक उन्हीं धर्ममय परिणामों में, आगम आज्ञाओं के अनुसार ही आत्मा को भावित करता हुआ पंडितमरण को प्राप्त करूँ ।

इस प्रकार के मनोरथ का चिंतन करते हुए साधक के संस्कार इतने दृढ बन जाते हैं कि स्वप्न में भी मृत्यु सामने दिखे तो वह तत्काल आजीवन अनशन का प्रत्याख्यान करने से वंचित नहीं रहता है । इस प्रकार प्रत्येक साधक का **परम कर्तव्य** है कि ठाणांग सूत्र कथित मनोरथ से अपने को संस्कारित, भावित करते रहना चाहिये । **दूसरा विवेक कर्तव्य** यह है कि जब कभी भी अचानक मृत्यु निकट दिखे, शरीर कितना भी सशक्त हो, आजीवन अनशन या सागारी अनशन करने की सावधानी और संस्कारों को तरोताजा रखना चाहिये । **तीसरा विवेक कर्तव्य** यह है कि जब शरीर की क्षमता क्षीण हो जाय, किसी भी प्रकार के कार्य में शरीर साथ न दे सके, या अनेक रोगों से आक्रांत हो जाय अथवा वृद्धावस्था से घिर जाय, ऐसे समय में साधक को जीवन की आशावादिता छोडकर हिम्मत के साथ आत्म क्षमता को स्थिर, केन्द्रित करके आध्यात्म ज्ञान के संस्कारों को उपस्थित करके, आजीवन अनशन स्वीकार करने का निर्णय कर लेना चाहिये । संलेखना प्रारंभ कर, तप का अभ्यास बढाकर संथारा स्वीकार करना चाहिये । जीवन के अंत तक जीवन की आशा से

डॉक्टरों और इलाजों में अंतिम जीवन को खराब नहीं करना चाहिये।

अनशन विधि विवेक :-इस आठवें अध्ययन के छट्ठे, सातवें और आठवें तीनों उद्देशक में ऐसा निर्देश किया गया है कि जब शरीर अपने धार्मिक एवं व्यावहारिक आवश्यक कार्यों में साथ न दे, तब साधक संलेखना प्रारंभ कर क्रमशः आहार घटावे, तपस्या का अभ्यास बढावे और कषायों को कृश, मंद, मंदतम करता जावे, ऐसा करते हुए जब कभी भी मृत्यु का, जीवन समाप्ति का समय अत्यंत निकट लगें, तब पूर्ण रूपेण आजीवन अनशन स्वीकार कर लेना चाहिये ।

अचित, निर्जीव और हरीघास या वनस्पति से रहित, शांत-एकांत स्थान की प्रतिलेखना करनी चाहिये । सूखे घास का बिछौना करना चाहिये । लघुनीत, बडीनीत(मल-मूत्र) त्यागने या परठने की भूमि को देख लेना चाहिये । क्यों कि संथारे में अचित, निर्दोष जीव रहित भूमि में ही मल-मूत्र का विसर्जन किया जाता है । धैर्य से भूख, प्यास, कष्ट, उपसर्ग सहन करना होता है और मनुष्य या देव संबंधी आगामी सुखों की चाहना, आकांक्षा नहीं करनी होती है अर्थात् किसी प्रकार का नियाणा(निदान) नहीं करना चाहिये ।

निबंध-१०

क्षमापना भाव अंतर हृदय का आवश्यक

[**बृहत्कल्प सूत्र, उद्दे.४, सूत्र-३० तथा उद्दे-१, सूत्र-३४ । व्यवहार सूत्र उद्दे०-७, सूत्र-११, १२**] क्षमापना का धार्मिक जीवन में इतना अधिक महत्व है कि यदि किसी के साथ क्षमापना भाव न आए और नाराजी भाव लंबे समय तक चालु रहे, ऐसे भावों में काल धर्म प्राप्त हो जाय तो वह विराधक हो जाता है।

यह क्षमापना, द्रव्य एवं भाव के भेद से दो प्रकार का है-(१) द्रव्य से- यदि किसी के प्रति नाराजगी का भाव या रोषभाव हो तो उसे प्रत्यक्ष में कहना कि- 'मैं आपको क्षमा करता हूँ और आपके प्रति प्रसन्न-भाव धारण करता हूँ।' यदि कोई व्यक्ति किसी भी भूल के कारण रूष्ट हो तो उससे कहना कि- 'मेरी गलती हुई आप क्षमा

करें, पुनः ऐसा व्यवहार नहीं करूँगा।'(२) भाव से- शान्ति सरलता एवं नम्रता से अपने हृदय को पूर्ण पवित्र एवं शांत बना लेना चाहिए।

इस प्रकार भावों की शुद्धि एवं हृदय की पवित्रता के साथ व्यवहार से क्षमा करना और क्षमा मांगना यह पूर्ण क्षमापना विधि है। परिस्थितिवश ऐसा सम्भव न हो तो बृह० उ०-१, सू०-३४ के अनुसार स्वयं को पूर्ण उपशांत कर लेने से भी आराधना हो सकती है, किन्तु यदि अंतर हृदय में शान्ति, शुद्धि न हुई हो तो बाह्य विधि से संलेखना, १५ दिन का संथारा और क्षमापना कर लेने पर भी आराधना नहीं हो सकती है, ऐसा भगवती सूत्र श०-१३, उ०-६ में आये अभीचिकुमार के वर्णन से स्पष्ट होता है। अतः स्वयं के अंतर हृदय की शुद्धि, उपशांति एवं कषाय कलुष भावों की या नाराजी के भावों की पूर्ण निवृत्ति होना परमावश्यक है। ऐसा होनें पर ही द्रव्य भाव से परिपूर्ण क्षमापना हो सकती है।

आज के परिप्रेक्ष्य में साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका गच्छ भेद हो जानें पर अपने ही विभक्त साधु-साध्वियों के प्रति और श्रावक-श्राविकाओं के साथ कभी भी क्षमाभाव धारण नहीं करते हैं। सदा राग-द्वेष, मेरे तेरे की गांठ बाँध कर रखते हैं। समान समाचारी और साधुपना होते हुए भी मेरे तेरे के नाम से सुसाधु को भी गुरु मानते ही नहीं अपितु घृणा, निंदा, द्वेष, अलगाव, दर्शन नहीं करना, सेवा नहीं करना, गोचरी की भावना नहीं करना, व्याख्यान नहीं सुनना, मकान-स्थानक में नहीं ठहरने देना आदि दुर्व्यवहार जिंदगीभर करते रहते हैं। ऐसा कषाय, अनमना व्यवहार तथा नाराजी सदा के लिये स्थिर रखते हैं, कभी भी क्षमापनाभाव हृदय में लाने का नहीं होता है। ऐसा करने वाले सभी साधु-साध्वी एवं श्रावक श्राविका अपने को कितना ही उत्कृष्ट आचारी माने परन्तु वास्तव में वे सभी समकित से भी भ्रष्ट रहते हैं, वे कभी समकित के भी आराधक नहीं हो सकते, अभिचिकुमार के समान।

सार यह है कि अंतर हृदय में किसी भी व्यक्ति के प्रति नाराजी के भाव नहीं रहने चाहिये और जो भी नाराजी के भाव

किसी कारण से आये हों उसे समभावों में बदल देना अत्यंत जरूरी होता है। अन्यथा दूसरे दिन साधुपणा नहीं रहता है, पक्खी निकल जाय तो श्रावकपना नहीं रहता है और संवत्सरी निकल जाय तो समकित भी नहीं रहती है और उन भावों में आयुष्य पूर्ण हो जाय तो मिथ्यात्वी की गति होती है ।

यों भी जो **सुसाहुणो गुरुणो** नहीं मान कर ***मम समुदायो गुरुणो*** या ***अमुक मुनि समुदायो गुरुणो*** मानने लग जाते हैं उनकी समकित भी सच्ची नहीं रहती है। क्यों कि उन समुदायों का आचार जो विभक्त होने के पहले था वही विभक्त होने के बाद है फिर भी एक दूसरे के प्रति घृणा नफरत रखते हैं ।

वास्तव में जो साधक अपनी धर्मकरणी की आराधना करना चाहते हैं, धर्मध्यान पुरुषार्थ को मोक्ष मार्ग में सफल बनाना चाहते हैं, उन्हें किसी पक्ष समुदाय के आग्रह में पडे बिना सभी आचारनिष्ट श्रमण श्रमणियों की शुद्ध भावपूर्वक सेवा सत्संग करते रहना चाहिये। अपने मानस को प्रत्येक साधक के प्रति पवित्र और उदार रखना चाहिये । क्यों कि जो भी मेरे तेरे के पक्ष से रागद्वेष में पडेंगे, सुसाधु को भी गुरु बुद्धि से नहीं देख कर मेरे तेरे की दृष्टि से देखेंगे उनकी सारी धर्मकरणी उत्कृष्टाचार बिना एकडे की मींडियों के जैसा बिना कीमत का रह जायेगा वे एक कदम भी मोक्षमार्ग में आगे बढने वाल नहीं है ।

निबंध-११

जैन सिद्धांत और वर्तमान ज्ञात दुनिया

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में एवं **जीवाभिगम** सूत्र में भूमि भाग संबंधी विस्तृत वर्णन है। जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में एक ही द्वीप का सरल एवं परिपूर्ण वर्णन है। इसका उपयोग पूर्वक एवं चिंतन युक्त अध्ययन कर लेने पर मस्तिष्क में इस क्षेत्र का परिपूर्ण नक्शा साक्षात चित्रित सा हो जाता है।

जिससे दक्षिण से उत्तर अर्थात् भरत से ऐरवत तक, पूर्व से पश्चिम सम्पूर्ण महाविदेह क्षेत्र एवं मध्य मेरु सुदर्शन मंदर पर्वत

आदि नदी, पर्वत, क्षेत्र, द्रह, कूट, भवन, पुष्करणियाँ, प्रासादावतंसक आदि आँखों के सामने श्रुतज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

प्रश्न– इस श्रुतज्ञान के अनंतर यह प्रश्न स्वाभाविक होता है कि वर्तमान प्रत्यक्षीभूत पृथ्वी और सैद्धांतिक पृथ्वी के ज्ञान का सुमेल किस तरह होता है ?

समाधान– इसके लिये सामाधान इस प्रकार समझना चाहिये। आज के वैज्ञानिक साधन एवं वैज्ञानिक मन्तव्य कुछ सीमित ही है। अतः उसके अनुसार ही उनका बोध एवं गमनागमन हो सकता है। गमनागमन क्षमता के अभाव में अवशेष सम्पूर्ण क्षेत्र अज्ञात ही रहते हैं।

विशाल क्षेत्रों का अप्रत्यक्षीकरण क्यों ? :– आज हम दक्षिण भरत क्षेत्र के प्रथम मध्य खंड के किसी सीमित भूमि क्षेत्र में अवस्थित हैं। लवंण समुद्रीय प्रविष्ट जल के किनारे हैं। यों भरत क्षेत्र तीन दिशाओं में लंवण समुद्र से एवं उसके प्रविष्ट जल से घिरा हुआ है। वह समुद्री जल सैकड़ों या हजारों माइल जाने पर आ ही जाता है। हमारी उत्तरी दिशा ही समुद्री जल से रहित हैं। इस दिशा में पर्वत या समभूमि है। किन्तु उत्तर में भी ९-१० लाख से कुछ अधिक माइल जाने पर वैताढ्य पर्वत दो लाख माइल का ऊँचा है। अतः इतना ऊँचा जाकर फिर उत्तर दिशा में आगे जाना आज की मानवीय यॉत्रिक शक्ति से बाहर है और जम्बूद्वीप के वर्णित सारे क्षेत्र पर्वत आदि वैताढ्य पर्वत के बाद ही उत्तर में है। अतः उनकी जानकारी एवं प्रत्यक्षीकरण चक्षुगम्य होना असंभव सा हो रहा है।

दक्षिण भरत का भी अप्रत्यक्षीकरण क्यों ? :– शाश्वत गंगा-सिन्धु नदियें, मागध, वरदाम, प्रभास तीर्थ, सिंधु देवी का भवन आदि एवं दोनों गुफा के द्वार तो इसी खंड में हैं। फिर भी इन स्थलों का प्रत्यक्षीकरण आज के मानव को नहीं हो रहा है, इसका कारण भी यह है कि (१) वैज्ञानिकों द्वारा उक्त स्थानों के आगमीय वर्णन को समझ कर सही क्षेत्रीय निर्णय नहीं किया जाता है। (२) इन स्थानों के और हमारे निवास क्षेत्र रूप ज्ञात दुनिया के बीच में यदि विकट पर्वत या जलीय भाग हो गया हो तो भी वहाँ पहुँच पाना कम संभव है। (३) हमारे निवास क्षेत्र से उक्त स्थलों की दूरी का क्षेत्र भी

गमनशक्ति से अत्यधिक हो तो भी पहुँचा नहीं जा सकता है। सम्भवतः तीन तीर्थ तो जलबाधकता से अगम्य हो जाने की स्थिति में है। इसके अतिरिक्त ये उपरोक्त सभी स्थान हमारे इस निवास क्षेत्र से अति दूरस्थ है।

हमारी वर्तमान दुनियाँ आगमिक विनीता-अयोध्या, वाराणसी, हस्तिनापुर आदि के पास की भूमि है। अतः यह प्रथम खंड़ का मध्य स्थानीय भूमि भाग है जो आगमिक दृष्टि से ३-४ योजन प्रमाण ही है। इस स्थान से शाश्वत योजन की अपेक्षा-मागध तीर्थ एवं प्रभास तीर्थ क्रमशःपूर्व और पश्चिम में ४८७४ योजन है। वरदाम तीर्थ दक्षिण में ११४ योजन है। दोनों शाश्वत नदियों का एक निकटतम हिस्सा १००० योजन है। गुफाएँ १२५० योजन है। एक योजन अमुक अपेक्षा से ८००० माइल का स्वीकारा गया है। इन योजनों के माइल एवं कि.मी. इस प्रकार है-

नाम	माइल	कि.मी.
मागध तीर्थ	३,८९,१२,०००	५,८४,८८,०००
वरदाम तीर्थ	९,१२,०००	१३,६८,०००
प्रभास तीर्थ	३,८९,१२,०००	५,८४,८८,०००
गंगा सिंधु नदी	८०,००,०००	१,२०,००,०००
दोनों गुफा	१,००,००,०००	१,५०,००,०००

वर्तमान ज्ञात दुनिया का क्षेत्रावबोध- हमारी वर्तमान ज्ञात भ्रमण संचरण शील दुनिया वैज्ञानिकों द्वारा २४,००० माइल साधिक की परिधि वाली मानी गई है। जो आगमिक योजन की अपेक्षा कुल अधिकतम ३ योजन परिमाण मात्र की है। अथवा जितने भी माइल की आँकी जा रही हो उस माइल में ८००० का भाग देने पर आगमिक क्षेत्रीय योजन निकल आवेंगे। अतः ३-४ या ५-१० योजन में घूम फिरकर, खोजकर के ही संतुष्ट रहने वाले वैज्ञानिक लोग ११४ या १००० और १२५० योजन की कल्पना एवं पुरुषार्थ के लिये तत्पर नहीं हो सकते। साधन एवं खोजने की शक्ति भी उतनी नहीं है। यह पृथ्वी वास्तव में चन्द्र के समान या प्लेट के

समान चपटी-गोल है। न कि गेंद के समान। वैज्ञानिक लोगों ने गेंद के समान गोल होने की कल्पना कर रखी है। जो कि चर्म चक्षु के स्वभाव के कारण होने वाला एक भ्रम मात्र है।तथा वर्तमान ज्ञात दुनियावी पृथ्वी भी सीधी सपाट तो नहीं है अर्थात् ऊँचें-नीचे, सम-विषम, पर्वत टेकरे आदि रूप है, कई विशिष्ट चढाव-उतार भी है। किंतु परिपूर्ण गेंद के समान मान लेना भ्रम युक्त है।

वैज्ञानिक मानष की स्थिति- वैज्ञानिक लोगों के मानने का या खोजने का अभी कोई अंत नहीं हुआ है अर्थात् उन्हें भ्रमण करते हुए और भी पृथ्वी का हिस्सा मिल जाय तो वे उसे मान्य कर सकते हैं। उत्तर दिशा का अंत लेने का ये वैज्ञानिक लोग परिश्रम करना भी मूर्खता भरा प्रयास मानते है अर्थात् उत्तरी दिशा में इन्हें पहाड़ और बर्फ से युक्त विकट मार्ग आगे जाने में अवरोधक होता है और शेष तीन दिशाओं में समुद्री जल विभाग ही आगे जाने में हताशा या निराशा के भावों को उत्पन्न कर देता है। अतः वैज्ञानिक अपनी कल्पित २४००० माइल वाली पृथ्वी के घेरे में या उसके अगल-बगल में ही परिक्रमा करते हैं। क्यों कि लाखों करोड़ों माइल की दूरियाँ पैदल या वायुयान, विमान रॉकेट आदि से कैसे पार की जा सकती है ? इसी कारण उक्त निर्दिष्ट लाखों करोड़ों माइल दूरस्थ तीर्थ आदि आगमिक स्थलों का पता लगाना या पाना वैज्ञानिकों के लिये अत्यंत कठिन हो गया है।

इसलिये उन उक्त शाश्वत स्थानों के दक्षिण भरत खंड़ में होते हुए भी हमारे लिये उन स्थानों का गमनागमन अवरुद्ध है। क्यों कि जितनी(५-१० योजन) ज्ञात पृथ्वी वर्तमान दुनिया है, उससे सैकड़ों गुणा क्षेत्र आगे जाने पर ही ये उक्त तीर्थ आदि शाश्वत स्थान आ सकते हैं।

परिणाम सार :-इस प्रकार हमारा यह भरत क्षेत्र भी इतना विशाल है कि इसके एक खंड़ में जिसमें कि हम रहते हैं, उसका भी पार हम नहीं पा सकते, तो एक लाख योजन के जम्बूद्वीप अथवा अन्य द्वीप समुद्रों के पार पाने की बात ही नहीं हो सकती। कारण कि ज्ञात दुनिया का क्षेत्र और अज्ञात भरत क्षेत्र में भी कई गुणा अंतर है। तब

अन्य द्वीप समुद्रों की अपेक्षा में तो यह हमारी ज्ञात दुनिया अत्यंत ही छोटी मालुम पड़ेगी।

इस प्रकार ज्ञात दुनिया के सामने आगम निर्दिष्ट दुनियाँ का स्वरूप रखकर समझने की कोशिश करनी चाहिये।

प्रश्न–यह चर्म चक्षु का भ्रम क्या चीज है ?

उत्तर– मानव की आखों की कीकी(शक्ति सम्पन्न यंत्र बिन्दु)गोल है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वतंत्र दृष्टि क्षेत्र सीमित होता है। उस अपने दृष्टि क्षेत्र से भी बड़ी वस्तु यदि उसके सामने आती है तो वह उसे अपने दृष्टि क्षेत्र जितने गोलाकार रूप में देखकर अवशेष उस पदार्थ के विभाग को नहीं देखता है। उसके स्थानों पर फिर केवल शून्य स्थल रूप आकाश ही देखेगा। जिस प्रकार यदि हम एक इंच के व्यास वाली और दो इंच लम्बी एक छोटी सी गोल नली आखों के पास रख कर देखेंगे तो उस नली की गोलाई से प्राप्त होने जितना ही क्षेत्र और उतनी ही वस्तु दिखेगी उस क्षेत्र से बड़ी वस्तु को वह अपनी सीमा जितनी गोल देखकर अवशेष को छोड़ देगी।

पहाड़ी पर खड़े व्यक्तियों का दृष्टांत :– उसी तरह कुछ व्यक्ति एक पहाड़ी पर खड़े है। उनके चक्षुदृष्टि क्षेत्र अर्थात् चक्षु ज्ञान शक्ति क्रमशः ५, १०, १२, १५ माइल का है। तो उसमें पहला व्यक्ति चौ तरफ पाँच पाँच माइल क्षेत्र देख कर आगे केवल आकाश या खड्डा (भूमि रहित क्षेत्र) होना ही देखता है। उसी समय वहीं खडा दूसरा व्यक्ति १० माइल चौतरफ क्षेत्र देख लेता है और तीसरा चौथा व्यक्ति १२ और १५ माइल गोलाकार चौतरफ क्षेत्र देखता है। वहीं उसी समय उनको दूर दर्शक यंत्र दे दिया जाय तब वही ५ माइल का घेरा देखने और कहने वाला ५० माइल का घेरा भी देखने लग जाता है।

अतः वास्तव में पृथ्वी न तो ५ मील के घेरे जैसी थी, न १० माइल के घेरे जैसी और न १२–१५ माइल के घेरे जैसी थी। साथ ही ५० माइल की घेरे जितनी भी नहीं मानी जा सकती। क्यों कि ५ मील की दृष्टि वाले को यंत्र से ५० माइल दिख रहा है तो १५ माइल के दृष्टि क्षेत्र वाले को १५० माइल क्षेत्र दिख सकेगा और वहीं

एक वृद्ध मंद दृष्टि वाला खड़ा हो तो वह चौतरफ एक माइल के बाद ही पृथ्वी का अंत देख लेगा।

इस प्रकार यह हमारी चर्म चक्षुओं का ध्रुव स्वभाव है कि वह अपने दृष्टि सीमा से बड़ी वस्तु को चौतरफ गोल देख कर समाप्त कर लेती है। इस भ्रम के वशीभूत होकर आज के मानव को पृथ्वी का अंत दिखता है और वह गेंद जैसी गोल पृथ्वी मानने पर उतारु हो जाता है, यही चर्म चक्षु का भ्रम कहा गया है।

अतः वैज्ञानिकों की खोज का मूल सिद्धांत भ्रम पूर्ण होने से वे आगे अधिक सफल होकर भूभाग का पता नहीं लगा सकते हैं। क्योंकि पहले लक्ष्य बिन्दु का सिद्धांत सही हो तो ही उसकी ओर गमन सही गति को प्राप्त कर सकता है। लक्ष्य बिन्दु का सही सिद्धांत स्वीकार कर लेने पर भी यदि सामर्थ्य का अभाव है तो भी सफल गमन नहीं हो सकता है। यथा किसी की चलने की शक्ति का सामर्थ्य दिन भर में दो मील चलने का है तो वह एक लाख माइल क्षेत्र पैदल जाने की हिम्मत सही मार्ग जानते हुए भी नहीं कर सकता है। और कोई ज्वर रोग से व्याप्त है, उस ज्वर से उसका सामर्थ्य अवरुद्ध है तो वह जानते देखते क्षेत्र में भी ५-१५ कदम की मंजिल भी पार नहीं कर सकता।

इसी कारण वैज्ञानिक लोग मूल मान्यता के भ्रम से एवं पूर्ण सामर्थ्य के अभाव से जैन सिद्धांत कथित इन क्षेत्रों-स्थलों को नहीं पा सकते हैं। एवं जैन सिद्धांतों के अनुसार सही जानने मानने वाले भी सामर्थ्य के अभाव में नहीं जा सकते। यदि किसी को तप संयम या जप मंत्र से कोई अलौकिक शक्ति उत्पन्न हो तो वह जा सकता है अथवा देव स्मरण कर उसे बुलाकर उसके सहयोग से इन दूरस्थ, अति दूरस्थ स्थलों पर भी मानव क्षणभर में जा सकता है।

प्रश्न–क्या वैज्ञानिक लोग इतने मूर्ख माने जा सकते है कि ऐसे भ्रम को भी नहीं समझ सकते?

उत्तर– बड़े विद्वानों के भी मंतव्य भिन्न भिन्न और विपरीत हो जाते हैं। उससे वे विद्वान सभी मूर्ख नहीं कहे जा सकते। यह अपनी-अपनी चिंतनदृष्टि होती है। आज अनेक धर्मशास्त्र पृथ्वी को प्लेट के समान

गोल एवं अति विस्तार वाली मानते हैं और वैज्ञानिक पृथ्वी को सीमित एवं गेंद के समान गोल बता रहे हैं तो क्या उन धर्म शास्त्र प्रणेताओं को सब को मूर्ख कहा जायेगा ? नहीं । ऐसा कथन करना विवेकपूर्ण नहीं है। अतः इस दृष्टि भ्रम, चिंतन भ्रम को भ्रम शब्द से ही कहा जाना उपयुक्त है ।

सार–यह हमारी पृथ्वी अत्यंत विशाल अरबों खरबों असंख्य माइल की लम्बी चौड़ी गोल प्लेट के आकार से है। मानव एवं वैज्ञानिकों के पास साधन शक्ति अत्यल्प है। अतः उनको प्राप्त और ज्ञात क्षेत्र जो है वह पृथ्वी का अति अल्पतम क्षेत्र है और चक्षु सीमा भ्रम से ये पृथ्वी को आकार से गेंद जैसी गोल देख व मान रहे हैं। पहाड़ों से एवं समुद्री जलों से बाधित एवं अति दूरस्थ होने से वे जैनागमोक्त स्थलों को देख पाने एवं वहाँ पहुँचने में अक्षम है।

निबंध–१२

ज्योतिषमंडल के प्रति वैज्ञानिक एवं आगम दृष्टि

जैन सिद्धान्तानुसार पृथ्वी प्लेट के आकार गोल असंख्य योजन रूप है और वह स्थिर है। प्राणी जगत इस पर भ्रमण करते हैं यान वाहन इस पर भ्रमण करते हैं एवं इस भूमि के ऊपर ऊँचे आकाश में ज्योतिष मंड़ल, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे स्वाभाविक भ्रमण करते हैं एवं यान विमान मानविक दैविक शक्ति से गमन करते हैं। पक्षी आदि तिर्यंच योनिक जीव भी स्वभाव से आकाश में गमनागमन करते हैं। ज्योतिष मंड़ल के बीच में भी उत्तर दिशा में दिखाई देने वाला लोक मान्य ध्रुव तारा सदा वहीं स्थिर रहता है अर्थात् मनुष्यों एवं वैज्ञानिकों को वह सदा सर्वदा एक ही स्थल पर दिखता है। हजारों वर्षों से पूर्व भी वहीं दिखता था और हजारों वर्ष बाद भी उसी एक निश्चित स्थान पर दिखता रहेगा।

गोल और घूमने वाली पृथ्वी :– वैज्ञानिक लोग पृथ्वी को गोल गेंद के आकार मान कर भी उसे एक केन्द्र बिन्दु पर सदा काल घूमन वाली मानते हैं और सूर्य को स्थिर मानते हैं। एवं सूर्य का चलते हुए दिखना भ्रमपूर्ण मानते हैं। पृथ्वी को भी १००० माइल प्रति घंटा

चलने वाली मानते हैं। इस चाल से वह अपनी धुरी पर फिरती रहती है साथ ही दूसरी गति से वह अपना स्थान छोड़ कर पूर्णतः सूर्य के परिक्रमा भी लगाती है।

ट्रेन एवं पक्षी का उदाहरण :- चलती हुई रेल(ट्रेन)में जैसे पृथ्वी वृक्ष चलते दिखते हैं वह भ्रम है। वैसे ही सूर्य आदि हमें चलते हुए दिखते हैं यह भी भ्रम है ऐसा वैज्ञानिक मानते हैं। किन्तु जब ट्रेन चलती है तब उसके भीतर तो व्यक्ति चल फिर सकता है, गेंद खेल सकता है किन्तु उस ट्रेन के बाहर या ऊपर कोई कूद कर खेल नहीं सकता या गेंद से नहीं खेल सकता है। इसी प्रकार यदि पृथ्वी चलन स्वभाव वाली होती और १००० माइल प्रति घंटा चलती होती तो इसके ऊपर आकाश में पक्षी उड़कर पुनः अपने स्थान पर नहीं बैठ सकते हैं। क्यों कि पृथ्वी जिस दिशा में १००० माइल की गति से चल रही है तो उससे विपरीत दिशा में दो माइल आकाश में एक घंटा चलकर पक्षी पुनः अपने स्थान पर दूसरे घंटे में नहीं पहुँच सकता है। क्यों कि पृथ्वी १००० माइल आगे चली जायेगी। जब कि पक्षी अपने स्थान पर पुनः आते जाते देखे जाते हैं। इस पृथ्वी पर मनुष्य कूदते हैं, गेंद, रिंग खेलते हैं। इसमें कोई दिक्कत नहीं आती है। किन्तु ट्रेन की छत पर बैठकर कोई भी ६ इंच गेंद को कूदाते हुए सफल नहीं हो सकता है और ट्रेन के अंदर अपनी इच्छा सफल कर सकता है इससे स्पष्ट है कि ट्रेन का बाहरी वायुमंड़ल उसके साथ नहीं चलता है। उसी प्रकार पृथ्वी का बाह्य आकाशीय वायुमंड़ल साथ नहीं चल सकता है।

वायुमंड़ल :- वायुमंड़ल साथ चलने की बात भी कल्पित एवं पूर्ण सत्य नहीं है। जिस प्रकार ट्रेन का भीतरी वायुमंड़ल साथ चलना संभव है किन्तु बाह्य वायुमंड़ल साथ नहीं चलता है। उसी प्रकार पृथ्वी के बाह्य विभाग का वायु मंड़ल साथ चलना कहना अप्रमाणिक मनगड़ंत कथन है एवं असंभव है। वह केवल अपने आग्रह का प्रकटीकरण मात्र है। वास्तव में तो पृथ्वी स्थिर है इसलिये उसका सारा बाह्य वातावरण उसके साथ है। पक्षी आदि का निराबाध गमन भी इसी कारण हो सकता है। वायुयान भी अपनी गति से ही मंजिल

पार करते हैं, पृथ्वी की गति से नहीं।

इसलिये यह स्पष्ट सत्य है कि पृथ्वी स्थिर है, भ्रमणशील नहीं है। सूर्य आदि ज्योतिष मंड़ल भ्रमणशील है। यह सम्पूर्ण ज्योतिष मंड़ल समभूमि से ७९० योजन ऊपर जाने के बाद ९०० योजन तक में कुल ११० योजन जाड़े क्षेत्र में एवं हजारों योजन लंबे चौड़े क्षेत्र में है।

ध्रुव तारा क्या है ? :-भूमि से उपरोक्त उँचाई पर रहे हुए ये सूर्य आदि सदा भ्रमण करते रहते हैं। एक ध्रुव केन्द्र के परिक्रमा लगाते रहते हैं। वह ध्रुव केन्द्र मेरु पर्वत है, जो ९९००० योजन उँचा है। उसकी चूलिका ही हमें ध्रुव तारा रूप दिखती है। मेरु भी स्थिर भूमि का ही एक अंश है। अतः ध्रुव तारा दिखने वाला व माना जाने वाला वह तारा नहीं किन्तु ध्रुव केन्द्र रूप मेरु पर्वत का चोटी स्थल है। जो वेडूर्य मणिमय होने से चमकते हुए नजर आता है। वह हमारे से (भरत क्षेत्र के मध्य से ४९८८६ योजन दूर और समभूमि से ९९००० योजन ऊँचा है। माइल की अपेक्षा ८० करोड़ माइल से अधिक ऊँचा और चालीस करोड़ माइल दूर है। सप्तर्षि मंड़ल इसके अत्यन्त निकट परिक्रमा लगाते हुए दिखता है। परिक्रमा सदा स्थिर वस्तु के लगाई जाती है। मेरु स्थिर केन्द्र है उसी के ही सम्पूर्ण ज्योतिष मंड़ल परिक्रमा लगाता है। सूर्य पृथ्वी आदि को गतिमान मानकर भी वैज्ञानिक उसे परिक्रमा केन्द्र भी मानते हैं यह भी एक व्यापक भ्रम है।

वैज्ञानिकों के मुख्य सिद्धांत और उसकी विचारणा :- वैज्ञानिक लोग सूर्य को आग का गोला मानते हैं, चन्द्र को पृथ्वी का टुकड़ा मानते हैं, चन्द्र पृथ्वी के चक्कर लगाता है, पृथ्वी सूर्य के चक्कर लगाती है, सूर्य किसी अन्य सौर्य मंड़ल के चक्कर लगाता है। पृथ्वी अपनी धुरी पर भी १००० माइल प्रति घंटा की चाल से घूमती है। इस प्रकार सूर्य को भी चक्कर काटने वाला बताते हैं। पृथ्वी तथा चंद्र को तीन तीन प्रकार की गतियों से गतिमान कल्पित करते हैं, यथा- पृथ्वी (१) अपनी धूरी पर घूमती है (२) सूर्य के चक्कर लगाती है और (३) सूर्य किसी सौर्यमंड़ल के चक्कर लगाता है

उसके साथ पृथ्वी भी दौड़ती है। चन्द्र भी (१) पृथ्वी के चक्कर लगाता है (२) पृथ्वी के साथ सूर्य के भी चक्कर लगाता है (३) और सूर्य के साथ सौरमंड़ल के भी चक्कर लगाता है। इस कल्पना में पृथ्वी और चंद्र की तीन गुणी गति अर्थात् करोड़ो माइल प्रति घंटा की गति होती है। इस प्रकार की तीव्र गति करने वाले चन्द्र पर किसी के जाने की कल्पना करना अथवा प्रयत्न करना एवं प्रचार करना केवल भ्रम मूलक है एवं हास्यास्पद है।

त्रिविध गतियों की अवास्तविकता :- पृथ्वी तीन गुणी गतियों से दौड़ती है तो भी उस पर गर्मी के दिनों में कई बार हवा नाम मात्र भी नहीं रहती है ऐसा क्यों ? सामान्य गति से चलने वाले वाहन जब ठहरे हुए होते हैं तो गर्मी होती है किन्तु जब वे चल देते हैं तो हवा का संचार स्वतः हो जाता है। तब यदि पृथ्वी तीन गतियों से निरंतर दौड़ती होती तो कमरों के अंदर या मैदान में कहीं भी निरंतर जोरदार हवा का तुफान रहना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। इस दृष्टांत से एवं पक्षियों के उड़कर पुनः अपने स्थान में आने के दृष्टांत से पृथ्वी का स्थिर रहना ही सुसंगत होता है ।

वास्तविक सत्य :-सूर्य चन्द्र आदि ये ज्योतिषी देवों के विमान है जो गति स्वभाववाले होने से सदा अनादि काल से गतिमान रहते हैं। ये विविध रत्नों के शास्वत विमान है। ये अपने निश्चित सीमित मंड़लो, मार्गों में एक सीमित गति से सदा निरंतर भ्रमण करते रहते हैं और इन रत्नमय विमानों के रत्न ही मनुष्य लोक को प्रकाशित एवं प्रतापित करते रहते है।

न तो ये अग्निपिंड़ है और न ही पृथ्वी के कटे हुए टुकड़े रूप है। पृथ्वी से कटा टुकड़ा पृथ्वी से ऊपर जाकर गोल चन्द्र बन जाय और चमकने लग जाय प्रकाश देने लग जाय इत्यादि ये सारी वैज्ञानिक लोगों की बिना प्रत्यक्षीकरण की कल्पनाएँ मात्र है।

सत्य सुझाव :- जब वैज्ञानिक बिना पास में गये एवं बिना देखे ही केवल अपनी रुचि या कल्पना मात्र से सूर्य को आग का गोला मान सकते हैं, मनवा सकते हैं तो फिर बिना देखें ही आगम श्रद्धा को स्वीकार कर इन्हें देवों के भ्रमणशील विमान ही स्वीकार कर लेना

चाहिये। और पृथ्वी को स्थिर मान लेनी चाहिये। जब कल्पना ही करना है तो लोक में प्रचलित धर्म सिद्धांतों में और ज्योतिष शास्त्रों में इनका जो स्वरूप अंकित किया गया है उसे ही स्वीकार कर लेना चाहिये एवं तदनुसार ही सत्य की खोज करनी चाहिये ।

वैज्ञानिकों का सत्यावबोध :- वैज्ञानिक कोई भी कभी पृथ्वी को चलती हुई देख नहीं पाये हैं। किसी ने चन्द्र को पृथ्वी का टुकड़ा होते हुए देखा नहीं, किसी को दिखाया भी नहीं है। सूर्य को अग्निपिंड़ रूप गोलाकार किसी वैज्ञानिक ने जाकर देखा भी नहीं है। कल्पनाओं से मान्य करके वैज्ञानिक सदा अपनी मान्यता और कल्पनाओं के अनुसार खोज शोध करते रहते है। उनकी खोज का अभी अंत नहीं आया है। आज भी वे खोज करके नई हजारों लाखों माइल की पृथ्वी स्वीकार कर सकते हैं और करते भी हैं । कई वैज्ञानिकों ने भी पृथ्वी गेंद के समान गोल मानने से इन्कार कर दिया है। इसी प्रकार ये वैज्ञानिक कल्पना, खोज, उपलब्धि भ्रम, अपूर्णता, प्रयास, निराश, पुनः कल्पना, खोज, उपलब्धि, भ्रम ऐसे क्रमिक चक्कर में चलते रहते हैं। किसी वैज्ञानिक ने अपनी खोज को समाप्ति का रूप नहीं दिया है। वे अभी और कुछ खोज सकते है नया निर्णय भी ले सकते हैं, पुराना निर्णय पलट भी सकते है।

सार :- फिलहाल वैज्ञानिकों का ज्योतिष मंड़ल संबंधी निर्णय भ्रमित एवं विपरीत है। उसी की विपरीतता से पृथ्वी के स्वरूप को भी वास्तविकता से विपरीत मानकर वे अपनी गणित का मिलान कर लेते है। अनेक धर्म सिद्धांतों में आये पृथ्वी एवं ज्योतिष मंड़ल के स्वरूप से वैज्ञानिकों की कल्पना विपरीत है। जब वह वैज्ञानिकों की अपनी कल्पना ही है तो उसे सत्य मान कर धर्मशास्त्रों के संगत वचनों को झुठलाना किसी भी अपेक्षा से उचित नहीं है। क्यों कि विज्ञान का मूल ही कल्पना और फिर शोध प्रयत्न है। अतः शोध का अंतिम रिजल्ट राइट न आ जाय तब तक उसके लिये सत्य होने का निर्णय नहीं दिया जा सकता है। जब कि जैन शास्त्रोक्त सिद्धांत विशेष आदरणीय, भ्रम रहित एवं विशाल है। ऐसे ज्ञान मूलक सिद्धांतों

को, विज्ञान के कल्पना मूलक कथनों से, प्रत्यक्षीकरण का झूठा आलंबन लेकर बाधित करना एवं गलत कहना समझ भ्रम मात्र है।

चन्द्रलोक की यात्रा व्यर्थ :- वैज्ञानिकों की चन्द्रलोक यात्रा और उसके प्रयास हेतु किये गये खर्च अभी तक कुछ भी कामयाब नहीं हुए हैं। उन्हें पश्चाताप के सिवाय कुछ भी हाथ नहीं लगा है। वास्तव में मूल दृष्टिकोण सुधारे बिना वैज्ञानिकों को ज्योतिष मंड़ल के संबंध में किसी भी प्रकार की उपलब्धि नहीं हो सकती, यह दावे के साथ कहा जा सकता है। क्यों कि ज्योतिष मंड़ल वैज्ञानिकों की शक्ति सामर्थ्य से बाह्य सीमा में है और उनके संबंधी कल्पनाएँ भी वैज्ञानिकों की सत्य से बहुत दूर है। अतः कल्पनाओं में बहते रहने में ही उन्हें संतोष करते रहना होगा। पृथ्वी के संबंध में खोज करते रहने पर तो आगे से आगे किसी क्षेत्र की उपलब्धि इन्हें हो सकती है, किसी नये नये सिद्धांतों की प्राप्ति भी हो सकती है किन्तु दैविक विमान रूप ज्योतिष मंड़ल जो कि अति दूर है उन्हें आग का गोला या पृथ्वी का टुकड़ा मान कर चलने से कुछ आना जाना नहीं है, व्यर्थ की महेनत और देश का खर्च है। अतः वैज्ञानिकों को ज्योतिष मंड़ल के संबंध में महेनत करने के पूर्व धर्म सिद्धांतों के अध्ययन मनन का एवं सही श्रद्धा करने का विशेष लक्ष्य रखना चाहिये। क्यों कि धर्म सिद्धांत और ज्योतिषशास्त्र ही ज्योतिष मंड़ल के अधिकतम सही ज्ञान के पूरक है। स्वतंत्र कल्पनाओं से उसका सही ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है।

पुनश्च :- पृथ्वी स्थिर है असंख्य योजनमय एक राजू प्रमाण विस्तृत है। सूर्य चन्द्र आदि गति मान है सदा भ्रमणशील है। सदा एक ही ऊँचाई पर रहते हुए अपने अपने मंड़लों मार्गों में चलते रहते हैं। हमें दिखने वाले सूर्य चन्द्र तारे आदि ये ज्योतिषी देवों के गतिमान विमान है। ये हमें प्रकाश एवं ताप देते हैं। दिन रात रूप काल का वर्तन करते हैं। ये भिन्न-भिन्न गति वाले हैं। अतः कभी आगे कभी पीछे कभी साथ में चलते हुए देखे जाते हैं। इस संबंधी विविध वर्णन ज्योतिषगण-राज-प्रज्ञप्ति सूत्र में बताया गया है जिसका ध्यान पूर्वक अध्ययन मनन एवं श्रद्धान करना चाहिये।

निबंध-१३

केवली प्रथम पद में नहीं, पाँचवें पद में

शास्त्रों में अलग-अलग जगह अलग-अलग अपेक्षा से 'अरिहन्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। कहीं एकांत तीर्थंकर की अपेक्षा से ही अरिहन्त शब्द प्रयोग हुआ है तो कहीं समुच्चय केवली के लिये भी प्रयोग हुआ है।

इसी तरह "जिन" शब्द का अर्थ भी रागद्वेष को जीतने वाले अर्थात् केवली होता है। उसका भी प्रयोग "लोगस्स" में सिर्फ तीर्थंकरों के लिये भी हुआ है और अन्यत्र अवधिज्ञानी, मनःपर्यव ज्ञानी और विभंगज्ञानी को भी जिन कहा गया है। अतः शब्दार्थ की अपेक्षा से "अरिहंत" और "जिन" शब्द से केवली और तीर्थंकर दोनों को ग्रहण किया जा सकता है इसमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु जहाँ शास्त्रकार एकान्त तीर्थंकर की अपेक्षा से अरिहंत या जिन शब्द का प्रयोग करे वहाँ पर अन्य केवली आदि को भी मान लेना उचित नहीं होता है। यथा- अरिहंतों के जन्मने पर, दीक्षा के समय और केवल ज्ञान के समय लोक में प्रकाश होता है वहाँ अरिहंत शब्द केवल तीर्थंकर के लिए ही है, यदि वहाँ केवली भी ले लेंगे तो अनुचित होगा। ठीक उसी तरह नवकार मंत्र में भी तीर्थंकर की ही अपेक्षा है। क्यों कि सिद्धों से पहले स्थान देने में जो हेतु है वह तीर्थ प्रणेता उपकारी तीर्थंकर के लिये ही उपयुक्त होता है। जैन सिद्धांत बोल संग्रह भाग-७ में भी इस विषय में प्रश्नोत्तर देकर यही समझाया है कि तीर्थंकरो को उपकार की मुख्यता से प्रथम स्थान दिया है। जब कि "णमोत्थुण" में गुण कीर्तन की मुख्यता से पहले सिद्धों का, फिर अरिहंतों का गुण कीर्तन किया जाता है। अतः अरिहंत शब्द से शब्दार्थ की अपेक्षा केवली अर्थ भी होता है तो भी **नवकार मंत्र, लोगस्स** और **णमोत्थुणं** आदि पाठों में अरिहंत शब्द मात्र तीर्थंकर की अपेक्षा ही है इसमें किंचित भी सन्देह को स्थान नहीं है। ठाणांग सूत्र में भी अनेक जगह शास्त्रकार ने एकान्त तीर्थंकर की अपेक्षा ही अरिहंत शब्द का प्रयोग किया है।

अरिहंत शब्द के केवली अर्थ मान्य होते हुए भी सर्वत्र अरिहंत शब्द में केवली ग्रहण करना आगम आशय से विपरीत होगा।

क्यों कि **नवकार मंत्र** में सिद्धों से पहले प्रथम पद में अरिहंत को स्थान देने से, **लोगस्स** में आगे २४ तीर्थंकरों का ही नाम आया होने से और **णमोत्थुण** में वर्णित गुण स्वरूप के तीर्थंकरों में ही घटने वाले होने से **नवकार मंत्र**, **लोगस्स** और **णमोत्थुण** में अरिहंत शब्द से केवल तीर्थंकर को ही लेना आगम सम्मत है । अतः इन स्थानों में केवली को लेना सर्वथा अनुचित है। पाँच पदों की भाव वंदना के प्रथम पद में भी केवली नहीं समझना यह भी इससे स्वतः ही सिद्ध हो जाता है । क्यों कि यह भाव वंदना नवकार मंत्र के पाँच पदों का ही विस्तार है ।

पहले पद की भाव वंदना के गुण भी इसी बात की पुष्टि करते हैं । प्रतिक्रमण सूत्र में यों तो भाव वंदना खुद ही कुछ सैकड़ों वर्षो से प्रक्षिप्त है क्यों कि वह आगम का मूल पाठ है ही नहीं । और उसमें भी जो प्रथम पद में २ क्रोड व ९ क्रोड केवली का पाठ है वह तो और भी बाद में स्वछंद मति से या भ्रम से प्रक्षिप्त किया गया है । इसका कारण यह है कि अनेक स्थलों से छपी प्रतिक्रमण की पुस्तकों में, इस विषय में मत-भेद देखने को मिलते हैं यथा-(१) गुजरात राजकोट से सं. २०२२ में (२) शाहपुरा से संवत १९९८ में (३) अजमेर से संवत २०२०/२०२४ में (४) धर्मदास जैन मित्र मण्डल रतलाम से संवत १९९३ में (५) धूलिया-अमोलक ऋषि जी म.सा. द्वारा संवत २००८/२०३० में (६) गुलाबपुरा से दसवीं आवति संवत २०३३ में, इन छः प्रतियों में प्रथम पद में २ क्रोड ९ क्रोड का पाठ नहीं है । इसके विपरीत कई प्रतियों में अर्थात् (१) अजमेर (२) रतलाम (३) धूलिया (४) गुलाबपुरा, इन चार प्रतियों में पाँचवें पद में २ क्रोड ९ क्रोड केवली का पाठ भी विशेष रूप से स्पष्ट अलग कहा गया है । इस तरह मारवाड़, मालवा व महाराष्ट्र के ये उक्त प्रमाण देखने को मिले हैं ।

सार यह है कि भाव वन्दना के अशुद्ध प्रचार से ही यह विषय कुछ असमंजस में पड़ा है किन्तु शास्त्रकार के अलग-अलग आशय को ध्यान में लेकर समझ लेने से समाधान हो सकता है कि नमस्कार मंत्र के प्रथम पद में तो तीर्थंकर ही है ।

प्रश्न– केवल ज्ञान सबसे बड़ा ज्ञान है, उस ज्ञान वालों को आचार्य, उपाध्याय से पीछे अंतिम पद में बताना कैसे योग्य हो सकता है ?

उत्तर– पद व्यवस्था में मुख्यरूप से ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है । कार्य क्षेत्र, कार्य क्षमता आदि की मुख्यता से पद व्यवस्था की जाती है । ज्ञान ज्यादा होते हुए भी किसी की शारीरिक–क्षमता, अनुशासन–क्षमता, अध्यापन–क्षमता ज्यादा होवे ही, जरूरी नहीं है, और पद व्यवस्था तो जवाबदारी संभालने की अपेक्षा से और कार्यक्षमता की योग्यता की मुख्यता से ही होती है । सिद्ध भगवान आत्मगुणों में बड़े होते हुए भी संसारिक जीवों के उपकार रूप कार्य क्षेत्र में तीर्थंकर के महान होने से उन्हें भी प्रथम पद में कहा गया है, तो भी सिद्धों का अपमान नहीं है और प्रथम पद हो जाने से भी सिद्धों से अरिहंत बड़े भी नहीं कहे जा सकते । क्यों कि वे भी सिद्धों को वन्दन करते हैं। श्री जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में इस विषयक प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है जिसमें उन्होंने भी तीर्थंकर को ही प्रथम पद में मान्य किया है । आचार्य, उपाध्याय अपने कार्य क्षेत्र में अपनी व्यवस्था चलाते हैं, फिर भी वे अपने से पूर्व दीक्षित पाँचवें पद वाले साधुओं को बड़ा ही मानते एवं वंदन भी करते हैं ।

समाज में मुखिया और पदाधिकारी अपनी अनेक योग्यताओं के कारण से बनाये जाते हैं । फिर भी वे अपने माता–पिता, बुजुर्गों व गुरुओं(अध्यापक) को अपने से बड़ा समझ कर विनय करते हैं और अपने कार्यक्षेत्र में अपनी जुम्मेदारी, कर्तव्य को अधिकार पूर्वक निभाते हैं । एक संघ में चार पाँच व्यक्ति को पद दिया जाता है तो अन्य अनेक गुणवानों का अपमान नहीं हो जाता है । उस पदाधिकारी से भी अनेक विशिष्ट ज्ञानी, तपस्वी श्रावक भी होते ही हैं जो कई तो पद लेते नहीं हैं और कई पद लेने के योग्य नहीं होते हैं । ज्ञान बढ़ जाने से पद बढ़ जाता हो ऐसा कोई नियम नहीं होता है । पद तो उस प्रकार की व्यवस्था से एवं कार्य क्षमता की योग्यता से प्राप्त होता जो कि यथासमय दिया व लिया जाता है ।

तीसरे पद वाले को २ ज्ञान हो और पाँचवें पद वाले को तीसरा

चौथा ज्ञान उत्पन्न हो जाय तो वह स्वतः आचार्यों का आचार्य नहीं हो जायगा । ज्यादा दीक्षा पर्याय वाला अल्पज्ञानी हो और कम दीक्षा पर्याय वाला कोई सर्व बहुश्रुत भी हो जाय तो भी ज्यादा ज्ञान से उसकी वन्दन व्यवस्था या विनय व्यवस्था नहीं पलटती है । किसी शिष्य को केवल ज्ञान हो जाय तो सामान्य ज्ञानी गुरु उसे वन्दन करना शुरू नहीं करेगा । वह केवली ही छमस्थ गुरु का विनय करेगा, यह बात आगम से सिद्ध है, यथा-

जहाहि अग्गि जलणं नमंसे, णाणाहुई मंत पयाभिसित्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा, अणंतणाणोवगओवि संतो ॥

- दशवै. अ. ९ उ. १ गा. ११।

अनन्त ज्ञानी शिष्य भी गुरु का विनय करे यह इस गाथा में शास्त्रकार का स्पष्ट आशय है । अतः वन्दन व्यवहार और रत्नधिकता में भी ज्ञानरत्न की मुख्यता नहीं होती है किन्तु चारित्र पर्याय की मुख्यता है । इसी प्रकार पंच परमेष्टी पद क्रम में एकान्त ज्ञान गुणाधिकता की मुख्यता नहीं समझनी चाहिए किन्तु पद के प्रायोग्य कार्य क्षेत्र, क्षमता आदि गुणों की मुख्यता है, ऐसा समझना चाहिए । पाँचवें पद वाले कई स्थविर आदि का श्रुत ज्ञान आचार्य उपाध्याय से भी विशाल हो सकता है । आत्मिक गुणों में भी ५वें पद वाले आचार्य से बढकर हो सकते हैं । भगवान के समय में गणधरों से भी धन्नामुनि का नम्बर संयम गुणों में आगे हो गया था । फिर भी धन्नामुनि पाँचवें पद में थे और गौतम गणधर तीसरे पद में थे । अतः केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ५वें पद वाले को पहले पद में नहीं गिनने से और पाँचवें पद में ही गिनने से उसका कोई अपमान नहीं हो जाता है । ज्ञान वद्धि और पद व्यवस्था सम्बन्धी स्वरूप को गहरी दृष्टि से नहीं समझ कर केवल ऊपरी दृष्टि से सोचने के कारण से ही यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है परन्तु ज्ञान वद्धि और पद व्यवस्था इन दोनों के वास्तविक स्वरूप एवं सम्बन्ध को समझ लेने से व दशवैकालिक की उपरोक्त गाथा के अर्थ भाव को समझ लेने से इस प्रश्नोक्त शंका का समाधान हो सकता है ।

चउसरण पइण्णा नामक सूत्र में केवली का स्वरूप स्पष्ट

किया है । किन्तु "अरिहन्त शरणं" के विस्तार में केवल तीर्थंकर सम्बन्धी वर्णन ही किया है । केवली का कथन उसमें नहीं किया है।

पंच परमेष्टी के स्तवनों में वर्तमान युगों के रचनाकार भी प्रथम पद में तीर्थंकर को ही लक्ष्य में रखकर अपनी रचना करते हैं यथा- १. मनाऊँ मैं तो श्री अरिहंत महंत- युग प्रधान आचार्य माधव मुनि २. भविक जन नित जपिये- अज्ञात मुनि ३. एक सौ आठ बार परमेष्टी- पारसमुनि-गीतार्थ ४. आनन्द मंगल करुँ आरती- विनयचन्द मुनि ५. नित वन्दू सौ सौ बार पंच परमेष्टी को- समर्थ शिष्य-रतनमुनि ६. घंणो है सुखकारी यो परमेष्टी को जाप-बहुश्रुत श्रमण श्रेष्ठ ।

सारांश यही है कि पंच परमेष्टी के **णमो अरिहंताणं** में तीर्थंकर का ही ग्रहण है । अन्यत्र जहाँ उपयुक्त हो वहाँ अरिहंत शब्द से केवली अर्थ भी समझ सकते हैं । इसी प्रकार लोगस्स एवं णमोत्थुणं के पाठ में भी अरिहंत या जिन शब्द से तीर्थंकर ही समझना चाहिये।

अतः जहाँ कभी भी अरिहंत शब्द केवल तीर्थंकर की अपेक्षा से हो, वहाँ केवली होने का अर्थ करना असत्य आग्रह है, ऐसा समझ कर उसे छोड़ देना चाहिए । तदनुसार पाँच पद की भाव वन्दना के प्रथम पद में सामान्य केवली को नहीं बोलकर पाँचवे पद में बोलना एवं समझना ही सत्य ग्रहण करना है । आशा है जिज्ञासु ज्ञानी सरलात्माएँ सही तत्व समझ कर हृदयंगम करेंगे ।

निबंध-१४

समाधिमरण-संलेखना संथारा

समाधिमरण, साधनामय जीवन की चरम और परम परिणति है। साधना के भव्य प्रासाद पर स्वर्णकलश आरोपित करने के समान है। जीवन पर्यन्त आन्तरिक शत्रुओं के साथ किए गए संग्राम में अन्तिम रूप से विजय प्राप्त करने का महान अभियान है । इस अभियान के समय वीर साधक मत्यु के भय से सर्वथा मुक्त हो जाता है ।

संसारासक्तचित्तानां, मत्युर्भीत्ये भवेन्नणाम् ।
मोदायते पुनः सोपि, ज्ञान-वैराग्यवासिनाम् ।

जिसका मन संसार में, संसार के राग रंग में उलझा होता है उन्हें ही मत्यु भयंकर जान पड़ती हैं, परंतु जिनकी अन्तरात्मा सम्यग्ज्ञान और वैराग्य से वासित होती है, उनके लिए वह मत्यु आनंद का कारण बन जाती है । साधक की विचारणा तो विलक्षण प्रकार की होती है । वह विचार करता है —

कृमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपंजरे ।
भिद्यमाने न भेतव्यं, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ।

सैकड़ों कीड़ों के समूहों से व्याप्त शरीर रुपी पींजरे का नाश होता है तो भले हो । इसके विनाश से मुझे भयभीत होने की क्या आवश्यकता है । इससे मेरा क्या बिगड़ता है । यह जड़ शरीर मेरा नहीं है । मेरा असली शरीर ज्ञान है, मैं ज्ञानविग्रह हूँ । वह मुझसे कदापि पथक नहीं हो सकता । समाधिमरण के काल में होने वाली साधक की भावना को व्यक्त करने के लिए कहा गया है —

एगोहं नत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सइ ।
एवमदीणमणसो, अप्पाणमणुसासइ ॥
एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥
संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरम्परा ।
तम्हा संजोगसंबंध, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥

मैं एकाकी हूँ मेरे सिवाय मेरा कोई नहीं है, मैं भी किसी अन्य का नहीं हूँ । इस प्रकार के विचार से प्रेरित होकर दीनता का परित्याग करके अपनी आत्मा को अनुशासित करे । यह भी सोचे कि ज्ञान और दर्शनमय एक मात्र शाश्वत आत्मा ही मेरा है । इसके अतिरिक्त संसार के समस्त पदार्थ मुझसे भिन्न है, संयोग से प्राप्त हो गये है और बाह्य पदार्थों के इस संयोग के कारण ही जीव को दुःख की परम्परा प्राप्त हुई है । अनादिकाल से एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा जो दुःख उपस्थित होता रहता है, उसका मूल और कारण पर पदार्थों के साथ आत्मा का संयोग ही है । अब इस परम्परा का अन्त करने के लिए मैं मन, वचन, काया से इस संजोग का त्याग करता हूँ।

संथारा कब आवश्यक :– उपरोक्त प्रकार की आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर साधक सामाधिमरण अंगीकार करता है । किन्तु मानव जीवन अत्यन्त दुर्लभ है। आगम में चार दुर्लभ उपलब्धियाँ कही गई है। मानव जीवन उनमें परिगणित है । देवता भी इस जीवन की कामना करते हैं । अतएव निष्कारण जब मन में उमंग उठी तभी इसका अंत नहीं किया जा सकता । संयमशील साधक मनुष्य शरीर के माध्यम से आत्महित सिद्ध करता है और उसी उद्देश्य से इसका संरक्षण भी करता है । परन्तु जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए कि जिस ध्येय की पूर्ति के लिए शरीर का संरक्षण किया जाता है, उस ध्येय की पूर्ति में वह बाधक बन जाए तब उसका परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर होता है । प्राणान्तकारी कोई उपसर्ग आ जाए, दुर्भिक्ष के कारण जीवन का अन्त समीप जान पड़े, वद्धावस्था अथवा असाध्य रोग उत्पन्न हो जाए तो उस अवस्था में हाय-हाय करते हुए आर्तध्यान के वशीभूत होकर प्राण त्यागने की अपेक्षा समाधिपूर्वक स्वेच्छा से शरीर को त्याग देना ही उचित है । शरीर हमें त्यागे इसकी अपेक्षा यही बेहतर है कि हम स्वयं शरीर को त्याग दें । ऐसा करने से पूर्ण शान्ति और समभाव बना रहता है ।

समाधिमरण अंगीकार करने के पूर्व साधक को यदि अवसर मिलता है तो वह उसके लिए तैयारी कर लेता है । वह तैयारी संलेखना के रुप में होती है । काया और कषायों को कशतर करना संलेखना है । कभी कभी यह तैयारी बारह वर्ष पहले से प्रारंभ हो जाती है । ऐसी स्थिति में समाधिमरण को आत्मघात समझना विचार हीनता है । परघात की भाँति आत्मघात भी जिनागम के अनुसार घोर पाप है, नरक का कारण है । आत्मघात कषाय के तीव्र आवेश में किया जाता है जब कि समाधिमरण कषायों की उपशान्ति होने पर उच्चकोटी के समभाव की अवस्था में ही किया जा सकता है ।

समाधिमरण अनशन के तीन प्रकार है— (१) भक्तप्रत्याख्यान, (२) इंगितमरण और (३) पादपोपगमन । जिस समाधिमरण में साधक स्वयं शरीर की सार-संभाल करता है और दूसरों की भी सेवा स्वीकार कर सकता है, वह भक्तप्रत्याख्यान कहलाता है । इंगितमरण स्वीकार

करने वाला-स्वयं तो शरीर की सेवा करता है किन्तु किसी अन्य की सहायता अंगीकार नहीं करता । भक्तप्रत्याख्यान की अपेक्षा इसमें अधिक साहस और धैर्य की आवश्यकता होती है । किन्तु पादपोपगमन समाधिमरण तो साधक की चरम सीमा की कसौटी है । उसमें शरीर की सार संभाल न स्वयं की जाती है, न दूसरों के द्वारा कराई जाती है। उसे अंगीकार करने वाला साधक समस्त शरीर चेष्टाओं का परित्याग करके पादप(वक्ष) की कटी हुई शाखा के समान निश्चेष्ट, निश्चल हो जाता है । अत्यन्त धैर्यशील, सहनशील और साहसी साधक ही इस समाधिमरण को स्वीकार करते हैं ।

सार :- आत्मघात कषायों के उद्वेग से होता है या आर्तरौद्रध्यान से होता है जब कि संलेखना संथारा तो परम शांत एवं धर्म ध्यान के परिणामों से होता है । यही दोनों में मुख्य अंतर है।

मत्यु समय की पहिचान :-

अतिगाज नहीं अति बीज नहीं, मूत्र न खंडे धार ।
कर तो दीसे स्तंभ सा, हंसा चालन हार ॥

■ आत्मघात जीव की कषाय अवस्था का परिणाम है ।

■ संथारा करना ज्ञान एवं वैराग्य मय आत्मा की सर्वोच्च समभाव एवं समाधिमय अवस्था है ।

निबंध-१५

अबूझ कहावतों में संशोधन

अपनी झोंपडी में आग लगाना :- कोई भी श्रमण या श्रमणी समाज हित भावना से या श्रावक समुदाय की आवश्यकता आग्रह से कभी किंचित् संयम में अपवाद रूप दोष का सेवन करता है तो उतावले नामधारी ज्ञानी कह देते हैं कि "यह तो घर की झोंपड़ी में आग लगाकर दूसरों को ताप कर ठंडी उडाने के लिए कहने के समान मूर्खता है "

किन्तु इस प्रकार की उक्ति लगाना एक ढर्रे-बाजी है, अविवेक पूर्ण हैं, ज्ञान का अजीर्ण है ।

क्यों कि कहाँ तो संयम में किंचित एक देश रूप दोष लगाकर

महान संघ का जिन शासन का हित करना और कहाँ सम्पूर्ण झोंपड़ी जलाकर केवल ताप करना । इसमें आकाश पाताल का अंतर है तथापि भेड़ चाल से ऐसी कहावत लगा दी जाती है ।

यह कहावत तो तब लगती है जब कोई साधु छोटी-सी बात के लिए या किसी के अल्पतम उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए संयम छोड़ कर गहस्थ बन जाता है, सदा के लिए सम्पूर्ण संयम का नाश कर देता है जिस प्रकार कि झोपड़ी सदा के लिए नष्ट हो जाती है।

किन्तु विवेक पूर्वक या आज्ञा पूर्वक, अपवाद स्वरूप, संघ या शासन हित अल्पतम दोष लगाने एवं प्रायश्चित्त कर शुद्धि करने की भावना वाले को खुद की झोंपड़ी जलाने की उक्ति से लांछित करना व्यक्तिगत डेढ़ होशियारी या अबूझ वत्ति ही है ।

वास्तव में तो उक्त संघ हित के लिए विवेकयुक्त दोष सेवन करना दूसरों के लिए खुद का संचित और जीवन का आवश्यक पदार्थ शरीर का आधा एक किलो खून अत्यावश्यक परिस्थिति में देने के समान है जिससे कमजोरी आ सकती है और उसकी पुनः पूर्ति न करे और बारंबार खून देता रहे, अत्यावश्यक या अनावश्यक परिस्थिति में खून निकालता रहे, देता रहे तो वह अविवेकी वतिवाला होगा और वही निरर्थक (नाहक) शरीर का नाश कर बैठने वाला होगा । उसी प्रकार जो विशेष परिस्थिति में दोष लगाकर पुनः शुद्धि करने के अतिरिक्त, बारम्बार दोष लगाता रहे या अत्यन्त आगाढ़ अपवाद परिस्थिति के बिना ही संयम में दोष लगाता रहे और किसी प्रकार शुद्धि न करे, न ही उसकी खेद विवेक और शुद्धि करने का भाव रखे तो उसका भी संयम जीवन नष्ट होते देर नहीं लगती है अर्थात् ऐसा करने वाले का क्रमशः संयम जीवन नष्ट हो जाता है ।

सार यह है कि तिल और ताड़ को एक सरीखा करके भेड़ चाल से किसी भी उक्ति से लांछित करना गलत है एवं अपनी आत्मा को भारी करना है । अतः उपरोक्त न्याय एवं दृष्टांत को समझ कर विवेक पूर्वक चिन्तन एवं प्ररूपण करना चाहिये ।

कुम्भार वाला मिच्छामि दुक्कडं :- कोई श्रमण परिस्थितिवश, संघ हित या शासन हित में एक बार या अनेक बार किंचित दोष

लगाकर प्रायश्चित्त लेता है तो उसे कह दिया जाता है कि यह तो "कुम्भार वाला मिच्छामि दुक्कडं" है, इससे कोई लाभ नहीं है । यह भी भेड़ चाल से असत्याक्षेप लगाना मात्र है । क्यों कि कुंभार के दृष्टांत वाला मिच्छामि दुक्कडं और प्रवत्ति तो कुतूहल और मूर्खता भरी है और निरर्थक और निष्प्रयोजन वत्ति है और उसके मिच्छामि दुक्कडं में खेद, पश्चाताप, प्रायश्चित का कोई भाव नहीं होता है, केवल मजाक करना मात्र ही उसका ध्येय होता है, ऐसे जघन्य घणित कत्य करने वाले में और विवेक युक्त प्रायश्चित करके पुनः आवश्यक होने पर उस कत्य का विवेक पूर्वक सेवन कर प्रायश्चित लेने में भी आकाश पाताल का अंतर है इसे एक कर देना भी अबूझ वत्ति है ।

जब अपने शरीर के लिए साधु एक वर्ष में अनेकों बार दोष लगावे, अनेकों बार आपरेशन कराते रहे और बारम्बार प्रायश्चित भी ले, थोडे दिन बाद शारीरिक परिस्थिति से फिर भी कोई दोष लगावे एवं प्रायश्चित्त ले तो भी उन्हें अपने मान्य गच्छ गुरु का होने से कुम्भार वाला मिच्छामि दुक्कडं नहीं कहा जाता या नहीं समझा जाता किन्तु अपने मान्य गच्छ गुरु से भिन्न श्रमण की उससे भी अल्पतम दोष की प्रवत्ति हो तो भी कुम्भार वाला मिच्छामि दुक्कडं कह दिया जाता है यह एक कषायजन्य प्रवति है । हर व्यक्ति की अपनी अपवादिक परिस्थिति अलग-अलग होती है । शरीर के अतिरिक्त अन्य भी तो अनेक आपवादिक परिस्थितियाँ होती ही हैं । उसका गीतार्थ की निश्रा से या स्वयं गीतार्थ के द्वारा निर्णय करके दोष सेवन करना अपवाद मार्ग ही कहलाएगा । परिस्थितिवश एक बार या अनेक बार भी दोष सेवन हो तो उसकी भी शुद्धि होना व्य. उ. १ में तथा निशीथ उ. २० में बताया है । फिर भी कोई अपने मन कल्पना से अनेक बार दोष सेवन को एकान्त दृष्टि से केवल "कुम्भार वाला मिच्छामि दुक्कडं" कह कर शुद्धि आराधना न हो सके ऐसा कहे तो वह उसकी मूर्खता है एवं आगम निरपेक्ष अबूंझ प्ररूपणा है । उसे तो व्यवहार सूत्र उद्दे. १ सूत्र १ से १८ तथा निशीथ सूत्र उद्दे. २० सूत्र १ से १८ का एवं संपूर्ण बीसवें उद्देशक को विद्वान वाचना प्रमुख से समझने का

प्रयत्न करना चाहिये कि कितनी बार दोष सेवन की भी शुद्धि आलोचना प्रायश्चित्त और आरोपणा आदि होती है । ऐसे स्यादवादमय जिन शासन में मन कल्पित एकांतिक प्ररूपणाएँ करना और भेड़ चाल से अबूझ उक्तियों द्वारा आक्षेप करना सर्वथा अनुचित है । ऐसी होशियारी की वत्ति को सरलता और समभाव धारण करके त्यागना ही श्रेयश्कर है । ऐसा करने से स्वयं का उत्कर्ष और अन्य का अपकर्ष वत्ति से कर्मबंध का अभाव होगा और उससे आत्मा का अहित रुकेगा ।

अब, सुज्ञ पाठकों को यही समझना है कि बिना विचारे भेड़ चाल से चलने वाली उक्तियाँ लगाकर अपनी आत्मा का अहित नहीं करना चाहिये एवं दूसरों को भी निरर्थक अपमानित नहीं करना चाहिये ।

निबंध–१६

उदक–पेढालपुत्र एवं गौतमस्वामी की चर्चा

प्रश्न– उदक मुनि ने गौतम स्वामी की स्वीकृति मिलने पर कौन सा प्रश्न किया ?

उत्तर– उदकमुनि का प्रश्न तात्त्विक उलझन युक्त या भंग जालमय नहीं था किंतु सीधा सरल एवं श्रावक जीवन से संबंधित था । सामान्य प्रश्न होते हुए भी शीघ्र समाधान न मिलने से और उदय कर्म संयोग से वह क्लिष्ट बन जाता है एवं क्रमशः एकपक्षीय चिंतन से आग्रह भरा बन जाता है । श्रावक की स्थूल हिंसा त्याग व्रत में निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा का त्याग होता है । उदकमुनि का चिंतन ऐसा था कि त्रस जीव की हिंसा के त्याग से वर्तमान में त्रस पर्याय में मौजूद सभी जीवों को मारने का प्रत्याख्यान हो जाता है फिर भले वह जीव स्थावरकाय में भी चला जाय तो भी वह श्रावक उस जीवों की हिंसा नहीं कर सकता और एकेन्द्रिय रूप उस त्रस जीव की जो उस श्रावक से हिंसा होगी तो उसका वह प्रत्याख्यान भंग हो जाता है । अतः केवल **त्रस जीव की हिंसा का त्याग** ऐसा नहीं बोलकर **त्रसभूत** (**त्रस अवस्था में रहे हुए**) **जीवों की हिंसा का त्याग** ऐसा बोलकर प्रत्याख्यान कराना चाहिये ।

समाधान– श्री गौतम स्वामी ने उदकमुनि की उलझन को समझ लिया और वे उसे समझाने लगे कि प्रत्याख्यान के पीछे जो आशय होता है वही उस शब्द से प्रत्याख्यान होता है । अतः त्रस जीवों की हिंसा का त्याग कराने वाले मुनि का एवं श्रावक का आशय त्रसनाम कर्म वाले जीवों से ही है । जब उन जीवों के त्रस नामकर्म का उदय नहीं रहेगा स्थावर नामकर्म का उदय होगा, तब उनकी हिंसा का त्याग नहीं रहने से उस स्थावर जीवों की हिंसा से श्रावक का व्रत भंग नहीं होगा और व्रत कराने वाला भी दुष्प्रत्याख्यान कराने का भागी नहीं होगा । इसी बात को स्पष्ट करते हुए गौतम स्वामी ने दृष्टांत के साथ समझाया कि किसी व्यक्ति को मुनि,श्रमण,सन्यासी की हिंसा करने का त्याग है । यदि उस समय कोई एक मुनि संयम त्याग कर पुनः गृहस्थ बन गया तो फिर उसकी हिंसा का त्याग उस व्यक्ति को नहीं रहेगा और यदि वह गृहस्थ पुनः दीक्षा ग्रहण कर लेता है तो फिर वह व्यक्ति अपने प्रत्याख्यान अनुसार उसकी हिंसा नहीं कर सकेगा । अतः इस प्रत्याख्यान में मुनिभूत ऐसा बोले बिना भी आशय स्पष्ट हो जाता है । वैसे ही **त्रस** के साथ भूत शब्द नहीं बोलने पर भी त्रसनाम कर्म वाले एवं त्रस पर्याय में स्थित जो भी जीव हो उनकी हिंसा का त्याग रहेगा । अतः दुष्प्रत्याख्यान होने का कोई कारण नहीं है ।

प्रश्न– उदकमुनि के अन्य और क्या प्रश्न थे ?

उत्तर– अपनी उलझन युक्त अवस्था में उनका यह भी तर्क था कि त्रस में रहे जीव सभी स्थावर काय में चले जायेंगे तो श्रावक व्रत रहित हो जायेगा ?

समाधान– गौतम स्वामीने समझाया कि श्रावक के क्षेत्र सीमा होती है । उसके बाहर त्रस स्थावर सभी जीवों की हिंसा का त्याग होता है । और सीमा के अंदर भी स्थावर जीवों की हिंसा की मर्यादा होती है। अतः श्रावक हिंसा के त्याग रहित कभी नहीं बनता । श्रावक की उम्र संख्याता वर्ष की ही होती है इतनी सी उम्र में समस्त त्रस जीव स्थावर बन जाय यह भी संभव नहीं है ।

इस प्रकार प्रथम समाधान में समझाया गया कि त्रस जीवा की हिंसा का त्याग करना दुष्प्रत्याख्यान नहीं है और त्रस के साथ भूत

शब्द लगाना आवश्यक नहीं है एवं योग्य भी नहीं है । और दूसरे समाधान में समझाया गया है बारह व्रतधारी श्रावक के विविध प्रकार की हिंसा का जो त्याग होता है उसमें त्याग ज्यादा है और आगार कम है दिशाव्रत और देशावकासिक व्रत की अपेक्षा ।

प्रश्न– क्या त्रस जीवों की हिंसा का त्याग कराने में और स्थावर जीवों की छूट रखने से साधु को उन जीवों की हिंसा की अनुमोदना होती है ?

उत्तर– उदकमुनि के इस प्रश्न के समाधान में मूलपाठ में प्रयुक्त **गाथापति चोर विमोक्षण** न्याय का अर्थ विश्लेषण व्याख्याकार ने कथानक द्वारा समझाया है कि कोई गाथापति के छ पुत्रों को किसी अपराध में राजा ने फाँसी की सजा घोषित कर दी । गाथापति ने स्वयं उपस्थित होकर राजा से अत्यधिक अनुनय विनय करी । राजा नहीं माना । फिर भी उसने अपना प्रयत्न चालू रखा । अंत में राजा ने एक पुत्र को छोडना स्वीकार किया । सेठ ने ज्येष्ठ पुत्र को जीवित बचा लिया । फिर भी सेठ जिस तरह पांच पुत्रों की हिंसा का अनुमोदक नहीं कहलाता है । वैसी ही परिस्थिति से श्रावकों के स्थूल हिंसा का त्याग कराने में अवशेष हिंसा के प्रेरक या अनुमोदक वे श्रमण नहीं बन जाते । श्रावक अपनी शक्ति अनुसार ज्यादा से ज्यादा हिंसा का त्याग करे यही भाव श्रमणों का होता है ।अतः श्रमण ऐसे प्रत्याख्यान कराने पर अपनी श्रमण मर्यादा से च्युत नहीं कहला सकते ।

गौतम स्वामी की उदारता और परिश्रम का परिणाम :–

उत्तर– उदक मुनि की सारी समस्या हल हो गई । उन्हें समझ में आ गया कि जो भी प्रत्याख्यान कराने की पद्धति है वह गलत नहीं है । त्रसभूत लगाना जरूरी नहीं है और श्रावक के गृहस्थ जीवन की परिस्थिति अनुसार मुनि उसे शक्य प्रत्याख्यान आगार सहित करवा सकते हैं । समाधान हो जाने पर उदक मुनि ने गौतम स्वामी को श्रद्धा पूर्वक वंदन व्यवहार किया और भगवान महावीर के शासन में सम्मिलित होने के अर्थात् पुनः दीक्षित होने के भाव व्यक्त किये । तब गौतम स्वामी उस गृह प्रदेश(कमरे) में से निकलकर उदक मुनि को लेकर बगीचे में भगवान की सेवा में पहुँच गये । फिर भगवान महावीर की

सेवा में उदकमुनि ने चातुर्याम धर्म से पंच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया एवं क्रमशः आत्मकल्याण की साधना में लीन बन गये । इसके बाद में उदकमुनि की गति का वर्णन प्राप्त नहीं है । शक्यता मोक्ष गति की अधिक लगती है । ***[सूयगडांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध के अंतिम (सातवें) अध्ययन में यह संवाद है]***

निबंध-१७

श्रेणिक पुत्र मेघकुमार के पांच भव

भगवान ने मेघ मुनि को उसके दो पूर्व भवों का विवरण सुनाया । यहाँ से तीसरे भव में हे मेघ ! तूँ हजार हाथी-हाथिनियों का अधिपति **समेरुप्रभ** नामका हाथी था । एक समय वन में दावानल प्रकटा । अग्नि से बचने के लिये समस्त प्राणी अपने प्राण बचाने इधर से उधर भागने लगे । तूँ भी अपने यूथ से बिछुड़ गया । अकेला ही एक सरोवर पर पहुँचा । पानी पीने की आशा से उसमें उतरा । कीचड़ में फँस गया, पानी तक पहुँच नहीं सका । वृद्ध जर्जरित १२० वर्ष की तेरी काया थी । प्रयत्न करने पर पुनः बाहर भी नहीं निकल सका किंतु अधिक- अधिक कीचड़ में फँसता गया । उस समय एक जवान हाथी पानी पीने वहाँ आया । जिसे तूँ ने अपने झुंड में से बलपूर्वक निकाल दिया था । तुझे देखते ही उसने पुराने वैर को याद किया, तीक्ष्ण दांतों से तीन बार प्रहार किया फिर पानी पीकर चला गया । उस प्रहार से तुझे प्रचंड़ वेदना हुई जिस सात दिन-रात सहन करता हुआ मर कर तूँ पुनः जंगल में **मेरुप्रभ** हाथी बना ।

इस बार भी तूँ सात सौ हाथियों का अधिपति बना एवं सुख पूर्वक रहने लगा । एक बार जंगल में दावानल प्रगटा जिसे देखकर विचार करते-करते तुझे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, पूर्वभव को स्पष्ट देखने लगा । बारंबार होनेवाले दावानल से बचने का उपाय ढूंढ कर तूँने अन्य साथियों के सहयोग से एक योजन प्रमाण गोलाकर क्षेत्र को साफ करके वृक्षों से रहित मेदान बना दिया। ताकि दावानल के समय जंगल के पशु इस मैदान में आकर निर्भय एवं सुरक्षित रह सके । यथासमय फिर दावानल प्रगटा । सभी प्राणी सुरक्षित उस मैदान में पहुँच गये ।

हे मेघ ! तूँ भी उस मैदान में पहुँचकर स्थान प्राप्त कर खड़ा हो गया। मैदान खचाखच भर गया था। धक्का-धक्की हो भी रही थी। तूँने खाज करने के लिये एक पाँव ऊपर उठाया। उसी समय धक्के खाते-खाते एक खरगोस तेरे उस पाँव की जगह में आकर बैठ गया। तूँ वापिस पाँव रखने लगा तो खरगोश को देखकर उसकी अनुकंपा के लिये तूने पाँव अधर ही रखा। २-३ दिन से दावानल शांत हुआ। सभी पशु-पक्षी वहाँ से निकल गये। तूँने भी चलने के लिये पाँव नीचे रखने का प्रयत्न किया किंतु पाँव तीन दिन में अकड़ जाने से हे मेघ ! तूँ धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। तब तेरे शरीर में घोर वेदना उत्पन्न हुई। तीन दिन उस वेदना को वेदता हुआ १०० वर्ष की आयु पूर्ण करके श्रेणिक राजा की धारणी राणी की कुक्षी में पुत्र रूप में तूँ उत्पन्न हुआ।

हे मेघ ! पशु योनि में एक छोटे प्राणी के लिये तूँने कितना अपार कष्ट तीन दिन सहन किया एवं पूर्व भव में शत्रु हाथी के प्रहार से उत्पन्न महावेदना को सात दिन सहन किया, ऐसे ही भवोभव में जीव अनादि से महादुःखों को भुगतता आ रहा है। अब मानव भव पाकर तूँ युवावस्था में स्वस्थ समर्थ शरीर संपन्न होकर सर्व दुःखमुक्त कराने वाली संयम यात्रा में थोड़े से कष्टों को सम्यक् सहन नहीं कर पाया। इस अपनी पूर्वभव की घटना को भगवान के मुख से सुनकर मेघ मुनि को शुभ परिणामों से, प्रशस्त अध्यवसायों से एवं लेश्याओं की विशुद्धि से जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। वह स्वयं प्रत्यक्ष अपने ही ज्ञान से भगवान से सुना वैसा ही अपना पूर्व भव देखने-जानने लगा। इस प्रकार भगवान के द्वारा पूर्वभव स्मरण कराने से उसका वैराग्य पुनः कई गुणा बढ़ गया। वह संयम भावों में स्थिर हो गया। आनंदाश्रुओं युक्त होकर भगवान से वंदन नमस्कार कर पुनः दीक्षा देने का निवेदन किया और सदा के लिये दो आंखों की रक्षा के अतिरिक्त संपूर्ण शरीर संयम एवं संयमियों की सेवा में न्योछावर कर दिया। इस प्रकार भगवान ने मेघ मुनि को सहज ही संयम भावों में पुनः स्थिर कर दिया था।

मेघमुनि ने क्रमशः ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। उपवास आदि मासखमण पर्यंत तप से आत्मा को भावित करते हुए संयम म विचरण करने लगे। यथासमय उन्होंने(भगवती श०२ में वर्णित स्कंधक

के समान) भिक्षु की ११ प्रतिमाओं की भी आराधना करी । गुणरत्न संवत्सर तप भी किया । फिर विविध तप मासखमण पर्यंत करते रहे। अंत में स्कंधक के समान ही शरीर हाड़पिंजर सा बन गया । फिर राजगृही के बाहर **विपुल** पर्वत पर पादपोपगमन संथारा किया। पर्वत पर चढ़ना एवं संथारा विधि का वर्णन स्कंधक के समान समझना । एक महीने के संथारे से १२ वर्ष की कुल दीक्षा पर्याय से आयुष्य पूर्ण कर विजय नामक अनुत्तर विमान में ३३ सागरोपम की स्थिति में उत्पन्न हुए । वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में मानव भव प्राप्त कर तप-संयम का आराधन कर मुक्ति प्राप्त करेंगे ।

निबंध–१८

मेघकुमार अध्ययन से प्राप्त शिक्षा तत्त्व

(१) जीव ने अनेक भवों में विविध वेदनाएँ सहन की है । अतः इस मानव भव को पाकर धर्म साधना करने में कष्टों से कभी भी नहीं धबराना चाहिए ।

(२) पशु या मनुष्य किसी को भी अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हो सकता है ।

(३) पुनर्जन्म एवं कर्म सिद्धांत की सम्यक् आस्था रखनी चाहिये ।

(४) दुख की घड़ियों में भी विवेकपूर्ण आवश्यक कर्तव्यों में च्युत नहीं होना चाहिये । जैसे कि मेघमुनि संयम में अस्थिरचित्त हो जाने पर भी अचानक ही कोई प्रवृत्ति न करते हुए, भगवान की सेवा में विनय पूर्वक निवेदन करने के लिये पहुँच गये ।

(५) किसी को भी मार्गच्युत हुआ जान कर योग्य उपायों से कुशलता पूर्वक पुनः सदगुणों में उसे तत्पर बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। किंतु निंदा, अवहेलना, तिरस्कार आदि निंदनीय प्रवृत्तियों का आचरण कदापि नहीं करना चाहिये ।

(६) अपनी भूलों का पश्चात्ताप करके उन्हें शीघ्र सुधार लेना चाहिये किंतु छिपाने का प्रयत्न कदापि नहीं करना चाहिये ।

(७) अनुकंपा और दया भाव यह आत्मोन्नति का एक उत्तम गुण है। इसे समकित का चौथा लक्षण कहा गया है । प्रसिद्ध कवि तुलसीदासजी

के शब्दों में यह धर्म का मूल है । उक्त कथानक में हाथी जैसे एक पशु ने दया भाव के निमित्त से ही संसार भ्रमण के मार्ग की जगह मोक्ष मार्ग को प्राप्त कर लिया । हृदय कि सच्ची अनुकंपा और उस पर दृढ़ रहने का यह परिणाम है ।

(८) आत्मा अनंत शाश्वत तत्व है । रागद्वेष आदि विकारों से ग्रस्त होने के कारण वह विभिन्न अवस्थाओं में जन्म मरण करता है । एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना ही संसरण या संसार कहलाता है । कभी आत्मा अधोगति के पाताल में तो कभी उच्चगति के शिखर पर पहुँच जाती है । इस उतार चढ़ाव का मूल कारण स्वयं आत्मा ही है। संयोग मिलने पर आत्मा जब अपने सच्चे स्वरूप को समझ लेता है तब अनुकूल पुरुषार्थ कर विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करके शाश्वत सुखों का स्वामी बन जाता है । मेघकुमार के जीवन में यही घटित हुआ । हाथी से मानव, फिर मुनि, तत्पश्चात देव बना और क्रमशः परमात्म पद को प्राप्त करेगा ।

(९) **संयम से मेघमुनि के चित्त का उखड़ जाना,** यह इस अध्ययन का एक प्रमुख विषय है, भगवान के द्वारा पूर्व भव सुना कर संयम में स्थिर करने के प्रेरक विषय का मूल निमित्त भी यही है ।अतः अध्ययन का नाम **मेघकुमार** न होकर **उक्खित्तणाय**(उत्क्षिप्त ज्ञात)रखा गया है ।

निबंध-१९

धन्य सार्थवाह के जीवन से प्राप्त शिक्षा-तत्त्व

शास्त्र में दृष्टांत रूप कथानक विशाल भी हो सकते हैं किंतु उसमें कोई एक छोटा सा प्रेरणा स्थल लक्षित रहता है। इस कथानक में भी सूत्रकार ने संयमशील साधक अपने शरीर का संरक्षण किस वृत्ति से, किस भावों से करे, इस तत्त्व को समझने के लिये संकेत किया है ।

जिस तरह धन्य सेठ ने एक परिस्थिति को पार करने के लिये चोर को आहार दिया था किंतु किसी भी प्रकार का अनुराग या आनंद उस आहार देने में धन्य के मानस में तनिक भी नहीं था । क्यों कि वह

चोर को अपना बहुत बड़ा नुकशान करने वाला जान रहा था, पुत्र का हत्यारा मान रहा था, बस इसी मानस के कारण चोर को आहार देने में उसकी पूर्ण उदासीनता और लाचारी थी ।

साधक भी अपने इस शरीर का संरक्षण करने में ऐसे ही लाचारी और उदासीनता के भाव रखे । मोक्ष साधक संयम के पालन में इस मानव देह का साथ सहकार लेना आवश्यक समझकर इसका संरक्षण करे । वह यह माने, समझे कि अनादि काल से जीव अपने प्राप्त शरीर के संरक्षण और मोह में लीन रहता है । जिससे यह शरीर आत्मा के गुणों का नाश करने में, कर्मों से आच्छादि करवाने में मुख्य कारण बना है, यह आत्मा का अधिकतम अहित करने में निमित्त रहा हुआ है । फिर भी आत्मशांति- मोक्षप्राप्ति में इसका सहाय लेना भी जरूरी है ।

अतः उम्रपर्यंत यह संयम साधना में सहायक बना रहे, बाधक न बने, उस लक्ष्य और विवेक से, इस शरीर का साथ निभाने के लिये कुछ संयम के समय का भोग देना आवश्यक है ऐसा समझ कर, साधक अंतर मन में इससे उदासीन एवं सावधान रहता हुआ वर्तन करे किंतु इसकी सेवा में तल्लीन नहीं बने । इसे सजाने में आनंद नहीं माने । ज्ञान आत्मा से इस शरीर को कर्मबंध में मददगार और दुःख परंपरावर्धक समझ कर सावधान रहे और इसके साथ एक बंधन में रहा हूँ अतः साधना से मोक्ष पहुँचने तक कुछ संविभाग रूप में, इसकी सार संभाल देखरेख करनी भी जरूरी पड़ गई है । इसलिये वह तो करना पड़ेगा, उम्र पर्यंत इसका साथ निभाना ही पड़ेगा, ऐसा समझ कर जरूरी समय और जरूरी प्रवृत्ति इसके लिये विवेक एवं उदासीनता से समझ पूर्वक करे परंतु उन शरीर सेवा सजावट की प्रवृत्तियों–वृत्तियों में कभी भी आनन्द नहीं माने । जैसे कि धन्य सेठ ने चोर को आहार देने में कोई प्रकार का आनंद नहीं माना था । संक्षेप में साधक शरीर की आहारादि से सार संभाल करते हुए भी अंतरमन में शरीर के प्रति अनुराग प्रेम आसक्ति नहीं रखे । इसे मूल में आत्मा के गुणों में बहुत बड़ा नुकशान करने वाला मानता हुआ इसके साथ वर्तन करे तथा एक दिन इसके संगाथ-संगति से सदा के लिये मुक्त होना है अर्थात् संलेखना-संथारा स्वीकार कर इस देह का पूर्ण रूप से त्याग करना है, ऐसा मानस निरंतर बनाये रखे।

निबंध-२०

दीक्षार्थी के प्रति कृष्णवासुदेव का कर्तव्य

द्वारिका नगरी में बाईसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि का पदार्पण हुआ । वासुदेवकृष्ण अपने विशाल परिवार के साथ प्रभु की उपासना करने और धर्मदेशना श्रवण करने पहुँचे । द्वारिका के नर-नारी भी गये । द्वारिका में थावच्चा नामक एक संपन्न गृहस्थ महिला थी। उसका इकलौता पुत्र थावच्चापुत्र के नाम से ही अभिहित होता था। वह भी भगवान की धर्म देशना श्रवण करने पहुँचा । धर्मदेशना सुनी और वैराग्य के रंग में रंग गया । माता ने बहुत समझाया, आजीजी की, किन्तु थावच्चापुत्र अपने निश्चय पर अटल रहा। अंत में विवश होकर माता ने दीक्षा महोत्सव करने का प्रस्ताव किया, जिसे उसने मौनभाव से स्वीकार किया।

दीक्षा महोत्सव के लिये माता थावच्चा छत्र, चामर आदि मांगने कृष्ण महाराज के पास गई तो उन्होंने स्वयं अपनी ओर से महोत्सव मनाने का प्रस्ताव रखा । थावच्चापुत्र के वैराग्य की परीक्षा करने कृष्ण स्वयं उसके घर पर गए । सोलह हजार राजाओं के राजा अर्द्ध भरत क्षेत्र के अधिपति कृष्ण सहज रूप से थावच्चापुत्र के घर जा पहुँचना उनकी असाधारण महत्ता और निरहंकारिता एवं धार्मिकता का द्योतक है । श्रीकृष्ण ने थावच्चापुत्र को कहा कि तुम दीक्षा मत लो । मेरी छत्रछाया में तुम सुखपूर्वक रहो, तुम्हें कोई भी दुःख कष्ट नहीं होगा। मैं तुम्हारी सब बाधा पीड़ा संकटों से तुम्हारा निवारण करूँगा, केवल तुम्हारे ऊपर से निकलती हुई हवा को रोक नहीं सकता, उसके सिवाय कोई भी तुम्हें तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचा सकेगा । अतः तुम यह दीक्षा का विचार छोड़कर मेरी बाहुछाया में मनुष्य संबंधी सुखभोग करते हुए रहो ।

थावच्चा पुत्र ने कहा कि हे देवानुप्रिय ! यदि आती हुई मेरी मृत्यु को रोकने में आप समर्थ हो एवं आने वाले बुढ़ापे को आप निवारण करने में सक्षम हो सकते हो तो मैं आपकी छत्रछाया म सुखभोग करते हुए रह सकता हूँ । कृष्ण वासुदेव ने कहा कि हे

थावच्चा पुत्र! ऐसा तो कोई देव भी नहीं कर सकता है अर्थात् मृत्यु और बुढ़ापे से तो देव भी रक्षा नहीं कर सकता । यह तो कर्म क्षय करने से ही संभव है । तब थावच्चापुत्र ने कहा कि यदि इन दोनों का(जरा और मृत्यु को) निवारण तो अपने कर्मों के क्षय से ही हो सकता है तो हे देवानुप्रिये ! मं अज्ञान, मिथ्यात्व, अविरति एवं कषाय से संचित पूर्व कर्मों का क्षय करने के लिये भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा लेना चाहता हूँ । श्रीकृष्ण को थावच्चापुत्र की परीक्षा के पश्चात् जब विश्वास हो गया कि उसका वैराग्य आंतरिक है, सच्चा है तब उन्होंने द्वारिका नगरी में आम घोषणा करवा दी कि– ***"भगवान अरिष्टनेमि के निकट दीक्षित होने वालों के आश्रितजनों के पालन पोषण का संपूर्ण उत्तरदायित्व कृष्ण वासुदेव वहन करेंगे । थावच्चा पुत्र के साथ जो भी दीक्षित होना चाहे, निश्चिंत होकर दीक्षा ग्रहण करे।"*** घोषणा सुनकर एक हजार पुरुष थावच्चापुत्र के साथ प्रव्रजित हुए ।

इस प्रकार ज्ञातासूत्र के इस पाँचवें अध्ययन से श्रीकृष्ण महाराज की अनुपम धार्मिकता एवं धर्मदलाली–दीक्षा दलाली करने का आदर्श गुण प्रकट होता है कि वे स्वयं चतुरंगिणी सेना के साथ भगवान के दर्शन करने एवं प्रवचन सुनने गये तथा थावच्चा गाथापत्नी के द्वारा छत्र-चामर दीक्षा महोत्सव के लिये मांगने पर उसे कह दिया कि तुम सुखपूर्वक आराम से रहो, मैं स्वयं तुम्हारे पुत्र का दीक्षा महोत्सव करूँगा । ऐसा कहकर वे अपनी चतुरंगिणी सेना के ठाठ के साथ शीघ्र ही थावच्चा सेठाणी के घर पहुँच गये थे और दीक्षा नहीं लेने के अपने सुझाव को थावच्चापुत्र के सचोट जवाब से **नम्रता के साथ** बदल भी दिया एवं उसकी दीक्षा में संमत हो गये । जो व्यक्ति स्वयं धर्मिष्ठ नहीं होता है फिर केवल परीक्षा लेने का ढ़ोंग करता है वह तो अंत तक कुतर्क करता ही रहता है और दीक्षा लेने और देने वाले दोनों को भलाबुरा कहता रहता है । परंतु कृष्ण वासुदेव तो धर्मनिष्ठ और धर्मप्रेमी थे । दीक्षा लेने को और दीक्षा लेनेवाले को मन में कभी खराब नहीं समझते थे । अतः वड़ील का कर्तव्यपालन मात्र के लिये उन्होंने दीक्षा नहीं लेने का और मानुषिक सुखभोगने का थावच्चापुत्र को सुझाव दिया था ।

निबंध-२१

शैलक अध्ययन से प्राप्त शिक्षा एवं तत्त्व

(१) "थावच्चा स्त्री" का कृष्ण वासुदेव के दरबार में जाना और कृष्ण का उसके घर आना एक महत्वशील घटना है ।

(२) संयम की वार्ता सुनकर उत्साहित होना उसके घर जाकर वैराग्य की परीक्षा करना एवं सारे शहर में प्रेरणा करके एक हजार पुरुषों का दीक्षा महोत्सव करना इत्यादि आचरण तीन खंड के स्वामी श्रीकृष्ण वासुदेव की अनन्य धर्मश्रद्धा एवं विवेक को प्रकट करते हैं । यह विवेक सभी के लिये आदर्शभूत है अर्थात् दीक्षा लेने वाले के प्रति क्या भाव एवं व्यवहार रखना चाहिए, यह इस घटना से सीखना चाहिए । वर्तमान में परंपरा की शान व्यक्ति को पंगु बना देती है । सही समझने के बाद भी आज के महाज्ञानी परंपरा के आगे लाचार बन जाते हैं । उन्हे इन आगम उदाहरणों से कुछ सुधार करना चाहिये।

(३) सांख्य मतानुयायी सुदर्शन ने जैन मुनि से चर्चा कर श्रावक धर्म स्वीकारा और उसके गुरु शुक संन्यासी ने चर्चा करके संयम अंगीकार किया । ऋजु और प्राज्ञ जीवों के इन उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि मान कषाय से अभिभूत होते हुए भी वे आत्माएँ दुराग्रही नहीं होती है । सत्य समझ में आते ही अपना सर्वस्व परिवर्तन कर देते हैं । हमें भी स्वाभिमान के साथ सरल एवं नम्र बनकर दुराग्रहों से दूर रहना चाहिए अर्थात् सत्य समझ में आ जाने के बाद उसे स्वीकार करने में हिचकिचाट नहीं करना चाहिए । चाहे वह कोई परंपरा हो या सिद्धांत ।

(४) समय पर शिष्य भी गुरु का कर्तव्य कर देता है । पंथक शिष्य की विनय भक्ति, सेवा, सत्यनिष्ठा ने शैलक राजर्षि का अधःपतन रोक दिया । (५) संयम से गिरते हुए साधक का तिरस्कार न करते हुए उसकी योग्य संभाल करने से उसका उत्थान संभव हो सकता है । अतः गुरु हो या शिष्य, विवेक युक्त निर्णय सर्वत्र सभी को आवश्यक है । तिरस्कार वृत्ति हेय एवं अनाचरणीय है ।

(६) अति वेग से गिरने वाला व्यक्ति भी कभी बच सकता है । अतः योग्य संभाल और सहानुभूति रखना भी कर्तव्य समझना चाहिये ।

(७) जीवन किसी भी ढ़र्रे में चल रहा हो तो भी पुनर्चिन्तन एवं नया मोड़ देने की गुंजाइस रखनी चाहिए । आत्मा को हठाग्रह और दुराग्रह में नहीं पहुचाना चाहिये ।

(८) औषध सेवन भी संयम का एक खतरा है । इससे भी असंयम भाव एवं प्रमाद भाव उत्पन्न हो सकता है । अतः साधक को औषध सेवन की रुचि से निवृत्त होकर तप संयम एवं विवेक युक्त साधना करनी चाहिए । शैलक जैसे चरम शरीरी तपस्वी साधक भी औषध सेवन के निमित्त से संयम में शिथिल बन गये थे ।

(९) शैलक राजर्षि मध्यम तीर्थंकर के शासन में हुए थे । उनके लिये मासकल्प आदि का नियम पालन आवश्यक नहीं था । इसी कारण ५००श्रमण वहाँ ठहरे थे । कथानक के आधार से अंतिम तीर्थंकर के शासन में नकल नहीं करनी चाहिए, सेवा में जितने श्रमण आवश्यक हो उनके अतिरिक्त छोटे बड़े किसी भी श्रमणों को अकारण कल्प मर्यादा से अधिक नहीं ठहरना चाहिए ।

(१०) शैलक ५०० से, शुक संन्यासी १००० से और थावच्चापुत्र १००० से दीक्षित हुए । आगमों का अध्ययन पूर्ण होने के बाद गुरु ने उन्हें साथ में दीक्षितों को शिष्य रूप में प्रदान किया था । दीक्षा के प्रथम दिन से वे साथ में दीक्षित संत उनके शिष्य नहीं कहलाते है, किंतु बाद में गुरु के देने पर ही उनके शिष्य कहलाते हैं । तभी वे उनको साथ लेकर स्वतंत्र विचरण करने लगते हैं ।आज तो कोई दीक्षा लेते ही गुरु बन जाता है यह अनागमिक तरीका है, जिसे इस अध्ययन के मूलपाठ से भलीभाँति समझने की आवश्यकता है कि आगम अध्ययन का कोर्स पूर्ण कर बहुश्रुत योग्यता संपन्न होने पर ही शिष्य किये जाने चाहिये ।

निबंध–२२

मल्लीभगवती के ३ भवों का अद्भुत वर्णन

इस अवसर्पिणी काल में क्रमशः २४ तीर्थंकर हुए हैं । उनमें

१९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ भगवान हुए हैं। उनका जीवन चरित्र इस अध्ययन में २ पूर्वभवों के साथ वर्णित है ।

पश्चिम महाविदेहक्षेत्र की २४वों सलिलावती विजय में बलराजा का पुत्र महाबल था । बलराजा ने दीक्षा लेकर के आत्म साधना कर मुक्ति प्राप्त करी । फिर महाबल राजा बना । उसके छः बालमित्र राजा थे, वे साथ में खेले बड़े हुए थे । वे सातों आपस में नियमबद्ध थे कि कोई भी विशेष कार्य करेंगे तो सभी साथ में रहेंगे । अतः महाबल राजा को वैराग्य पैदा होने पर सातों ने साथ में दीक्षा ली। उग्र तप भी सभी साथ में करते और अंत में संलेखना संथारा भी साथ में किया । सातों ने जयंत नामक तीसरे अनुत्तर विमान में ३२ सागरोपम की स्थिति प्राप्त करी । देवलोक की स्थिति पूर्ण करके छहो मित्र भरतक्षेत्र में अलग- अलग राज्यों के राजा बने और सुखपूर्वक रहने लगे । महाबल देव भी बत्तीस सागर परिपूर्ण स्थिति पूर्ण कर अवधिज्ञान के साथ मिथिला नगरी में स्त्री पर्याय में उत्पन्न हुआ । माता-पिता ने उसका नाम मल्लि कुमारी रखा।

पूर्वभव के अनुराग से छहो मित्र राजा निमित्त पाकर एक साथ मल्लिकुँवरी के साथ शादी करने आये । मल्लिकुँवरी ने उन छहों को पूर्व भव का कथन करके प्रतिबोध दिया, तब उन्हें भी जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । अपने पूर्व भव का स्मरण, प्रत्यक्ष अनुभव करके वे सभी विरक्त हुए । एक वर्ष वर्षीदान देकर १०० वर्ष की वय में मल्ली अरहंत ने ३०० स्त्रियों एवं ३०० पुरुषों के साथ सिद्धों को नमस्कार करके सामायिक चारित्र अंगीकार किया। उसी समय उन्हें मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ । मल्ली अरहंत स्त्री तीर्थंकर होने से साध्वियाँ उनकी आभ्यंतर पर्षदा रूप में थी एवं श्रमण उनके बाह्य पर्षदा रूप में थे।

दीक्षा के दिन ही शाम को मल्ली अरहंत को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । देवों तथा ६४ इन्द्रों सहित उपस्थित पर्षदा ने धर्मोपदेश सुना, देवों ने केवलज्ञान महोत्सव किया और नंदीश्वर द्वीप में जाकर अट्ठाई महोत्सव करके अपने देवलोक में गये । कुंभ राजा प्रभावती राणी भी आ गये थे, उपदेश सुना और श्रावक व्रत अंगीकार किये। पूर्व मित्र वे छहों राजा भी पहुँच गये थे, उपदेश सुना और उसी दिन

दीक्षित हुए । छहों ने १४ पूर्वों का ज्ञान हासिल किया । काल क्रमे छहों मुनि कर्मक्षय करके मुक्त हुए । मल्लीनाथ भगवान भी ५५००० वर्ष का आयु पूर्ण कर सम्मेत शिखर पर्वत पर एक महीने के संथारे से निर्वाण को प्राप्त हुए। सातों मित्र पूर्व भव में महाविदेह क्षेत्र में राजा थे और इस भव में ६ मित्र भरतक्षेत्र में (भारत में ही) अलग-अलग देशों के राजा बने किंतु सातों में प्रमुख महाबल राजा यहाँ राजा नहीं बनकर राजकुमारी बना । छहों राजा विवाहित हो चुके थे परंतु मल्ली राजकुमारी अविवाहित १०० वर्ष की वय में पहुँच चुकी थी ।

छहों मित्रों के पूर्व भव के नाम– (१) अचल (२) धरण (३) पूरण (४) वसु (५) वेश्रमण (६) अभिचन्द्र।

इस भव के नाम– (१) प्रतिबुद्धि राजा (२) चंद्रच्छाय राजा (३) रुक्मि राजा (४) शंख राजा (५) अदीनशत्रु राजा (६) जितशत्रु राजा ।

मल्लिकुँवरी के पास पहुँचने के निमित्त :–

(१) प्रतिबुद्धि राजा– अपनी राणी के नाग पूजा महोत्सव में बने पुष्पों के श्री दामकांड़ की प्रशंसा करते हुए सुबद्धि प्रधान के द्वारा मल्लीकुँवरी के श्रेष्ठ श्री दामकांड़ की बात सुनकर उसके प्रति आकृष्ट हुआ। **(२) चंद्रच्छाय राजा**– समुद्री यात्रा से वापिस आने पर अरणक श्रावक के द्वारा मल्लिकुँवरी के रूप की प्रशंसा सुनकर उसकी तरफ आकृष्ट हुआ । **(३) रुक्मि राजा**– पुत्री के स्नान महोत्सव पर कंचुकी पुरुष के द्वारा मल्लि कुंवरी के स्नान महोत्सव की प्रशंसा सुनकर उसकी तरफ आकृष्ट हुआ । **(४) शंख राजा**– मल्लीकुँवरी के देवनामी कुंड़ल को सुधार नहीं सकने से देश निकाले की सजा प्राप्त करके आये हुए सुनारों के पास से मल्ली कुंवरी का वर्णन सुनकर आकृष्ट हुआ । **(५) अदीनशत्रु राजा**–अंगुष्ठ विद्या वाले चित्रकार के द्वारा मल्लि कुँवरी का आबेहूब चित्र उसके भाई मल्लदिन्न कुमार की चित्रशाला में बिना पूछे चित्रित करने के कारण अंगुठा कटवा कर, देश निकाले की सजा प्राप्त कर, मिथिला से आये हुए चित्रकार के पास मल्लिकुवरी का चित्रपट देख कर आकर्षित हुआ । **(६) जितशत्रु राजा**– मल्लि कुँवरी से धार्मिक चर्चा में परास्त बनी एवं उनकी दासियों से अपमानित

हुई चोक्खा परिव्राजिका के द्वारा मल्लिकुँवरी का वर्णन सुनकर आकृष्ट हुआ ।

इन छहों राजाओं ने मल्लिकुँवरी से शादी करने की मनोदशा से दूत भेजा । संयोगवश छहों दूत अपने अपने देश से निकल कर मिथिला नगरी में एक साथ राजसभा में पहुँच गये । तो कुंभ राजा को छहों की एक साथ मांग पर गुस्सा आया । अनादर करके सभी को निकाल दिया । दूतों के अपमान से क्रुद्ध बने राजा युद्ध की चढ़ाई करके मिथिला नगरी के बाहर एक साथ पहुँचे । युद्ध में कुंभराजा की हार हुई । नगरोध करके चिंतित बैठे थे । तब मल्लीकुँवरी ने आश्वस्त करते हुए कहा कि अमुक विधि से प्रत्येक राजा को संध्या समय मेरे पास अमुक जगह आने का निमंत्रण भेज दीजियेगा । फिर में संभाल लूँगी । इस प्रकार छहों राजा अलग-अलग मार्गों से अलग-अलग भवनों में(जालगृह में) आकर बैठ गये । वहीं पर *सभी का मल्लिकुँवरी से प्रत्यक्ष मिलन हुआ।*

इस प्रकार पूर्व भव की मित्रता आदि के अदृश्य स्नेह निमित्त से एवं प्रत्यक्ष में मोहित भावों से आकृष्ट होकर सातों मित्रों का अनायास एक साथ मिलना हो गया ।

मल्लीकुमारी ने अवधिज्ञान के साथ जन्म लिया था । अवधिज्ञान के प्रयोग से उन्होंने अपने छहों साथियों की अवस्थिति जान ली थी । भविष्य में घटित होने वाली घटना भी उन्हें विदित हो गई थी । अतः उसके प्रतिकार की तैयारी भी करली थी । तैयारी इस प्रकार की थी- मल्लि *कुमारी ने हूबहू अपनी जैसी एक प्रतिमा* का निर्माण करवाया । अंदर से वह पोली थी और उसके मस्तक में एक बड़ासा छिद्र था । उस प्रतिमा को देखकर कोई नहीं कह सकता था कि यह मल्ली नहीं, मल्ली की प्रतिमा है । मल्लिकुमारी जो भोजन-पान करती उसका एक पिंड मस्तक के छेद में से प्रतिमा में ड़ाल देती थी । वह भोजन-पानी प्रतिमा के भीतर जाकर सड़ता रहता और उसमें अत्यंत दुर्गंध उत्पन्न होती । किन्तु ढ़क्कन होने से वह दुर्गंध वहीं की वहीं रहती थी । जहाँ प्रतिमा अवस्थित थी, उसके सामने मल्ली ने जालीदार गृहों का भी निर्माण करवाया था । उन गृहों में बैठ कर प्रतिमा को स्पष्ट रूप से

देखा जा सकता था, किन्तु उन गृहों में बैठने वाले एक दूसरे को नहीं देख सकते थे ।

मल्लिकुमारी का सफल उपाय :- जब कुंभ राजा ने मल्लिकुवरी के कहे अनुसार सूचना करवा दी, तब छहों राजा मल्लिकुमारी का वरण करने की लालसा से गर्भगृहों में आ पहुँचे । प्रभात होने पर सबने मल्ली की प्रतिमा को देखा और समझ लिया कि यही कुमारी मल्ली है । सब उसी की ओर अनिमेष दृष्टि से देखने लगे । तब मल्लीकुमारी वहाँ पहुँची और प्रतिमा के मस्तक के छिद्र को उघाड़ दिया । छिद्र को उघाड़ते ही उसमें से जो दुर्गंध निकली वह असह्य हो गई । सभी राजा घबरा उठे । सबने अपनी अपनी नाक दबाई और मुँह बिगाड़ लिया । विषयासक्त राजाओं को प्रतिबोधित करने का यही उपयुक्त अवसर था । मल्लीकुमारी ने नाक, मुँह बिगाड़ने का कारण पूछा । सभी का एक ही उत्तर था असह्य दुर्गंध ।

तब राजकुमारी ने राजाओं से कहा– देवानुप्रियों ! इस प्रतिमा में भोजन पानी का एक-एक पिंड डालने का ऐसा अनिष्ट एवं अमनोज्ञ परिणाम हुआ तो इस औदारिक शरीर का परिणाम कितना अनिष्ट और अमनोज्ञ होगा ? यह शरीर तो मल, मूत्र, रुधिर आदि की थैली है । इसके प्रत्येक द्वार से गंदे पदार्थ झरते रहते हैं। सड़ना-गलना इसका स्वभाव है । इस पर से चमड़ी की चादर हटा दी जाय तो यह शरीर कितना असुंदर एवं विभत्स प्रतीत होगा। वह चीलों कौवों आदि का भक्ष्य बन जाएगा । तो मल-मूत्र की इस थैली पर आप क्यों मोहित हो रहे हैं ?

इस प्रकार संबोधित करके मल्लीकुमारी ने पूर्वजन्मों का वृतान्त उन्हें कह सुनाया । किस प्रकार वे सब साथ दीक्षित हुए थे, किस प्रकार उसने कपटाचरण किया था; किस प्रकार वे सब देवपर्याय में उत्पन्न हुए थे, इत्यादि वर्णन कह सुनाया ।

राजाओं को जाति स्मरण ज्ञान एवं बोध :- मल्ली द्वारा पूर्वभवों का वृतांत सुनते ही छहों राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया । वे सभी संबुद्ध हो गये । तब गर्भगृहों के द्वार उन्मुक्त कर दिए गए ।

उस समय वातावरण में अनुराग के स्थान पर विराग छा गया। उसी समय राजकुमारी ने दीक्षा अंगीकार करने का संकल्प किया। तीर्थंकरों की परंपरा के अनुसार वार्षिक दान देने के पश्चात् मल्लीकुमारी ने प्रव्रज्या अंगीकार कर ली। जिस दिन दीक्षा अंगीकार की उसी दिन उन्हें केवलज्ञान-दर्शन की प्राप्ति हो गई। तत्पश्चात् जितशत्रु आदि छहों राजाओं ने भी दीक्षा अंगीकार कर ली। अंत में सभी ने मुक्ति प्राप्त की। भगवती मल्ली तीर्थंकर ने भी चैत्र शुक्ला चतुर्थी के दिन निर्वाण प्राप्त किया।

ज्ञातव्य :- (१) कुंभ राजा और प्रभावती राणी ने श्रावक व्रत स्वीकार किए। (२) छह राजाओं ने संयम अंगीकार किया और चौदह पूर्वी होकर अंत में मोक्ष गये। (३) मल्लीनाथ तीर्थंकर के २८ गणधर थे। (४) वे उन्नीसवें तीर्थंकर थे, २५ धनुष के ऊँचे थे। १०० वर्ष घर में रहे, ५५ हजार वर्ष की संपूर्ण उम्र थी। (५) पूर्व भव में महाविदेह क्षेत्र में महाबल के भव में ८४ लाख वर्ष तक संयम का पालन किया था। कुल उम्र वहाँ ८४ लाख पूर्व की थी।

(६) वहाँ तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया था। तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन के **२० बोल** इस प्रकार है- (१) अरिहंत (२) सिद्ध (३) जिन सिद्धांत (४) गुरु (५) स्थविर (६) बहुश्रुत (७) तपस्वी इन सात की भक्ति बहुमान गुण कीर्तन करने से (८) बारंबार ज्ञान में उपयोग करना (९) दर्शन शुद्धि (१०) विनय (११) भावयुक्त प्रतिक्रमण (१२) निरतिचार संयम व्रतों का पालन (१३) अप्रमत्त जीवन (१४) तपस्या (१५) त्याग नियम या दान (१६) अपूर्व ज्ञान ग्रहण (१७) समाधि भाव प्रसन्न भाव में रहना या दूसरों को शाता उपजाना; (१८) सेवा करना (१९) श्रुत भक्ति (२०) जिनशासन की प्रभावना करना।

इनमें से एक या अनेक बोल के सेवन में उत्कृष्ट रसायन, आत्म परिणाम होने पर तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। इस बंध के बाद जीव तीसरे भव में अवश्य तीर्थंकर बनता है एवं मोक्ष प्राप्त करता है।

निबंध-२३

मल्लीभगवती के अध्ययन से प्राप्त ज्ञेय तत्त्व

(१) धर्म और तप में भी सरलता गुण का होना नीतांत आवश्यक है । अति होशियारी या कपट भाव तनिक भी क्षम्य नहीं है । विशाल तप साधना काल में अल्पतम माया से महाबल के जीव को मिथ्यात्व की प्राप्ति और स्त्रीत्व का बंध हो गया था । तीर्थंकर बन जाने पर भी जिसका फल अवश्यंभावी रहा । (२) मित्रों के साथ कभी भी अविश्वास धोखा नहीं करना चाहिए । यदि साथ में संयम लेने की वार्ता कर चुके हो तो भी समय आने पर नहीं मुकरना चाहिए। यथा- महाबल के ६ मित्र राजा होते हुए भी उसके साथ दीक्षित हुए एवं आत्मकल्याण साधा । (३) मन एवं इच्छा पर काबू नहीं हो तो व्यक्ति अपने प्राप्त पूर्ण सुखों में भी असंतुष्ट हो जाता है और अप्राप्त की लालसा में गोते खाता है । यथा- छहों राजा राज्य ऋद्धि राणियों के परिवार से संपन्न थे फिर भी मल्लिकुमारी का वर्णन सुनकर उनमें अनुरक्त हुए और युद्ध करने चले; यह असंतोष वृत्ति है । ज्ञानी होने का फल यह है कि अपने प्राप्त सामग्री में संतोष मानते हुए क्रमशः उसके त्याग भावना की वृद्धि करना चाहिए।

(४) मोह का नशा यदि अधिक चढ़ा हो तो वह प्रेम और उपदेश से एक बार नहीं मिट सकता किन्तु एक बार मन के प्रतिकूल भयंकर परिस्थिति आने पर और फिर कुशल उपदेष्टा का संयोग मिले तो परिवर्तित हो सकता है, यथा- तेतलिपुत्र प्रधान का दृष्टांत आगे १४वें अध्ययन में है । इसी आशय से छहों राजा को एक साथ प्रतिबोध देने के लिये अर्थात् उनके महामोह नशे को शांत करने के लिये अवधि ज्ञान से जानकर मल्लिकुमारी ने उचित उपाय निकाल लिया था तदनुसार ही जालगृह और अपने आकृति की पूतली बनाई और कुछ समय अपन भोजन का एक कवल जितना भाग उसमें ड़ाला । प्रसंग उपस्थित होने पर ढ़क्कन को उघाड़ कर दुस्सह दुर्गंध से आकुल व्याकुल बने हुए राजाओं को बोध और ज्ञान देकर साथ ही पूर्व भव बताकर विरक्त बनाया एवं भोग से योग की तरफ अग्रसर किया ।

(५) मल्लिकुमारी ने झूठा कवल पुतली में नहीं ड़ाला किन्तु एक कवल जितना शुद्ध आहार ही पुतली में ड़ाला था । बंद होने से पूरा सूख नहीं पाने से उसमें दुर्गंध पैदा हुई थी । किन्तु समुच्छिम मनुष्य या त्रस जीवों आदि की उत्पत्ति नहीं होवे ऐसे ज्ञान और विवेक से प्रवृत्ति की थी । केवल दुर्गंध होने मात्र से ही उनका प्रयोजन था । विशाल भवन, जालगृह एवं पुतली आदि के आरंभजन्य निर्माण प्रवृत्ति के साथ आहार के दुर्गंध की प्रवृत्ति के आरंभ का कोई स्वतंत्र अधिक महत्त्व नहीं रह जाता है अर्थात् भवन निर्माण के हेतुभूत पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि के विशाल आरंभ के सामने आहार के दुर्गन्धित होने का आरंभ नगण्य समझना चाहिये । वह अपेक्षाकृत इतना अधिक महत्त्व देने जैसा नहीं है ।

(६) परीक्षा की घड़िय जब आती है तब बहुत गंभीर और सहनशील बनना चाहिए । उस समय भ्रमित लोकनिंदा, उलाहना और कष्टों की उपेक्षा करना आवश्यक हो जाता है । यथा- अरणक श्रावक ने जब धर्म परीक्षार्थ देव उपद्रव आया हुआ जान लिया तब उसने उक्त गुण को धारण कर निर्भय और दृढ़ मनोबल के साथ काम लिया । तभी मानव की शांति और धैर्य के आगे दानव की विकराल शक्ति विफल हुई और देव नत मस्तक हो गया । (७) परिग्रह की मर्यादा वाला श्रावक अचानक प्राप्त संपत्ति अपने पास नहीं रखता है यथा- अरणक श्रावक ने देव से प्राप्त कुंड़ल की जोड़ी दोनों राजाओं को भेंट स्वरूप दे दी।

(८) संपन्न श्रावक अपने आसपास में रहने वाले सामान्य परिस्थिति वाले जन समुदाय को व्यापार में अनेक प्रकार से सहयोग करे तो यह उनकी एक प्रकार की अनुकंपा और सहवर्ती लोगों के साथ सहानुभूति का व्यवहार होता है। यह श्रावक का व्यवहारिक आदर्श जीवन है । ऐसे व्यवहार से धर्म और धर्मीजन प्रशंसित होते ह । जीवों के प्रति उपकार होता है । अपने कार्य में अन्य का भी काम हो जाता है । यह व्यवहारिक श्रावक जीवन की स्टेज है । व्यवहारिक जीवन से आगे बढ़कर निवृत साधना वाला श्रावक फिर स्वयं भी इन प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है । उसका लक्ष्य आत्मसाधना का प्रमुख हो जाता है । उसके लिये सामाजिक और व्यवहारिक जिम्मेदारियाँ तथा कर्तव्य

गौण हो जाते हैं । यथा- उपासकदशा सूत्र वर्णित आनंद आदि दसों श्रावकों का अंतिम छः वर्ष का साधनामय जीवन । **सार यह** है कि अरणक श्रावक के जीवन से धर्म में दृढ़ता, सहवर्तियों को सहयोग एवं परिग्रह की सीमा में सतर्क रहना, मन को लोभान्वित नहीं करना इत्यादि शिक्षाएँ ग्रहण करनी चाहिये ।

(९) अपनी कला में कोई कितना भी निपुण हो किन्तु उसके प्रवृत्ति में विवेक बुद्धि न हो तो उसे लाभ और यश की जगह दुःख और तिरस्कार की प्राप्ति होती है, यथा–मिथिलानगरी का दक्ष चित्रकार । उसके पास श्रेष्ठ कला थी किन्तु विवेक बुद्धि के अभाव में उसे दंड़ित होना पड़ा । अतः हर ज्ञान-कला के साथ विवेक सीखना भी आवश्यक होता है ।

मुनियों को भी सामुहिक जीवन में विवेक की बहुत आवश्यकता है किस परिस्थिति में कितने विवेक से उत्सर्ग मार्ग पर चलना चाहिए और किस तुफानी परिस्थिति में कितने विवेक के साथ अपवाद मार्ग पर चलना आवश्यक हो जाता है, यह विवेक ज्ञान अवश्य सीखना एवं सीखाना चाहिए । हर परिस्थिति में एकांत उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना यह गच्छमुक्त या विशिष्ट साधनारत्त साधकों के लिए उचित है किन्तु गच्छगत सामुहिक जीवन वाले स्थविर कल्पी साधुओं का सामाजिक और व्यवहारिक जीवन होता हैं । उन्हें परिस्थितिक उचित विवेक के साथ ही व्यवहार करना श्रेष्ठ एवं शोभाजनक होता है । जिस प्रकार श्रावक की गृहस्थ जीवन युक्त साधना और निवृत्ति साधना यों दो विभाग है उसी प्रकार मुनि जीवन के भी गच्छगत और गच्छमुक्त या सामान्य साधक और विशिष्ट साधक अथवा स्थविरकल्पी और जिनकल्पी ऐसे साधना के दो विभाग है । एक में व्यवहार और विवेक आवश्यक है तो दूसरे विभाग में व्यवहार और विवेक गौण हो जाता है क्योंकि वे निवृत्त साधक कहे जाते हैं।

(१०) शुचि मूलक धर्म में पानी के जीवों का आरंभ करके उसे धर्म और मुक्ति मार्ग माना जाता है । यह भ्रामक एवं अशुद्ध सिद्धांत है। इसीलिए ऐसे सिद्धांत को खून से खून की शुद्धि करने की वृत्ति की उपमा दी गई है । अतः प्रत्येक धर्मार्थी मुमुक्षु प्राणी को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि छः काया के जीवों की किसी भी प्रकार से

किसी भी उद्देश्य से की गई हिंसा या पाप प्रवृत्ति कभी भी मोक्षदायक शुद्ध पवित्र धर्म का बाना नहीं ले सकती है । अतः अपनी आत्मा में यह घोष गुंजायमान रखना चाहिए कि–

सब जीव रक्षा यही परीक्षा, धर्म उसको जानिए ।
जहाँ होत हिंसा नहीं है संशय, अधर्म वही पहिचानिए ॥

इसी कारण से शुचि धर्मी चोक्खा परिव्राजिका मल्लिकुमारी से पराजित और निरुत्तर हो गई थी । अफसोस यह है कि वीतराग धर्म में भी हिंसा धर्म(मूर्ति पूजा) प्रकट हो गया है यह खून से खून की शुद्धि करना ही है ।

(११) यदि किसी के जीवन को सुधारने की भावना हो तो उसके प्रति अपने हृदय में किंचित भी तिरस्कार की भावना या घृणा भावना नहीं होनी चाहिए एवं परिपूर्ण आत्मीयता होनी चाहिए । साथ ही अपने सामर्थ्य का ज्ञान भी होना चाहिए । उसके बाद विवेक पूर्वक किया गया प्रयत्न असंभव से कार्य को भी संभव और सफल बना सकता है । यथा– मल्लिकुमारी का विवाह की इच्छा वाले छः राजाओं को एक साथ प्रतिबोध देकर सन्मार्ग में लगा देना । इस प्रकार आगम अध्ययन के साथ साथ उस पर चारित्र निर्माण का तुलनात्मक चिंतन किया जाय; जीवन में उतारा जाय, तो विशेष लाभ हासिल किया जा सकता है ।

(१२) मल्लिनाथ भगवान की निर्माण तिथी का वर्णन करते हुए सूत्र में कहा गया है कि ग्रीष्म ऋतु का पहला महिना, दूसरा पक्ष, चैत्र सुदी चतुर्थी के दिन ५०० साधु और ५०० साध्वियों के साथ भगवान मोक्ष पधारे । यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि महीने का प्रथम पक्ष वदी कहा दूसरा पक्ष सुदी कहा । इससे यह सिद्ध होता है कि जैन सिद्धांत के अनुसार अमांत महिने नहीं होते किन्तु महीना पूर्णिमांत होता है । ऋतु भी पूर्णिमांत होती है । अतः वर्तमान प्रचलित अमांत मान्यता जैन आगम सम्मत नहीं है, यह सुस्पष्ट है ।

निबंध–२४

राजा और मंत्री का जीवन–व्यवहार

इस में पानी के शुभ-अशुभ पुद्‍गलों के परिवर्तित होने की

अवस्था का दृष्टांत, प्रधान ने राजा को सन्मार्ग पर लगाने के लिये, क्रियान्वित विधि से प्रस्तुत किया है । राजा और प्रधान का घटना क्रम इस प्रकार है–

चंपानगरी में जितशत्रु राजा का प्रधान **सुबुद्धि** था । एक समय राजा, प्रधान और अनेक प्रतिष्ठित जन एक स्थान पर भोजन कर रहे थे । भोजन अत्यंत स्वादिष्ट होने की राजा ने खूब प्रशंसा की । अन्य लोगों ने भी उसी स्वर में भोजन को सराहा । सुबुद्धि प्रधान जिनमत का ज्ञाता एवं श्रमणोपासक भी था । वह मौन रहा । राजा ने आग्रह दृष्टि से अमात्य तरफ देखकर भोजन की प्रशंसा की । प्रधान को बोलना जरूरी हो गया । वह बोला कि– राजन् ! मुझे इसमें कुछ भी विस्मय नहीं है । पुद्‌गलों क परिणमन के अनेक प्रकार होते हैं । शुभ प्रतीत होने वाले पुद्‌गल निमित्त पाकर अशुभ रूप में और अशुभ पुद्‌गल शुभ रूप में परिणत होते रहते हैं । अतः इस प्रकार के पुद्‌गल परिणमन में मुझे कुछ आश्चर्यकारक नहीं लगता । राजा को उसका कथन भाया तो नहीं किंतु वह चुप रहा ।

पुनः कभी राजा, प्रधान आदि नगर के बाहर अशुचि युक्त दुर्गंधित जल वाली खाई के पास से निकल रहे थे । सभी ने वस्त्र से नाक, मुँह ढ़के, दुर्गंध से घबंराने लगे । राजा ने पानी की अमनोज्ञता का कथन किया । अन्य लोगों ने भी दुहराया किंतु प्रधान तटस्थ रहा । राजा के द्वारा पूछने के जैसा हाव-भाव करने पर प्रधान ने वही पुद्‌गल का उत्तर दुहराया । इस बार राजा से न रहा गया । उसने कहा– सुबुद्धि ! तुम किसी दुराग्रह के शिकार बन रहे हो । तुम दूसरों को ही नहीं खुद को भी भ्रम में ड़ाल रहे हो । सुबुद्धि ने सुनकर मौन रखी और मन में विचार किया कि राजा को किसी उपाय से सन्मार्ग पर लाना चाहिये । इस प्रकार विचार करके उसने उसी खाई का पानी मंगवाया और विशिष्ट विधि से ४९ दिनों में उसे अत्यंत शुद्ध और स्वादिष्ट बनाया । यह स्वादिष्ट पानी जब राजा के यहाँ भेजा गया और उसने पीया तो उस पर वह मुग्ध हो गया । पानी वाले सेवक से पूछने पर उसने कहा– यह पानी अमात्य जी के यहाँ से आया है । अमात्य ने निवेदन किया– स्वामिन् ! यह वही खाई का पानी है, जो आपको अत्यंत अमनोज्ञ प्रतीत हुआ था ।

राजा ने स्वयं प्रयोग करके देखा । सुबुद्धि का कथन सत्य सिद्ध हुआ । तब राजा ने सुबुद्धि से पूछा– सुबुद्धि ! तुम्हारी बात वास्तव में सत्य है पर यह तो बताओ कि यह सत्य तथ्य, यथार्थ तत्त्व तुमने कैसे जाना ? तुम्हें किसने बतलाया ? सुबुद्धि ने उत्तर दिया– स्वामिन् ! इस सत्य का परिज्ञान मुझे जिन भगवान के वचनों से हुआ है । वीतराग वाणी से ही मैं इस सत्य तत्त्व को उपलब्ध कर सका हूँ। राजा ने जिनवाणी श्रवण करने की अभिलाषा प्रकट की । सुबुद्धि ने उसे चातुर्याम धर्म का स्वरूप समझाया । राजा भी श्रमणोपासक बन गया ।

एक बार स्थविर मुनियों का चंपा में पदार्पण हुआ । धर्मोपदेश श्रवण कर सुबुद्धि अमात्य ने प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा से अनुमति मांगी । राजा ने कुछ समय रुक जाने के लिये और फिर साथ ही दीक्षा अंगीकार करने के लिये कहा । सुबुद्धि ने उसके कथन को मान लिया । बारह वर्ष बाद दोनों संयम अंगीकार करके अंत में जन्म, जरा, मरण की व्यथाओं से सदा-सदा के लिये मुक्त हो गये ।

(१) प्रस्तुत अध्ययन में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष किसी भी वस्तु का केवल बाह्य दृष्टि से विचार नहीं करता, किन्तु आंतरिक दृष्टि से भी अवलोकन करता है । उसकी दृष्टि तत्त्वस्पर्शी होती है। तत्त्वस्पर्शी दृष्टि से वस्तु का निरीक्षण करने के कारण उसकी आत्मा में रागद्वेष के आविर्भाव की संभावना प्रायः नहीं रहती । इससे विपरीत बहिरात्मा मिथ्या दृष्टि जीव वस्तु के बाह्यरूप का ही विचार करता है । वह उसकी गहराई में नहीं उतरता है, इस कारण पदार्थों में इष्ट अनिष्ट, मनोज्ञ अमनोज्ञ आदि विकल्प करता है और अपने ही इन मानसिक विकल्पों द्वारा रागद्वेष के वशीभूत होकर कर्मबंध का भागी होता है । इस उपदेश को यहाँ अत्यंत सरल कथानक की शैली में प्रकट किया गया है ।

(२) सुबुद्धि प्रधान सम्यग्दृष्टि, तत्त्व का ज्ञाता और श्रावक था, अतः सामान्य जनों की दृष्टि से उसकी दृष्टि भिन्न थी। सम्यग्दृष्टि के योग्य निर्भीकता भी उसमें थी । सम्यग्दृष्टि आत्मा किसी वस्तु के उपभोग से न तो चकित (विस्मित)होता है और न पीड़ा दुःख या द्वेष का अनुभव करता है । वह यथार्थ वस्तु स्वरूप को जान कर अपने स्वभाव में स्थिर

रहता है । सम्यग्दृष्टि जीव की यह व्यवहारिक कसौटी है । जो उसका आदर्श गुण है ।

(३) श्रावकपन किसी कुल में जन्म लेने से ही नहीं आ जाता है । यह जातिगत विशेषता भी नहीं है । प्रस्तुत सूत्र स्पष्ट निर्देश करता है कि श्रावक होने के लिये सर्वप्रथम वीतराग प्ररूपित तत्वस्वरूप पर श्रद्धा होनी चाहिए ।

(४) मनुष्य जब श्रावकपद को अंगीकार करता है, श्रावकवृत्ति स्वीकार कर लेता है, तब उसके आंतरिक जीवन में पूरी तरह परिवर्तन होने पर बाह्य व्यवहार में भी स्वतः परिवर्तन आ जाता है । उसका रहन-सहन, खान-पान आदि समस्त व्यवहार बदल जाते हैं । श्रावक मानो उसी शरीर में रहता हुआ नूतन जीवन प्राप्त कर लेता है । उसे समग्र जगत वास्तविक स्वरूप में दृष्टिगोचर होने लगता है । उसकी प्रवृत्ति भी तदनुकल हो जाती है । यह इस अध्ययन के सुबुद्धि मंत्री के जीवन से ज्ञात होता है ।

(५) इस सूत्र से राजा और उसके मंत्री के बीच किस प्रकार का संबंध प्राचीन काल में होता था अथवा होना चाहिए यह भी विदित होता है ।

निबंध–२५

मनुष्य भव में हारा, मेंडक भव में जीता

व्यक्ति को धर्म प्राप्त कर लेने के बाद भी संत-समागम और जिनवाणी का ज्ञान प्राप्त करते रहना चाहिये । संत-समागम के बिना अल्पज्ञानी साधक कभी कहीं भी, किन्हीं भी विचारों में भटक सकते हैं और अपनी मौलिकता खो बैठते हैं । इस तथ्य की पुष्टी हेतु यहाँ नंद मणियार श्रावक की जीवन घटना दर्शाई गई है ।

राजगृही नगरी में नंदमणियार भगवान महावीर स्वामी का व्रतधारी श्रावक था । कालान्तर से उसकी अन्य लोगो से संगति विचारणा होने के कारण रुचि में परिवर्तन होने लगा । वह संत-समागम से भी वंचित होने लगा। एक बार गर्मी के समय उसने पौषधशाला में अष्टमभक्त पौषध युक्त तपश्चर्या की । भूख-प्यास से वह पीड़ा पाने लगा । पौषध

मर्यादा के अयोग्य बावड़ी-बगीचा आदि बनवाने की भावना उत्पन्न हुई ।

दूसरे दिन पौषध समाप्त करके वह राजा के पास पहुँचा । राजा की अनुमति प्राप्त कर उसने एक सुन्दर बावड़ी बनवाई, बगीचे लगवाए और चित्रशाला, भोजनशाला, चिकित्साशाला तथा अलंकार शाला का निर्माण करवाया। बहुसंख्यक जन इनका उपयोग करने लगे और नंद मणियार की प्रशंसा करने लगे । अपनी प्रशंसा एवं कीर्ति सुनकर नंद बहुत हर्षित होने लगा । बावड़ी के प्रति उसके हृदय में गहरी आसक्ति हो गई ।एक बार नंद के शरीर में एक साथ सोलह रोग उत्पन्न हो गए उसने एक भी रोग मिटा देने पर चिकित्सकों को यथेष्ट पुरस्कार देने की घोषणा करवाई । अनेकानेक चिकित्सक आए, भाँति-भाँति की चिकित्सा पद्धतियों का उन्होंने प्रयोग किया, मगर कोई भी सफल नहीं हो सका ।अंत में नंद मणियार बावड़ी में आसक्ति के कारण आर्तध्यान से ग्रस्त होकर उसी बावड़ी में मेंड़क की योनि में उत्पन्न हुआ । वहाँ लोगों के मुख से बारंबार नंद मणियार की प्रशंसा सुनकर उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया । तब उसने अपने पूर्वभव के मिथ्यात्व के लिये पश्चात्ताप करके आत्मसाक्षी से पुनः श्रावक के व्रत अंगीकार किए ।

एक बार पुनः भगवान महावीर का राजगृह में समवसरण हुआ। उसे भी भगवान के आगमन का वृत्तात विदित हुआ । भक्तिभाव से प्रेरित होकर वह भगवान की उपासना के लिये रवाना हुआ । परंतु रास्ते में ही राजा श्रेणिक की सेना के एक घोड़े के पाँव के नीचे आकर कुचल गया । जीवन का अंत सन्निकट देखकर उसने अंतिम समय की विशिष्ट आराधना की और मृत्यु के पश्चात् देवपर्याय में उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही अवधि ज्ञान से जानकर वह भगवान के दर्शन करने आया । देवगति का आयुष्य पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव प्राप्त कर, चारित्र अंगीकार करके मुक्ति प्राप्त करेगा ।

(१) इस अध्ययन में निरूपित उदाहरण से पाठकों को जो बोध दिया गया है, उसमें दो बातें प्रधान ह– १. सदगुरु के समागम से आत्मगुणो की वृद्धि होती है । अतः सद्गुरु और सदज्ञान का समागम करते

रहन८चाहिये । २. आसक्ति अधःपतन का कारण है, अतः सदा विरक्तभाव को जीवन के प्रत्येक क्षण में उपस्थित रखना चाहिये । (२) गृद्धि, आसक्ति, मोह या राग, इसे किसी भी शब्द से कहा जाय, वह आत्मा को मलीन बनाने का एवं आत्मा के अधःपतन का एक प्रधान कारण है । नंद मणियार ने पुष्करिणी बनवाई, यश-कीर्ति सुनकर हर्षित होने लगा, अंतिम समय में भी वह नंद मणियार पुष्करिणी में आसक्त रहा। इसी आसक्ति भाव ने उसे ऊपर चड़ने के बदले नीचे गिरा दिया। वह उसी पुष्करिणी में मेंड़क पर्याय में उत्पन्न हुआ । (३) इस अध्ययन से तिर्यंच भव में भी श्रावक व्रत स्वयं धारण करने एवं आजीवन संथारा भी स्वयं धारण करने का आदर्श उपस्थित किया गया है । (४) श्रावक के व्रतों में पापों का स्थूल त्याग होता है और उसके संथारे में पापों का सर्वथा त्याग होता है । फिर भी संथारे में वह साधु नहीं कहा जाता, किन्तु श्रावक ही कहा जाता है । बाह्य विधि, वेश व्यवस्था एवं भावों में साधु और श्रावक के अंतर होता है । अतः संथारे में पापों का साधु के समान सर्वथा पच्चक्खाण होते हुए भी श्रावक, श्रावक ही कहलाता है, वह साधु नहीं कहा जा सकता । (५) सम्यक्त्व के चार श्रद्धान का महत्त्व इस अध्ययन में बताया गया है । वे इस प्रकार हैं- १. जिन भाषित तत्त्वों के ज्ञान की वृद्धि करना। २. तत्त्व ज्ञाता साधु या श्रावक की संगति करते रहना । ३. अन्य धर्मियों की संगति का त्याग । ४. सम्यक्त्व से भृष्ट हो जाने वालों का परिचय वर्जन । इन चारों बोलों से विपरीत संयोग या आचरण होने से नंद मणियार श्रावक धर्म से च्युत हो गया था । इस प्रकार अध्ययन-१२ और १३ इन दोनों में एक श्रेष्ठ श्रावक का और एक पतित श्रावक का वर्णन दृष्टांत रूप से दिया गया है । सुबुद्धि प्रधान श्रावक उसी भव से मोक्षगामी हुआ और नंद मणियार श्रावक आगामी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा ।

आज के जमाने में कई धार्मिक स्थानकवासी परिवार संत समागम के अभाव में अथवा अन्य श्रद्धा भ्रष्ट जैन का नाम धराने वालों के भाषा लालित्य के चक्कर में आकर, अपने शुद्ध वीतराग स्याद्वाद मार्ग से तथा द्रव्य-भाव रूप उभयात्मक आत्मसाधना के सत्य मार्ग से चलायमान

होकर दादा-भगवान, श्रीमद्रायचंद्र, कानजीस्वामी आदि पंथ एवं अन्य धर्म के स्वामीनारायण, शुचिधर्म, दानधर्म आदि एकांतिक मार्ग में भटक जाते हैं । सदा-सदा के लिये सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप प्रधान वीतराग मार्ग के आचरण से अलग हटकर भी अपने को परमधर्मी, परम वीतरागी बन जाने के संतोष का दंभ धरते हैं । उनकी दशा इस अध्ययन वर्णित नंद मणियार जैसी हो जाती है । आखिर एक दिन पुनः शुद्ध वीतराग धर्म में आये बिना उन क्हान, दादा, श्रीमद् के अनुयायी अर्थात् भगवान महावीर के अननुयायीपन से, व्रत नियम अणुव्रत महाव्रत की उपेक्षा धर्म से उनका कल्याण संभव नहीं रहता है और बेचारे जैनधर्म के नाम से या कल्याण मार्ग के भ्रम से सदा सदा के लिये सच्चे स्याद्वाद रूप मोक्षधर्म से वंचित रह जाते हं । ऐसे लोग उदय कर्माधीन होने से दया के पात्र है ।

निबंध-२६

द्रौपदी के अध्ययन से प्राप्त ज्ञेय तत्त्व

(१) धर्म और धर्मात्माओं के साथ किया गया अल्पतम खिलवाड़ व्यक्ति को भवोभव दुखदाई हो जाता है । जैसे नागश्री ने मुनि को जहर का दान देकर दुःख ही दुःख प्राप्त किया । (२) **पाप छिपाया ना छिपे** यह हमेशा दुष्कृत्य करते समय स्मरण में रखना चाहिये । वह कई गुना बढ़कर प्रगट हो जाता है । नागश्री का जहर बहराना गुप्त था फिर भी वह प्रकट हो गया । (३) कर्मों का विपाक महा भयानक होता है । नागश्री उसी भव में भिखारण बनी, अंत में सौलह रोगों की व्यथा भुगती और नरक में गई । (४) मुनि जीवन की साधनाएँ जिनशासन में विविध प्रकार की होती है। गच्छ और गुरु के साथ में रहते हुए भी मुनि बहुत बड़ी तपस्या के पारणा लाने में ए वं परठने में स्वतंत्र और स्वावलंबी रह सकता है । यथा- धर्मरुचि अणगार के गुरु उन्हें मासखमण की तपस्या में भी पारणा लाने एवं जहर का आहार परठने जाने की अनुमति दे देते हैं, दूसरे साधु को भेजने का प्रस्ताव भी नहीं रखते हैं।

(५) परठने की गुरु आज्ञा होते हुए भी धर्मरुचि ने उस जहर को स्वयं

पी लिया, यह भी समय पर किया गया खुद का विवेक समझना । विवेक का महत्व विनय और आज्ञा से भी बढ़कर समझना, यह भगवदाज्ञा की आराधना में है विराधना में नहीं । (६) साधु को किसी का गुप्त अवगुण नहीं खोलना चाहिए । फिर भी धर्म पर संभावित आक्षेप आपत्ति से बचने हेतु धर्मरुचि अणगार के गुरु को नागश्री का नाम प्रकट करना आवश्यक हो गया । अन्यथा यह बदनामी होती कि साधुओं ने जहर दे दिया । क्यों कि जंगल में पड़े मुनि के मृत शरीर में जहर का परिणमन स्पष्ट दिख रहा था । यह भी धर्मघोष आचार्य का विवेक व्यवहार था कि उन्होंने साधुओं से जगह-जगह घोषणा करवाई कि नागश्री के दिये गये जहरी शाक के खाने से मुनि की मृत्यु हुई । धर्मघोष आचार्य चौदह पूर्व ज्ञान के धारक आगम विहारी थे । (७) परस्त्री सेवन का त्याग धार्मिक जीवन के लिये एवं व्यवहारिक जीवन के लिये भी अत्यंत आवश्यक समझना चाहिये। परस्त्री लंपट पुरुषों का परभव तो बिगड़ता ही है किन्तु कई व्यक्ति इस भव में भी महान दुःखी और निन्दित हो जाते है, यथा- द्रौपदी पर ललचाने वाला अमरकंका राजा **पद्मरथ** । शास्त्र में भी कहा है- **कामे य पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं** । अर्थात् इन्हें इच्छित भोग मिल भी नहीं पाते, तो भी विचारों की मलिनता से ही ये दुर्गति के भागी बनते ह । अतः मर्यादित व्रतधारी जीवन अर्थात् स्वदार संतोष व्रत अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये । (८) कथानक के सभी प्रसंग उपादेय नहीं होते हैं उसमें कई प्रसंग केवल ज्ञातव्य होते हैं एवं कुछ ही उपादेय-धारण करने योग्य होते हैं और कोई त्याग करने योग्य बातें होती है एवं कई आदर्श शिक्षाएँ होती है । अतः ऐसी कथाओं में से विवेकपूर्वक क्षीरनीर बुद्धि से आदर्श ग्रहण करने चाहिये। (९) भाषाप्रयोग का भी परिणाम पर असर पड़ता है, अतः इसमें विवेक रखना चाहिये । यथा- पद्मरथ से युद्ध करने जाते समय पाँड़वों के शब्द उच्चारण और कृष्ण के शब्द उच्चारण । यथा- या तो हम रहेंगे या पद्मरथ(पाँड़व), मैं जीतकर आऊँगा(कृष्ण)।

(१०) बड़े पुरुषों से कभी भी हँसी ठट्ठा या कुतुहल वृत्ति का व्यवहार नहीं करना चाहिये । अन्यथा अति प्रेम भी टूटने का कारण बन जाता है,

यथा- पाँड़वों ने कृष्ण की शक्ति देखने का भोलापन किया । जिसका परिणाम यह हुआ कि अपमानित होकर पूरे परिवार को एवं देश को छोड़कर समुद्र के किनारे जाकर आजीवन रहना पड़ा। माता-पिता ने भी पाँड़वों का साथ नहीं किया अपितु पाँचों को जाने का आदेश दे दिया । जीवन भर के लिए हस्तिनापुर भी उनका छूट गया । (११) उत्तम पुरुष वास्तव में वे होते हैं जो अपना पिछला जीवन भी सुधार लेते हैं । कहा भी है- ***पाछल खेती निपजे, तो भी दारिद्र दूर ॥*** पाँचों पाँड़वों ने पुत्र को राज्य भार संभला कर संयम ग्रहण कर आत्म कल्याण साध लिया । सारी ही उम्र संसार की आसक्ति में नहीं बिताई ।

(१२) तीर्थंकर की मौजुदगी में भी स्थविरों के पास दीक्षा ली जाती है । यथा- पाँचों पाँड़वों ने धर्मघोष आचार्य के पास दीक्षा ली। तब अरिष्टनेमिनाथ भगवान विचरण कर रहे थे ।

विस्मयकारी रहस्य :-यहाँ के वर्णन अनुसार तो पाँडुराजा के राज्यकाल में ही पाँचों पाँड़व कृष्ण की आज्ञा से हस्तिनापुर छोड़कर चले गये थे और पाड मथुरा में रहते हुए ही उन्होंने दीक्षा ली थी । इस प्रकार के आगम वर्णन से तो महाभारत के युद्ध होने के उपलब्ध कथा की कोई शक्यता नहीं लगती है क्यों कि पाँडराजा स्वयं हस्तिनापुर का राज्य संभाल रहे थे तभी पाँड़वों को देश निकाला कृष्ण ने दे दिया था ।

वास्तविकता- द्रौपदी के स्वयंवर के समय पांडवों को और कृष्ण को बुलाया गया था और जरासंघ प्रतिवासुदेव(हजारो राणियाँ)होने से उसके पुत्र को निमंत्रण भेजा था । वहाँ की घटना का और कृष्ण की प्रधानता का वर्णन पुत्र द्वारा ज्ञात होने पर जरासंघ के उत्तेजित होने पर फिर कृष्ण और जरासंघ का युद्ध हुआ उसमें कौरव जरासंघ के पक्ष में मारे गये(स्वयंवर में तो आये थे बाद में उनका किंचित भी वर्णन नहीं है ।)राज्य तो तब तक भी पांडुराजा ही संभाल रहे थे। युधिष्ठिर और दुर्योधन के राज्य संभालने का प्रश्न ही नहीं होता । पांडवों के देश निकाले तक भी पांडुराजा ही राज्य संभाल रहे थे

[यह आगम आधारित अनुप्रेक्षण निष्कर्ष व्यक्तिगत है । विद्वान, बुद्धिमान, स्वाध्यायी आगम संप्रेक्षण के समय इसकी कसोटी करेंगे और

कुछ नया आगम निष्कर्ष ध्यान में आवे या शंका जिज्ञासा असमंजस जैसा लगे तो संपादक से पत्रव्यवहार करने का ध्यान रखेंगे ।]

निबंध–२७

सुंसमा के अध्ययन से प्राप्त शिक्षा–ज्ञातव्य

धन्य सार्थवाह और उसके पुत्रों ने सुंसमा के मांस-रुधिर का आहार शरीर के पोषण के लिये नहीं किया था । जिव्हा-लोलुपता के वशीभूत होकर भी नहीं किया था, किन्तु राजगृही तक पहुँचने के एक मात्र उद्देश्य से ही किया था । इसी प्रकार साधक मुनि को चाहिए कि वह इस अशुचि शरीर के पोषण के लिए नहीं वरन मुक्तिधाम तक पहुँचने के लक्ष्य से ही आहार करे । जिस प्रकार धन्य सार्थवाह को अपनी पुत्री के मांस-रुधिर के सेवन में लेशमात्र भी आसक्ति या लोलुपता नहीं थी, उसी प्रकार साधक के मन में आहार के प्रति अणुमात्र की आसक्ति नहीं होनी चाहिये । उच्चतम कोटी की अनासक्ति प्रदर्शित करने के लिये यह उदाहरण अत्यंत उपयुक्त है । इस पर सही दृष्टिकोण से शास्त्रकार के आशय को समझने का प्रयत्न करना चाहिये ।

अपनी साधना को उन्नतोन्नत बनाने के लक्ष्य वाले साधकों को इस दृष्टांत में बताए गए आदर्श के अनुसार आहार के प्रति अपनी उदासीन भावनाओं का सर्जन करना चाहिये । जिसके लिये आहार करते समय एवं अन्य समय में इस दृष्टांत का अनुचिंतन करते रहना चाहिए कि आप्त पुरुषों ने भिक्षु को आहार के लिये ऐसी मनोवृत्ति रखने का उपदेश किया है । अपने परिवारिकजनों का अथवा किसी मानव के मृत कलेवर का आसक्ति पूर्वक आहार करने वाला मनुष्य की कोटी में नहीं गिना जा सकता ।उसी प्रकार भिक्षा में प्राप्त आहार को गृहत्यागी निर्ग्रंथ आसक्ति पूर्वक खावे तो उनकी वह वृत्ति साधुत्व को चेलेंज देने वाली होती है अर्थात् वह साधक अपने भाव संयम से हाथ धो बैठता है। संयम की सच्ची आराधना वह नहीं कर सकता है । किसी कवि ने ठीक ही कहा है–***दीपक झोलो पवन को, नर ने झोलो नार । साधु ने झोलो जीभ को, डूबे काली धार ॥***

जिस प्रकार धन्य सार्थवाह ने केवल नगर में पहुँचने मात्र के लिये

ही वह आहार किया, उसके स्वाद में किसी भी प्रकार का आनंद संकल्प नहीं किया । वैसे ही श्रमण निर्ग्रंथों को केवल मुक्ति प्राप्त करने हेतु एवं ग्रहण किये गये संयम की पालना के लिए अपने शरीर की अत्यावश्यक शक्ति को बनाए रखने के लिए ही आहार करना चाहिये । अन्य कोई भी हेतु आहार करने में नहीं होना चाहिये। इसी अपेक्षा को विस्तृत रूप में बताने के लिये आहार करने के छः कारण उत्तराध्ययन सूत्र में और ठाणांग सूत्र आदि में कहे गये हैं। **शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्** अर्थात् धर्म साधना का प्रथम या प्रधान साधन शरीर है । शरीर की रक्षा पर ही संयम की रक्षा निर्भर है । मानव शरीर के माध्यम से ही मुक्ति की साधना संभव होती है । अतएव त्यागी वैरागी उच्चकोटी के संतों को भी शरीर टिकाए रखने के लिये आहार करना पड़ता है ।

तीर्थंकरों ने आहार करने का विधान भी किया है । किन्तु संतजनों का आहार अपने लक्ष्य की पूर्ति के एक मात्र ध्येय को समक्ष रख कर होना चाहिये । शरीर की पुष्टि, सुंदरता, विषयसेवन की शक्ति, इन्द्रिय-तृप्ति आदि की दृष्टि से नहीं । साधु जीवन में अनासक्ति का बड़ा महत्त्व है । गृहस्थों के घरों से गोचरचर्या द्वारा साधु को आहार उपलब्ध होता है । वह मनोज्ञ भी हो सकता है, अमनोज्ञ भी हो सकता है, आहार अमनोज्ञ हो तो उस पर अप्रीति भाव, अरुचि या द्वेष का भाव उत्पन्न न हो और मनोज्ञ आहार करते समय प्रीति या आसक्ति उत्पन्न न हो, यह साधु के समभाव की कसौटी है । यह कसौटी बड़ी विकट है । आहार न करना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन है मनोहर सुस्वादु आहार करते हुए भी पूर्ण रूप से अनासक्त रहना । विकार का कारण विद्यमान होने पर भी चित्त को विकृत न होने देने के लिये दीर्घकालीन अभ्यास, धैर्य एवं दृढ़ता की आवश्यकता होती है ।

धन्य सार्थवाह को अपनी बेटी सुंसुमा अतिशय प्रिय थी । उसकी रक्षा के लिये उसने सभी संभव उपाय किए थे । उसके निर्जीव शरीर को देख कर वह संज्ञाशून्य होकर धरती पर गिर पड़ा, रोता रहा। इससे स्पष्ट है कि सुंसुमा उसकी प्रिय पुत्री थी । तथापि-प्राणरक्षा का अन्य उपाय न रहने पर उसने उसके निर्जीव शरीर के मांस-शोणित का आहार किया ।

कल्पना की जा सकती है कि इस प्रकार का आहार करते समय धन्य के मन में किस सीमा का अनासक्त भाव रहा होगा । निश्चय ही लेशमात्र भी आसक्ति का संस्पर्श उसके मन को नहीं छूआ होगा, अनुराग निकट भी नहीं फटका होगा । धन्य ने उस आहार में तनिक भी आनंद न माना होगा । राजगृह नगर और अपने घर पहुँचने के लिये प्राण टिकाए रखना ही उसका एकमात्र लक्ष्य रहा होगा । साधु को इसी प्रकार का अनासक्त भाव रखकर आहार करना चाहिये । अनासक्ति को समझाने के लिये इससे अच्छा तो दूर रहा, इसके समकक्ष भी अन्य उदाहरण मिलना संभव नहीं है । यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है । इसी दृष्टिकोण को समक्ष रख कर इस उदाहरण की अर्थघटना करनी चाहिये ।

निबंध–२८

पुंडरीक–कंडरीक के अध्ययन से प्राप्त शिक्षा

(१) संयम जीवन में कभी रुग्णावस्था के कारण औषध-भेषज का सेवन करना हो या अन्यतर शक्तिवर्धक पौष्टिक दवा लेना आवश्यक हो जाय तो उसमें अनुभव एवं विवेक की अत्यधिक आवश्यकता होती है । क्यों कि शक्तिवर्धक दवाएँ या रासायनिक दवाएँ कभी-कभी किसी व्यक्ति के मानस पर ऐसा प्रभाव जमा देती है कि जिससे ऐसो आराम या भोगाकांक्षा की मनोवृत्ति प्रबल हो जाती है जो सामान्य या विशेष अनेक उपायों से भी अंकुश में नहीं हो सकती । यथा– शैलक राजर्षि एवं कंड़रीक मुनि । दोनों ही दृष्टांत इस सूत्र में दिए गये हैं। दोनों मुनियों के पथ भ्रष्ट हो जाने का निमित्त कारण औषध-भेषज चिकित्सा ही बनी थी ।

अतः मुनि जीवन में प्रवहमान साधकों को रसायनिक दवाएँ स्वयं लेने में या किसी अन्य साधु को देने में परिपूर्ण विवेक रखना चाहिये । प्रायः अनेक साधु दवा की मात्रा में या पथ्य परहेज में अविवेक कर जाते हैं । जिसका परिणाम नूतन रोगोत्पत्ति और जीवन विनाश तक में भी आ सकता है । कई साधक औषध-भेषज के निमित्त से संयम में शिथिल मानस वाले हो जाते हैं और कोई संयमच्युत भी हो ज़ाते हैं ।

(२) विगय और महाविगयों का प्रचुर मात्रा में सेवन भी मानस में विकार दशा को जागृत करने का निमित्त बनता है । इसी कारण शास्त्र में तपरहित विगय सेवन कर्ता को पापश्रमण कहा है । विगयजन्य संभवित विकार तप के आचरण से उपशमित हो सकता है, वह सुसाध्य होता है किंतु औषधजन्य विकार महा उन्मादकारी होता है।

कुशल सेवानिष्ठ पंथक के महिनों के प्रयास से शैलक राजर्षि का उन्माद शांत हो सका था । किन्तु प्रस्तुत इस अध्ययन वर्णित कंड़रीक मुनि का विकारोन्माद उसे पूर्णतः ले डूबा । तीन दिन के क्षणिक विनश्वर जीवन के लिये वर्षों की उनकी संयम तप की कमाई बरबाद हो गई । यह निकृष्टतम दर्जे का आत्म-दिवाला निकालने का दृष्टांत है । संयम में अस्थिर चित होने वाले साधकों के लिये यह दृष्टांत बहुत ही मार्मिक एवं अनुचिंतनीय है । साधक को चाहिए कि उसने जिस वैराग्य से संयम ग्रहण किया है उसी को सदा स्मृतिपट पर रखकर उसे दृढ़तर करते रहना चाहिये । अनेक प्रकार की मानसिक बाधाओं को भी ज्ञान, वैराग्य और विवेक से दूर करते रहना चाहिये।

(३) अल्पकाल की आसक्ति जीवों को महान गर्त में पटक देती है और किंचित् काल का वैराग्य उत्साह भी प्राणी को महान शिखर पर पहुँचा देता है । कंड़रीक ने संयम त्याग कर दीर्घकाल तक इच्छित भोग आनंद भी नहीं पाया । केवल आसक्ति परिणामों से ही उसकी दुर्गति अवश्यंभावी हो गई । पुंड़रीक राजा वैराग्यपूर्ण संयम जीवन केवल तीन दिन ही प्राप्त कर सका किन्तु उत्कृष्ट विरक्ति, उत्कृष्ट उत्साह से तीन दिन के संयम और एक बेले के तप से गुरु सांनिध्य में पहुँच कर आत्मकल्याण साध लिया ।(४) यह जानकर मुमुक्षु आत्माओं को आसक्तिभाव को क्षण भर भी नहीं टिकने देना चाहिये और वैराग्यभाव जब कभी भी प्राप्त होवे उसका पूर्ण स्वागत कर जीवन में समाचरण कर लेना चाहिये । तीन दिन तो क्या एक घड़ी भर का वैराग्य और तद्युक्त आचरण आत्मा का बेड़ा पॉर कर सकता है और क्षणभर की सफर की लापरवाही व्रषों की कमाई लुटेरों को लुटा देती है ।

(५) पुंड़रीक राजा ने स्वतः ही वेश पहिनकर दीक्षा अंगीकार की। फिर विहार कर गुरु के पास पहुँच कर पुनः गुरु मुख से संयम ग्रहण किया और प्रथम बेले का पारणा गुरु आज्ञा से स्वयं ही लाए। वैराग्य की धारा वर्धमान थी इसलिए निरस रुक्ष आहार लाए। पैदल विहार का प्रसंग, तपस्या तथा अचानक नया जीवन परिवर्तन था। उस आहार से पेट में और शरीर में दारुण वेदना रात्रि में उत्पन्न हुई। अवसर जानकर स्वतः आजीवन अनशन ग्रहण किया एवं रात्रि में ही दिवंगत हो गये। सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान में ३३ सागरोपम की उम्र के देव बने। कंड़रीक भी प्रबल इच्छा से राजा बना और तीसरे दिन रात्रि में मरकर सातवीं नरक में तेतीस सागरोपम की उम्र का नैरयिक बना।

(६) विषय और कषाय आत्मा के महान लुटेरे हैं, अनर्थों की खान है। आत्मगुणों के लिये अग्नि और ड़ाकू का काम करने वाले ह। विषय भोगों को विष और कषायों को अग्नि की उपमा आगम में दी गई है। विष स्वस्थ हृस्ट पुष्ट शरीर का क्षणभर में खात्मा कर देता है। अग्नि अल्प समय में ही सब कुछ भस्म कर देती है। इसी तरह ये विषय और कषाय अल्प समय में दीर्घकाल की आत्म साधना का सफाया कर देते हैं। विषयभोगों में अंधा बना मणिरथ, मदनरेखा के लिए छोटे प्रिय भाई की निरपराध हत्या कर देता है और स्वयं भी संयोगवश सांप के काट जाने से उसी दिन मर कर नरक में चला जाता है। निरंतर मासखमण की तपस्या करने वाला महातपस्वी भी यदि कषाय भावों में परिणत होता है तो वह बारंबार जन्म मरण करता है। -- ***सूय.अध्ययन-२, उद्देशक-१*** ॥ कषाय और विषय की तीव्रता वाले व्यक्ति चक्षुहीन नहीं होते हुए भी अंध कहे गये है, यथा- मोहांध, विषयांध, क्रोधांध आदि। उत्तराध्ययन अध्ययन-१९ में विषयभोगों को जहरीले और मीठे किंपाक फल की उपमा दी गई है।

(७) इस अंतिम अध्ययन में कामभोगों का दारुण दुःखमय परिणाम और संयम का श्रेष्ठ आनंददायक परिणाम बताया गया है।

निबंध-२९

ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययनों का हार्द

(१) संसार भ्रमण के दुःखों की तुलना में संयम के कष्ट नगण्य है।

संयम में अस्थिर बनी हुई आत्मा को बड़े ही विवेक से स्थिर करना चाहिये । यथा- भगवान महावीर ने **मेघमुनि को** ।

(२) किसी के वचन या आचरण का मौलिक आशय, उससे समझे बिना भ्रम या कल्पना से **भद्रा सेठानी** की तरह अपना माथा भारी नहीं करना चाहिये, अन्यथा रूप में(खोटे रूप में)ग्रहण नहीं करना चाहिये। "धर्म साधना का साधन एवं प्रगति मार्ग का साथी होने से शरीर को आहार देना पड़ता है," ऐसी मनोवृत्ति से मुनि को आहार करना चाहिये। यथा- सेठ का **चोर को आहार** देना ।

(३) जीवन में अपने साध्य के प्रति दृढ़ आस्था होनी चाहिये, यथा- जिनदत्त पुत्र की अंड़े के प्रति ।उसने श्रद्धा, धैर्य रखा कि अंडा यथासमय परिपक्व होगा और दूसरे मित्र ने श्रद्धा की कमी से उसे हिलाया, हटाया, ऊँचा-नीचा किया । श्रद्धा वाले को सुफल मिला, शंका वाले को कुछ नहीं मिला ।

(४) गंभीरता के साथ इन्द्रिय और मन का निग्रह कर उन्हें आत्मवश में (नियंत्रण में) रखते हुए साधना में अग्रसर होना चाहिये । चंचल और कुतुहल पूर्ण मनोवृत्तियाँ नहीं होनी चाहिये । गंभीर **कछुए** के समान स्थिर मानस होना चाहिये ।

(५) मार्ग भटके हुए साधक का तिरस्कार न करके कुशलता और आत्मीयता पूर्वक विनय भक्ति से उसका उद्धार करने का प्रयत्न करना चाहिये, यथा- **पंथक** मुनि । औषध प्रयोग में अत्यधिक सावधानी वर्तनी चाहिए क्यों कि उसमें कई प्रकार के अपथ्यकारी पदार्थ प्रयुक्त होते हैं । जिसकी मात्रा का अविवेक हो जाने पर वे पदार्थ बुद्धि भ्रष्ट एवं धर्म च्युत कर देते ह, यथा- **शैलक** राजर्षि ।

(६) कर्म आत्मा को लेप युक्त **तुम्बे** के समान भारी बना कर संसार में डुबाते हैं, ये कर्म पापों से पुष्ट होते हैं, और पाप हिंसा आदि, क्रोध आदि, कलह निंदा आदि १८ हैं । इनके त्याग से आत्मा हलुकर्मी बनते हुए क्रमशः मुक्त बन सकती है । अतः पापों का त्याग और कर्मों की निर्जरा करने में सदा पुरुषार्थ रत रहना चाहिए ।

(७) संयम में और आत्मगुणों में दिनों दिन विकास करते रहना चाहिय किन्तु उपेक्षा या लापरवाही नहीं होनी चाहिये । उत्तरोत्तर बढ़ने का

उत्साह रखना चाहिये, यथा- **धन्ना** सार्थवाह की **चौथी बहु-रोहिणी**।

(८) साधनामय जीवन में **माया** कपट का अल्पतम आचरण भी नहीं होना चाहिये। क्यों कि माया मिथ्यात्व की जननी है और समकित को नष्ट करके स्त्रीत्व को प्राप्त कराने वाली है। यथा- **मल्ली भगवती** का पूर्व भव का कपट।

(९) स्त्रियों के लुभावने हावभाव में फँसना खतरे की निशानी है। अपनी प्रतिज्ञा एवं लक्ष्य से च्युत नहीं होना चाहिये। **जिनपाल** के समान दृढ़ रहना चाहिये।

(१०) जीव अपने प्रयत्न विशेष से गुणों में शिखर पर भी पहुँच सकता है और अविवेक से अंधकारमय गर्त में भी। जीव की उत्थान और पतन दोनों अवस्थाएँ संभव है। यह जानकर सावधानीपूर्वक विकासोन्मुख बनना चाहिये। **चंद्रमा की कला** वृद्धि के समान।

(११) अपने या पराए किसी भी व्यक्ति के द्वारा कोई भी प्रतिकूल व्यवहार हो सब कुछ शांति एवं गंभीरता के द्वारा सम्यक् सहन करना चाहिये, चौथे **दावदव वृक्ष** के समान। इसमें यदि किंचित भी कमी की जायेगी तो खुद के संयम की ही विराधना होगी। अन्य तीन प्रकार के दावदव वृक्षों के समान।

(१२) पुद्गल स्वभाव बदलते रहते हैं मनोज्ञ या अमनोज्ञ पुद्गलों में प्रसन्नता-अप्रसन्नता का या घृणा-आनंद मानने के परिणामों का त्याग करने से ही व्यक्ति सच्चा ज्ञानी समभावी बनता है। यथा- **सुबुद्धि** प्रधान।

(१३) धर्मगुरुओं का **सत्संग** प्राप्त होना आत्मविकास का श्रेष्ठ माध्यम है। अतः समय-समय पर सत्संग लाभ का प्रयत्न रखना चाहिये। सत्संग एवं सुसंस्कारों को पुष्ट करने वाले संयोगों को जुटाते रहना चाहिये। तभी आत्मा धर्म में स्थिर रह सकती है। मनुष्य भव में आत्मसाधना को बिगाड़ने वाला भी कभी पशुयोनि में संयोग पाकर साधना जीवन को सफल कर सकता है, यथा- **नंद मणियार** (चंड-कौशिक आदि)। मनुष्यभव में ही सावधानी युक्त साधना करने का प्रयत्न रखना चाहिये ताकि पशु योनि में जाना ही न पड़े।

(१४) दुःख आने पर ही अधिकांशतः जीवों को धर्म का बोध लगता है

या रुचि बढ़ती है, यथा- **तेतलीपुत्र** प्रधान । किन्तु सुख की घड़ियों में ही धर्म धारण कर लिया जाय तो जीव को दुःख की अवस्था देखनी न पड़े । धर्म के परिणामों की तीव्रता(तल्लीनता) में दुःख भी सुख बन जाता है ।

(१५) अभिभावकों के हित सलाह की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । अनुभवी आत्मीयता युक्त व्यक्ति के आदेश का आदर करना चाहिये । **नंदीफल** सरीखे वर्तमान सुख सुविधा में ही लुभान्वित न होकर भविष्य का या परिणाम का विचार करके ही कोई प्रवृत्ति करनी चाहिये । **(१६)** यदि किसी का भला न कर सको तो बुरा भी मत करो। मुनि को अभक्ति से अमनोज्ञ दान मत दो । यथा- **नागश्री** । बड़ों के साथ मश्करी कुतूहल करना अपने जीवन को बरबाद करना है, यथा- **पाँड़व** । अतः सर्वत्र विवेकबुद्धि और भविष्य की विचारणा पूर्वक दीर्घ दृष्टि से आचरण करो अन्यथा संकट के पहाड़ खड़े हो जाते हं। जैसे- **द्रौपदी** का **नारद** के साथ अविवेक । जीव दया और अनुकंपा का महत्त्व खुद के सुख सुविधा से ज्यादा समझो । **दया धर्म का मूल है**, कीड़ियों की करुणा में **धर्मरुचि** अणगार ने स्वयं का जीवन होम दिया । **(१७)** इन्द्रिय विषयों के लुभावने चक्कर में फँसना स्वयं की स्वतंत्रता नष्ट करना है, परतंत्र बनना है । यथा-रत्नद्वीप के **अश्व** ।

(१८) आहार की आसक्ति किंचित् भी नहीं होना अपितु आहार करते हुए भी उन पुद्‌गलों के प्रति पूर्ण अनासक्ति भाव होना चाहिये । **धन्य सार्थवाह द्वारा अपनी मृत पुत्री के कलेवर** के खाने की उपमा से भावित अंतःकरण आहार करने के समय रखना चाहिये । **(१९)** साधना युक्त जीवन में पूर्ण धैर्य रखना चाहिये । संयम रुचि को पूर्ण सुरक्षित रखना चाहिये। संयम च्युत और भोगासक्त व्यक्ति नहीं चाहते हुए भी दुःख परंपरा बढ़ा लेता है । यथा- **कंड़रीक**। इसलिए सावधानी पूर्वक सदा संयम गुणों की वृद्धि करते रहना चाहिये । इस प्रकार इन अध्ययनों में आत्म विकास एवं आत्म सुरक्षा के उपाय विभिन्न तरह से सूचित किए गये हैं ।यहाँ अध्ययनों के संक्षिप्त शिक्षा वचन सूचित किये गये हैं जिसके कारण कुछ जिज्ञाशा प्रश्न खडे होना स्वाभाविक है । उसके लिये शास्त्र के उस

अध्ययन का वाँचन स्वाध्याय करने का पुरूषार्थ करना चाहिये ।

निबंध-३०

ज्ञातासूत्र श्रुतस्कंध-२ वर्णित २०६ आत्माएँ

द्वितीय श्रुतस्कंध में दश वर्ग इस प्रकार है- **प्रथम** वर्ग में चमरेन्द्र की अग्रमहिषियों का वर्णन है। **दूसरे** वर्ग में वैरोचनेन्द्र बलीन्द्र की। **तीसरे** में असुरेन्द्र को छोड़कर दक्षिण दिशा के नौ भवनवासी इन्द्रों की अग्रमहिषियों का और **चौथे** में उत्तर दिशा के इन्द्रों की अग्रमहिषियों का वर्णन है । **पाँचवे** में दक्षिण और **छठे** में उत्तर दिशा के वाणव्यंतर देवों की अग्रमहिष्यिों का । **सातवें** में ज्योतिष्केन्द्र चन्द्र की, **आठवें** में सूर्य की तथा **नोवें** और **दशवें** में वैमानिक के सौधर्मेन्द्र तथा ईशानेन्द्र की अग्रमहिषियों का वर्णन है । इन सब देवियों का वर्णन वस्तुतः उनके पूर्वभव का है, जिसमें वे मनुष्य पर्याय में महिला के रुप में जन्मी थी। उन्होंने साध्वीदीक्षा अंगीकार की थी और कुछ समय तक चारित्र की आराधना की थी ।उसके बाद वे शरीर बकुशा हो गई, चारित्र की विराधना करने लगी ।गुरुणी के मना करने पर भी विराधना के मार्ग से हटी नहीं । गच्छ से अलग होकर रहने लगी और अंतिम समय में भी अपने दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमण किये बिना ही शरीर त्याग किया ।

२०६ देवियों की संख्या का मिलान :-

१	चमरेन्द्र की अग्रमहिषियाँ	५
२	बलीन्द्र की अग्रमहिषियाँ	५
३	दक्षिण के नागकुमार आदि ९ की अग्रमहिषियाँ	६×९=५४
४	उत्तर के नागकुमार आदि ९ की अग्रमहिषियाँ	६×९=५४
५	दक्षिण व्यंतर के ८ इन्द्रों की अग्रमहिषियाँ	४×८=३२
६	उत्तर व्यंतर के ८ इन्द्रों की अग्रमहिषियाँ	४×८=३२
७	चन्द्रेन्द्र की अग्रमहिषियाँ	४
८	सूर्येन्द्र की अग्रमहिषियाँ	४
९	सौधर्मेन्द्र की अग्रमहिषियाँ	८
१०	ईशानेन्द्र की अग्रमहिषियाँ	८
	कुल :	**२०६**

इस प्रकार १० वर्ग के २०६ अध्ययन में २०६ देवियों का वर्णन किया गया है । ये सभी एक भव करके महाविदेह क्षेत्र में मुक्ति प्राप्त करेगी ।

सार :- जिनवाणी के प्रति, जिनाज्ञा के प्रति, श्रद्धा आस्था शुद्ध है, तप संयम की रुचि भी है तो बकुश वृत्ति भवपरंपरा को नहीं बढ़ाती है किन्तु अंत में सही रूप से आलोचना प्रायश्चित्त नहीं करने से जीव आराधना की गति को प्राप्त नहीं करता है ।

इस शास्त्र में १३ वें अध्ययन के प्रारंभ में दर्दुर देव का भगवान महावीर स्वामी की सेवा में आने का वर्णन है । यहाँ द्वितीय श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन में भी दर्दुर देव के समान कालीदेवी का भगवान के दर्शन करने आने का वर्णन है । वह इस प्रकार है-

राजगृह नगर में श्रमण भगवान महावीर का पदार्पण हुआ । उस समय चमरेन्द्र असुरराज की अग्रमहिषी काली देवी अपने सिंहासन पर आसीन थी । उसने अचानक अवधिज्ञान का उपयोग जंबुद्वीप की ओर लगाया तो देखा कि भगवान महावीर जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में, राजगृह नगर में विराजमान है । यह देखते ही काली देवी सिंहासन से नीचे उतरी, जिस दिशा में भगवान थे, उसमें सात-आठ कदम आगे गई और पृथ्वी पर मस्तक झुका कर उन्हें विधिवत् वंदना की।

देवी का मनुष्य लोक में आगमन- तत्पश्चात् उसने भगवान के समक्ष जाकर प्रत्यक्ष दर्शन करने, वंदना और नमस्कार करने का निश्चय किया । उसी समय एक हजार योजन विस्तृत दिव्य यान की विक्रिया द्वारा तैयारी करने का आदेश दिया । यान विमान तैयार हुआ और वह भगवान के समक्ष उपस्थित हुई । वंदन किया, नमस्कार किया, देवों की परंपरा के अनुसार अपना नाम-गौत्र प्रकाशित किया । फिर बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि दिखला कर वापिस लौट गई । कालीदेवी के चले जाने पर गौतमस्वामी ने भगवान के समक्ष निवेदन किया- भंते ! काली देवी को दिव्य ऋद्धि-वैभव किस प्रकार प्राप्त हुई है ?

पूर्वभव- तब भगवान ने उसके पूर्व भव का वृतांत सुनाया- आमल-

कल्पा नगरी के कालनामक गाथापति की एक पुत्री थी । उसकी माता का नाम कालश्री था । पुत्री का नाम काली था । काली नामक वह पुत्री शरीर से बड़ी बेड़ौल थी । अतएव उसे कोई वर नहीं मिला। वह अविवाहित ही रही । एक बार पुरुषादानीय भगवान पार्श्वनाथ का आमलकल्पा नगरी में पदार्पण हुआ । काली ने धर्मदेशना श्रवण कर दीक्षा अंगीकार करने का संकल्प किया । माता-पिता ने सहर्ष अनुमति दे दी । ठाठ के साथ दीक्षा महोत्सव मनाया। भगवान ने दीक्षा प्रधान कर उसे आर्या पुष्पचूला को सोंप दिया । काली आर्या ने ग्यारह अंग शास्त्रों का अध्ययन किया और यथाशक्ति तपश्चर्या करती हुए संयम की आराधना करने लगी ।

किन्तु कुछ समय के पश्चात् उस काली आर्या को शरीर के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो गई । वह बारंबार अंगोपांग धोती और जहाँ स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि करती, वहाँ जल छिड़कती । साध्वी-आचार से विपरीत उसकी यह प्रवृत्ति देखकर आर्या पुष्पचूला ने उसे ऐसा न करने के लिये समझाया । वह नहीं मानी । बार बार टोकने पर वह वहाँ से निकल कर अलग उपाश्रय में रहने लगी। अब वह पूरी तरह स्वच्छंद हो गई संयम की विराधना करने लग गई। कुछ समय इसी प्रकार व्यतीत हुआ । अंतिम समय में उसने पंद्रह दिन का अनशन-संथारा तो किया किन्तु अपने शिथिलाचार की न आलोचना की और न प्रतिक्रमण ही किया । भगवान महावीर ने कहा- यही वह काली आर्या का जीव है जो काली देवी के रूप में उत्पन्न हुआ है।

भविष्य एवं मुक्ति- गौतम स्वामी के पुनः प्रश्न करने पर भगवान ने कहा- देवी भव की स्थिति का अंत होने पर, काली देवी महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगी । वहाँ निरतिचार संयम की आराधना करके सिद्धि प्राप्त करेगी।

महाव्रतों का विधिवत् पालन करने वाला जीव, उसी भव में यदि समस्त कर्मों का क्षय करे तो निर्वाण प्राप्त करता है । यदि कर्म शेष रह जाए तो वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है । किन्तु महाव्रतों को अंगीकार करके भी जो उनका विधिवत् पालन नहीं करता, शिथिलाचारी बन जाता है, कुशील हो जाता है, सम्यग्ज्ञान आदि का

विराधक हो जाता है, तीर्थंकर के उपदेश की परवाह न करके स्वेच्छाचारी बन जाता है और अंतिम समय में अपने अनाचार की आलोचना प्रतिक्रमण नहीं करता, वह मात्र कायक्लेश आदि बाह्य तपश्चर्या करने के कारण देवगति प्राप्त करके भी वैमानिक जैसी उच्चगति और देवत्व प्रायः नहीं पाता । भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क की पर्याय प्राप्त करता है । यहाँ नौवें दसवें वर्ग की १६ देवियाँ वैमानिक देवलोक के पहले दूसरे देवलोक में गई उसकी साधना विचारणा में अथवा आयुबंध में कुछ विशेषता हुई होगी । अन्यथा विराधना करने वाले वैमानिक में नहीं जाते ।

निबंध-३१

काकंदी के धन्ना अणगार का तप एवं आहार

इस तीसरे वर्ग के सभी अणगारों का तप वर्णन एक समान है। सभी ने आजीवन बेले-बेले पारणा करने का नियम दीक्षा के दिन ही भगवान से विनयपूर्वक ग्रहण किया था । साथ ही में पारणे संबंधी विशेष अभिग्रह किया था कि- (१) बर्तन चम्मच या हाथ आदि खाद्यपदार्थ के लेप वाले होंगे तो उसी से भिक्षा लेउँगा । निर्लेप हाथ चम्मच या बर्तन से लेकर देने वाले से भिक्षा नहीं लूँगा । (२) खाद्यपदार्थ भी **उज्झितधर्मा** अर्थात् गृहस्थ के बचा-खुचा फेंकने योग्य, ऐसा मिलेगा तो लूँगा; सुंदर, मनोज्ञ, गृहस्थों के खाने के काम में आने वाला होगा वह नहीं लूँगा । फेंकने योग्य भी आहार गृहस्थ के देने पर लूँगा । इस प्रकार का अभिग्रह प्रत्याख्यान जीवन भर के लिये कर लिया था । अभिग्रह में स्वतः मिलने पर ही लिया जाता है । उसमें मांगा भी नहीं जाता है और गृहस्थ को कुछ भी कहे बिना वह स्वतः स्वेच्छा से वैसा आहार देवे तो लिया जाता है। अन्यथा सहज ही, आगे चल दिया जाता है ।

इस प्रकार का उज्झित धर्मा आहार और पानी बहुत घूमने पर भी स्वतः स्वाभाविक मिलना और गृहस्थ द्वारा देना अत्यंत मुश्किल होता है । अतः उन्हें पारणे में भी कभी कहीं आहार मिलता तो पानी नहीं मिलता । कभी पानी मिल जाता तो आहार नहीं मिलता।

वे मुनि सहज समभाव से मर्यादित समय एवं मर्यादित घरों में भिक्षार्थ पर्यटन करके वापिस आ जाते । जो भी मिला या नहीं मिला उसी में पूर्ण संतुष्ट रहकर तपस्या के भावों में और कर्म क्षय करने की मस्ती में शरीर से निरपेक्ष निर्मोह होकर संयम जीवन का निर्वाह करते थे । अपने समय के भगवान के समस्त श्रमणों में ये मुनि त्याग-तप, वैराग्य, कर्मक्षय की मस्ती आदि गुणों के कारण सर्वश्रेष्ठ करणी करने वाले संत थे । ऐसा स्वयं प्रभु महावीर ने श्रेणिक राजा के पूछने पर उत्तर में फरमाया था कि हे श्रेणिक! मेरे १४ हजार श्रमणो में अभी (महान दुष्कर क्रिया और महान निर्जरा करने वाले) सर्वश्रेष्ठ सर्वाधिक करणी वाले अमुक अणगार हैं । अर्थात् अलग-अलग समय में इन दसों संतों का भगवान ने नाम लेकर उक्त कथन किया था । इस अध्ययन के सभी मुनियों ने बेले-बेले तप और आयंबिल युक्त पारणा किया था और एक महीने के संथारे की विपुलपर्वत पर आराधना की थी। विपुलपर्वत राजगृही नगरी के समीप में था । आज भी वहीं है ।

तपोमय शरीर का वर्णन अनेक सूत्रों में अनेक तपस्वी साधकों के प्रसंग से आलेखित हुआ है । तथापि धन्ना अणगार का वर्णन इस शास्त्र में जो आलेखित हुआ है वह अत्यंत विशेषता भरा है । वह विशेषता यह है कि धन्ना अणगार के प्रत्येक अंगोपांग का हूबहू उपमाओं से उपमित करते हुए खुलासावार वर्णन किया गया है । अन्यत्र सभी के तपोमय शरीर का सामान्य रूप से एकाद उपमा युक्त वर्णन है । यह वर्णन मुख्यतः इस प्रकार है- (१) भगवती सूत्र में **स्कंधक** सन्यासी का (२) उपासकदशा सूत्र में **आनंद** आदि का (३) अंतगड़ सूत्र में **काली** आदि का वगैरह विविध आगम वर्णन यथाप्रसंग उपलब्ध है, जो इस प्रकार है-

काली आर्या के या स्कंधक अणगार के अथवा आनंद श्रावक के उस(उदार) महान, विपुल(दीर्घकालीन विस्तीर्ण शोभा संपन्न) प्रयत्न साध्य (गुरु प्रदत्त),बहुमानपूर्वक ग्रहित, कल्याणकारी, आरोग्यजनक-शिव, धन्य रूप, मंगल-पाप विनाशक, श्री संपन्न, तीव्र, उदार, उत्तम और महाप्रभावक उत्कृष्ट तपस्या के कारण उनका शरीर सूख गया, रूक्ष हो गया, मांस-खून रहित हो गया, हड्डिओ पर शीर्फ चमड़ी रह

गई, जिससे हड्डियाँ बोलने लगी, आवाज करने लगी, शरीर कृश हो गया, नसें सामने दिखने लगी । जिस तरह सूखे लकड़े, सूखे पत्ते या सूखे कोयलों से भरी गाड़ी में चलते समय, रुकते समय जैसी आवाज आती है उस तरह उन तपस्वीओं के शरीर की हड्डियाँ, चलते समय, खड़े रहते समय आवाज करने लगी । वे अपने आत्मबल से ही चलते, उठते, बैठते थे, इतनी दुर्बलता आ गई थी कि बोलते समय भी थकान लगती, बोलने के पहले भी मैं भाषा बोलूँ, ऐसा विचार करने मात्र से भी खेद होता था । तो भी वे तपस्वी तपोपूत-तप से पुष्ट शरीर वाले थे । मांस, खून की अपेक्षा वे शुष्क शरीर वाले थे तो भी राख से ढ़ंकी अग्नि के समान वे तपतेज, तपशोभा से अत्यंत सुशोभित हो रहे थे।

प्रस्तुत सूत्रगत धन्ना अणगार का उपमा युक्त विशेष वर्णन :-

ऊपरोक्त तीन सूत्रों में आये हुए पाठ के अतिरिक्त धन्ना अणगार के वर्णन में उपमा युक्त अंगोपांगों के वर्णन का सार इस प्रकार है-

(१) **पाँव**- वृक्ष की सूखी छाल, खड़ाउ, पुरानी पगरखी समान ।

(२) **पाँव की अंगुलिया**- धूप में सुखाई हुई चना, मूँग और उड़द की फली के समान ।

(३) **जंघा(पिंड़ी)**- कौआ, कंक, ढ़ेणिक पक्षी की जंघा के समान।

(४) **घुटने**- काली(कोयल)पर्व, मयूरपर्व, ढ़ेणिकपर्व(संधि)समान।

(५) **उरु(साथल)**- धूप में सूखी मूरझाई हुई बोर, शल्यकी, शाल्मलि की कोंपल समान ।

(६) **कमर**- ऊँट, वृद्ध बैल, वृद्ध भेंस के पाँव के समान

(७) **उदर(पेट)**- सूखी हुई मशक, चणा सेकने की कम ऊँड़ी चपटी कड़ाही, कठोतरी के समान।

(८) **पसलियाँ**- तासलियों की, हाथ के पंजों की और खूँटियों की पंक्ति समान ।

(९) **पीठ**- मुकुट के किनारे, गोल चपटे पत्थर और लाख के गोले की पंक्ति समान ।

(१०) **वक्षःस्थल**- छबड़ी का तला, वाँस-खपच्चिओं का पंखा, ताड़पत्र का पंखा समान ।

(११)**भुजा**- शमी की, व्हाया की(गरमाला)और आगस्तिक वृक्ष की सांगरी के समान ।

(१२) **हाथ(हथेली)**- सूखा छाणा, वड़ का और पलाश का सूखा पत्ता समान ।

(१३) **हाथ की अंगुलियाँ**- धूप में सूखाई हुई चना, मूँग और उड़द की फली के समान ।

(१४) **गरदन**- छोटे घड़े की ग्रींवा, लोटे की ग्रीवा, सुराही की ग्रीवा समान ।

(१५) **हिचकी**- सूका तुंबा फल, हिंगोटा का फल, आम की सूखी गोटली समान ।

(१६) **होठ**- सूखी जलों, श्लेश(राल)गोली,अलता की गोली के समान ।

(१७) **जीभ**- वड़ के, पलाश के और साग वृक्ष के पत्तों के समान

(१८) **नाक**- धूप में सूखाये आम्र,आंवला, बीजोरा फल की फाँके(लंबे टुकड़े) समान ।

(१९) **आँख**- वीणा या बाँसुरी के छिद्र तथा प्रभात के निस्तेज तारे समान ।

(२०) **कान**- मूला, काकड़ी, करेला की कटी हुई पतली-लंबी छाल समान ।

(२१) **मस्तक**- सूखा-कच्चा तूंबा, आलु, तरबूच के समान ।

विशेष :- (१) ये सभी चीजें सूखी और मुरझाई हुई समझना । (२) अस्थि रहित अंग-पेट,कान,जीभ और होठ में हड्डी का कथन नहीं करना (३) **गात्रयष्टी**(पूर्ण शरीर)- इस तरह खून, मांस रहित सूखा, भूखा-भूख के कारण निर्बल और कृश होने से रूक्ष पाँव वगैरह दिखते थे। कमर करोड़रज्जू और पेट चिपके हुए होने से पाँसलिया दिखती थी। रूद्राक्ष की माला की मणियें गिन सके वैसी करोड़रज्जू की संधिय थी। गंगा तरंगों के समान हाड़का दिखने वाला वक्षःस्थल, लंबे साँप

समान भुजाएँ ढ़ीली लगाम समान लटकते अग्रहस्त, काँपता मस्तक, ग्लान मुखकमल, फूटे मुख वाले घड़े के समान आँखे ऊँड़ी गई हुई ऊँड़ी कुप्पी के समान दिखती थी । दीर्घ तप से इस प्रकार क्षीण शरीर के कारण वे धन्य अणगार शरीर बल से नहीं, आत्मबल से चलते, खड़े रहते, बैठते-उठते थे । बोलने में और बोलने का विचार करते समय भी उन्हें कष्टानुभव होता था । चलते समय उनका शरीर कोयलों से भरी चलती गाड़ी के समान खड़-खड़ आवाज करता था । तो भी तपतेज से देदिप्यमान और तप लक्ष्मी से सुशोभित उनका शरीर अत्यंत प्रभावित आकर्षक लगता था ।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने तपस्या द्वारा शरीर पर होने वाला परिणाम विस्तार पूर्वक साहित्यिक भाषा में दर्शाया है । जिसका आशय तपस्या और तपस्वी के प्रति अहोभाव उत्पन्न करके मोक्षार्थी साधकों में तपस्या के संस्कारों को पुष्ट करने का है ।

प्रत्येक मोक्षाभिलाषी साधक शरीर के प्रति इस प्रकार मोहत्याग करके, कष्ट सहिष्णु बनकर, आचारांग कथित-**आवीलए, पवीलए निप्पीलए** सिद्धांत के अनुसार साधना करके मानव तन की प्राप्ति को पूर्ण सार्थक करे ।

अंतगड़ सूत्र में सभी (९०) मोक्षाराधकों का, उपासक दशा सूत्र में सभी (१०) श्रमणोपासक पर्याय के आराधकों का एवं इस शास्त्र में सभी (३३) अणुत्तर विमान योग्य आराधना करने वाले साधकों का जीवन गुंथन कर शास्त्रकारों ने कथा साहित्य के द्वारा भव्य जीवों पर परम उपकार किया है जिसकी प्राप्ति का हमें अत्यंत अहोभाव रखकर अपने जीवन को किसी भी प्रकार की उत्तम और उत्कृष्ट आराधनामय बनाकर अलभ्य-शुभसंयोग मानव भव और वीतराग धर्म का अनुपम सदुपयोग कर लेना चाहिये ।

निबंध-३२

दुःखविपाक सूत्र के अध्ययनों से शिक्षा

राजपुत्र मृगालोढा :-(१) शासन के माध्यम से प्राप्त सत्ता का

दुरूपयोग करने वालों, रिश्वतखोरों, प्रजा पर अनुचित कर भार लादने वालों और इस प्रकार के पापों का आचरण करने वालों के भविष्य का यह एक निर्मल दर्पण है । आज के वातावरण में प्रस्तुत अध्ययन और आगे के अध्ययन भी अत्यन्त उपयोगी और शिक्षाप्रद है। (२) पति की आज्ञा से मृगाराणी ने दुःस्सह दुर्गन्ध युक्त उस पापी पुत्र की भी सेवा परिचर्या की थी । वह कर्तव्य निष्ठता एवं पतिपरायणता का अनुपम आदर्श है । (३) पापी अधर्मिष्ट जीव स्वयं दुःखी होता है एवं अन्य को भी दुःखी करता है । जैसे खाद्य- सामग्री में पड़ी मक्खी । (४) सत्ता के नशे में या अपने पुण्यवानी के नशे में व्यक्ति कुछ भी परवाह नहीं करता है । भविष्य का या कर्मबंध का विचार भी नहीं करता है । फिर भी दुःखदायी परिणामों को तो उसे भोगना ही पड़ता है । अतः छोटे बड़े किसी भी प्राणी को मानसिक वाचिक या कायिक कष्ट पहुँचाना स्वयं के लिये दुःख के पहाड़ तैयार करना है । यथा इक्काई राठोड़ के जीव की अमानवीयता एवं सारा घमण्ड़ अकड़ाई आदि मृगा- लोढ़े के दुःखमय जीवन में और अनेक दुःखी भवों के रूप में परिवर्तित हो गए । (५) मृगाराणी धर्मनिष्ठ थी किन्तु भगवान का सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने का पूर्ण परिचय उसे नहीं हुआ था । (६) सौंदर्यपूर्ण दृश्यों को देखने की आसक्ति साधु के लिये अकल्पनीय है। किन्तु गंभीर ज्ञान, अनुप्रेक्षा, अन्वेषण आदि हेतु से जानने देखने की जिज्ञासा होना अलग वस्तु है । दोनों को एक नहीं कर देना चाहिये । पुद्‌गलानंदी एवं इन्द्रियाशक्ति से साधु को बचना चाहिए । किन्तु गंभीर ज्ञान एवं अनुप्रेक्षा के माध्यम के लिए बहुश्रुत एवं गीतार्थ के निर्णय एवं निर्देशानुसार किया जा सकता है। यथा– गौतमस्वामी आज्ञा लेकर मृगापुत्र(मृगा लोढ़ा) को देखने अकेले ही राणी के साथ भोंयरे में गये । (७) परवशपन से जीव कैसे विभत्स दारूण कष्ट सहन कर लेता है । यह जानकर जो व्यक्ति स्ववश ज्ञान एवं वैराग्य से तप व संयम के नगण्य कष्टों को सहन कर ले, वह सदा के लिए जन्म मरण रूपी दुःख संकट के सांसारिक चक्कर से छूट जाता है । (८) राजपुत्र मृगालोढा मानवभव प्राप्त करके भी हीनांग था, उसके कोई भी अंग स्वतंत्र स्पष्ट नहीं थे अर्थात् आँख, नाक,कान,हाथ–पाँव नहीं थे, केवल शरीर और मुख था बाकी चिन्ह मात्र थे ।

सार्थवाह पुत्र उत्झितक :– (१) जन्म जन्मान्तर तक भी पापाचरण के संस्कार चलते रहते हैं । इसी प्रकार धर्म संस्कारों की भी अनेक भव तक परंपरा चलती है ।

(२) मांसाहार में आसक्त व्यक्तियों की एवं निरपराध भोले पशुओं को त्रास देने वालों की, उस भव में और भवोभव में विचित्र विड़ंबनाएँ होती है । बूचड़ खाने खोलने वाले एवं चलाने वाले कितने भी मस्त दिखाई देते हो किंतु वे निश्चित ही कर्म फल प्राप्ति के समय दीन-हीन एवं दुःखों से परिपूर्ण अवस्था प्राप्त करते हैं ।

(३) संसार में ***जिसकी लाठी उसकी भेंस*** की उक्ति प्रचलित है, वह यहाँ घटित हुई है । राजा ने कामध्वजा वेश्या को अपने स्वाधीन रखने के लिए उज्झितक को उसके घर से निकलवा दिया और अंत में मृत्युदंड़ की सजा भी दे दी ।

(४) निमित्त कुछ भी हो सकता है किन्तु मूलभूत कारण रूप में स्वयं के पूर्वकृत कर्मों का उदय तो रहता ही है । उज्झितक भी पूर्व पापों के तीव्र उदय से ही राजा द्वारा दंड़ित किया गया था ।

(५) कथा की विभिन्न घटनाओं को जानकर व्यक्ति को वैराग्य एवं अनुभव की वृद्धि करनी चाहिए । किन्तु किसी भी घटना को पढ़ने-सुनने में खुशी, नाराजी या रागद्वेष अथवा हर्ष-शोक नहीं करना चाहिए किन्तु गंभीर चिंतन पूर्वक स्वजीवन के सुधार की प्रेरणा लेनी चाहिए ।

अभग्नसेन :–(१) अंड़ों का व्यापार एवं आहार, पंचेन्द्रिय की हिंसा, शराब का सेवन, इन प्रवृत्तियों वाला जीव प्रायः नरकगामी ही होता है। (२) चोर्यवृत्ति भी पापकारी प्रवृत्ति है । चोरों का यह जीवन भी भयाक्रांत और संकटपूर्ण रहता है और परभव तो महान अंधकारपूर्ण ही होता है। (३) विवेकी पुरुष इन अवस्थाओं से बचे एवं पापी प्राणियों की दुर्दशा से शिक्षा लेकर धर्ममय जीवन बनाकर शीघ्र ही संसार भ्रमण से मुक्त होने में प्रयत्नशील बने ।

शकटकुमार :–(१) इस अध्ययन में भी मांसाहार, पंचेन्द्रिय वध, वेश्या गमन एवं मद्य पान आदि दुर्व्यसनों का कटु परिणाम बताया गया है। अत्यंत भाग्यशाली जीवों को ही व्यसन मुक्त जीवन प्राप्त होता है ।

(२) व्यसनी व्यक्ति के लिए धर्माचरण दुष्कर और दुर्लभ होता है । अतः हमें स्वयं का जीवन तो पूर्ण व्यसन मुक्त रखना ही चाहिये, साथ ही अपने परिवार के बालक-बालिकाओं को बचपन से व्यसन मुक्त रहने की प्रेरणा एवं हिदायत करते रहना चाहिए । बचपन में दिए गये संस्कार प्रायः जीवन भर कामयाब रहत हैं ।

(३) दुर्गति एवं नरक गमन में प्रमुख कारण दुर्व्यसन ही है । दुर्व्यसनी व्यक्ति के सद्गति की आशा रखना केवल स्वप्न देखने के समान है। व्यसन ये हैं- १. जुआ, शिकार(पंचेन्द्रिय हिंसा), मांसाहार, मदिरापान, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, चोरी । २. भांग, बीड़ी, सिगरेट, ताश, सिनेमा, गुटका, जरदा, तम्बाकू इत्यादि का सेवन भी व्यसन विभाग ही है । चाय, कोफी आदि का प्रतिबद्ध और अमर्यादित सेवन भी व्यसन के अन्तर्गत समझना चाहिए ।

दुर्योधन जेलर :- (१) दूसरों को दुःख देने में आनंद मानने वाला, स्वयं भी प्रतिफल में दुःख प्राप्त करता है । किसी को अपराध में दंड़ देना ए क राज्य कर्तव्य तो है, किन्तु उसमें प्रमोद मानना एवं अत्यधिक रस लेना, जीवों को दारुण दुःख देकर प्रसन्न होना, उसमें तल्लीन-दत्तचित्त होना, कलुषित परिणामों का सूचक है । ऐसे कलुषित परिणाम स्वयं की आत्मा के लिये ही महान घातक है। जिसका फल स्वयं को भोगना ही पड़ता है। (२) अतः अधिकारों में एवं सांसारिक कृत्यों में भी आसक्ति, तल्लीनता और परिणामों की कलुषितता नहीं रखना चाहिए । वहाँ भी ज्ञान, विवेक एवं आत्म जागृति रखते हुए सावधानी से रहना चाहिये । पाप को पाप समझना चाहिये ।

वह दुर्योधन जेलर जेल में- (१) किसी को हाथी, घोड़े, ऊंट, भेंसे, बकरे आदि जानवरों के मूत्र का पान करवाता । (२) किसी को तप्त तांबा, लोहा व शीशा आदि पिला देता । (३) किसी को विभिन्न प्रकार के बंधनों से मजबूत बांधकर दुःख देता । सांकलों से बांधता शरीर को मोड़ता सिकोड़ता, शस्त्रों से चीरता-फाड़ता। (४) किसी को चाबुक आदि से मार-मार कर अधमरा कर देता । हड्डियाँ तुड़वा देता, चूरचूर करवा देता । (५) उल्टे लटकवा कर गोत खिलवाता, छेदन करता, क्षार मिश्रित तेलों से मर्दन करवाता। (६)

अनेक मर्मस्थानों में कील ठुकवा देता । (७) हाथ-पाँव की अंगुलियों में सूईयाँ ठुकवा कर उससे भूमि खुदवाता । (८) गीले चमड़े से शरीर बंधवा कर फिर धूप में बिठाता और फिर चर्म सूखने पर उसे खुलवाता।

पापमति धनवन्तरी वैद्य :- (१) मद्य-मांस के सेवन करने वालों की बुद्धि एवं अनुभव तदनुरूप बन जाता है । एक कुशल वैद्य होकर भी **धन्वंतरि** लोगों को पाप मुक्त करने के स्थान पर पाप में जोड़ने वाला बना । वह उन्नत बनने की कला प्राप्त कर जीवों की दया अनुकम्पा वृद्धि कर सकता था । किन्तु पाप मति के प्रभाव से प्रभावित बने हुए उसने और अधिक पापकृत्यों की वृद्धि की ।

(२) अज्ञानी जीव निर्जरा एवं पुण्य के स्थान पर कर्मबंध एवं पाप सेवन कर अपना ही जीवन बिगाड़ लेते हैं । ज्ञानी व्यक्ति साक्षात् कर्मबंध के स्थानों में भी महानिर्जरा एवं मुक्ति लाभ कर लेते हैं । अतः मुमुक्षु प्राणियों को अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति के लिये, ज्ञान और विवेक से कसौटी करते हुए सही, हितकर, योग्य निर्णय लेकर ही उसमें प्रवृत्त होना चाहिए ।

(३) जगत में कई प्रकार की सावद्य-निर्वद्य चिकित्सा विधियाँ होती हैं । तथा प्राकृतिक चिकित्सा, जल, मिट्टी, स्वमूत्र और उपवास चिकित्साएँ भी प्रचलित एवं शास्त्रों ग्रंथों में वर्णित है । शास्त्र आचारांग में कहा गया ह कि पापकारी चिकित्साओं का कभी भी आचरण नहीं करना चाहिये ।

(४) भिक्षु के लिए तो आगम का यही घोष है कि उसे तो रोगातंक आ जाने पर आहार त्याग कर उपवास चिकित्सा करके ही द्रव्य एवं भाव रोगों से मुक्ति पाना चाहिए । घरेलू उपचार के कई नुश्खे भी निरवद्य होते हैं । सावद्य चिकित्सा मुनियों के लिये अनाचार अर्थात् सर्वथा अनाचरणीय है ।

पापमति धन्वतरी वैद्य का जीव आगामी भव में :-खुजली, कोढ़, सूजन, जलोदर, भगन्दर, बवासीर, अर्श, खांसी, दमा आदि प्रसिद्ध रोगों से वह ग्रस्त हो गया । उसके हाथ पाँव की अंगुलियाँ

सड़ रही थी । नाक और कान गल रहे थे, सारे शरीर में घावों में से खराब पानी–पीप बहता था । विविध वेदना से वह कष्टोत्पादक करूणाजनक एवं दीनतापूर्ण शब्द पुकार रहा था। असहाय बना वह इधर-उधर नगर में भटकता फिरता था । उसके पास खाने-पीने के लिए मिट्टी का ठीकरा और सिकोरे का टुकड़ा था । मक्खियों के झुंड़ उसके साथ चलते थे। घर-घर में भीख मांग कर वह अपना जीवन यापन करता था ।

आचारांग सूत्र में १६ बड़े रोगों के नाम है, जो प्रश्नोत्तर भाग–१, पृष्ठ–४२, प्रश्न–३ में देखें । अन्यत्र अन्यप्रकार से १६ रोगों के नाम मिलते हैं, यथा– (१) श्वास (२) खाँसी (३)ज्वर (४) दाह (५)उदरशूल (६)भगंदर (७)अर्श(मसा) (८)अजीर्ण (९)अंधापन (१०) शिरःशूल (११)अरुचि (१२)अक्षिवेदना (१३)कर्ण- वेदना (१४)खुजली (१५)जलोदर (१६)कोढ़ ।

आचारांग सूत्र के नामों से इन नामों में कुछ भिन्नता है, एवं क्रम की भिन्नता वाले भी हैं ।

श्रियक रसोइया :– (१) संसार में नौकरी व्यापार आदि आवश्यक कार्य करने भी पड़े तो उसमें तल्लीन नहीं होना चाहिए एवं अत्यंत गृद्धिभाव से आनंद नहीं मानना चाहिए । क्यों कि ऐसे परिणामों से अत्यंत दुःखदायी कर्मों का बंध होता है, यथा– **श्रियक रसोइये** ने कर्मबंध किया ।

(२) वर्तमान में ही मस्त बने रहने वाला एवं भविष्य का विचार नहीं करके यथेच्छ पाप प्रवृत्ति करने वाला अपना भविष्य अत्यन्त संकटमय बना लेता है ।

(३) पाँच प्रकार की मदिरा के नाम सूत्र में ये है– सुरं, महुं, मेरगं, जाइं, सीधुं ।

(४) जीव दूसरों को खुश करने के लिए भी पापकर्म का सेवन करते हैं किन्तु कर्मों का उदय होने पर उसका फल स्वयं को ही भुगतना पड़ता है ।

इस अध्ययन में शौरिकदत्त नामक महा अधर्मी मच्छीमार का वर्णन है । शौरिकदत्त ने अनेक नौकर रख रखे थे, जो यमुना में जाकर अनेक जलचर मच्छ आदि को लाकर ढ़ेर करते थे और उन्हें सुखाकर, भुनकर बिक्री करते थे । शौरिकदत्त स्वयं भी मत्स्याहार मदिरापान करके

अपने उन कृत्यों से जीवन व्यतीत करता था । एक बार मत्स्याहार करते कोई मत्स्य का कांटा उसके गले में फस गया । अनेक उपाय करने पर भी कोई भी उस काँटे को निकाल नहीं सका और वह शौरिकदत्त उस कंटक की असह्य वेदना से पीड़ित होकर दुःख ही दुःख में सूखकर अस्थिपंजर सा हो गया । वह खून, रस्सी एवं कीड़ों का बारंबार वमन भी करता । ऐसी स्थिति में एक बार गौतमस्वामी गोचरी करके उस मार्ग से निकलते हुए, घर के बाहर दीनता पूर्वक आक्रंदन करते हुए उस शौरिकदत्त को नरकतुल्य वेदना भोगते हुए देखा । भगवान से पूछने पर उसका पूर्वभव वर्णन भगवान ने इस प्रकार किया–

पूर्वभव में वह राजा के वहाँ रसोइया था । वहाँ भी उसके अनेक नौकर उसे विविध प्रकार के मांस लाकर देते थे । वह रसोइया बहुत कला पूर्वक मांस के विविध प्रकार के गोल, लम्बे, छोटे, बड़े, टुकड़े बनाकर अनेक विधियों से पकाता । अर्थात् धूप से, ठंड़ी से, हवा से, अग्नि से उन्हें पकाता था । कभी काले, नीले, पीले आदि रंगों से तो कभी आँवले, द्राक्ष एवं कबीठ, अनार आदि के रस से संस्कारित करता था । खुद भी मांस खाकर खुश होता और मित्र नामक राजा को भी खुश रखता था ।

इस प्रकार के पापकर्म करते हुए वह ३३००(तेतीस सो) वर्ष की उम्र में मरकर छट्ठी नरक में उत्पन्न हुआ । वहाँ से २२ सागर की स्थिति पूर्ण करके यहाँ जन्मा है और अपने पाप कर्मोदय से स्वतः दुःखी होकर आक्रन्दन कर रहा है ।

(१) यहाँ से ७० वर्ष की उम्र में मरकर प्रथम नरक में उत्पन्न होगा ।

(२) सभी नरकों एवं तिर्यंचों के भव भ्रमण प्रथम अध्ययन क समान है

(३) अंत में मच्छ बनकर मारा जायेगा ।

(४) फिर श्रेष्ठीपुत्र बन कर संयम ग्रहण करेगा ।

(५) आराधना करके प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा

(६) वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मुक्तिगामी बनेगा ।

देवदत्ता महाराणी :– (१) स्वार्थ एवं भोग की लिप्सा इतनी खतरनाक होती है कि व्यक्ति सारे सम्बन्ध भूल जाता है और क्रोध में अभितप्त व्यक्ति

भी विभत्स घोर कृत्य कर लेता है। इसलिए ये तीनों अंध कहे गये हैं– क्रोधांध, कामांध और स्वार्थान्ध। ये अंधे पुरुष भविष्य को अंधकारमय बना कर नरक निगोद आदि में दीर्घकाल तक भटकते रहते हैं। देवदत्ता, सिंहसेन, पुष्प नंदी आदि इसी प्रकार के उदाहरण है।

(२) देवदत्ता पूर्व भव के अशुभ कर्मों से व्याप्त बुद्धिवाली थी। इसी कारण "विनाश काले विपरीत बुद्धि" हुई थी। अन्यथा तो उसे ८० वर्ष तो पूर्ण हो चुके थे। अब भोग लिप्सा से सास को निर्दयतापूर्वक मारना उसके लिए एक निरर्थक का अकाज ही था। उससे उसे सुफल के स्थान दुष्फल ही मिला। "हाथ भी जले होले भी नहीं मिले" ऐसी उक्ति चरितार्थ हुई। निरर्थक ही वह सभी के लिए दुःखदाई बनी। सास ने करूण वेदना पाई। खुद बेमोत करूण क्रंदन करते नरक सरीखी वेदना एवं अपमान भोगते हुए मरी और पति से पत्नि हत्या का पाप करवाया और अनेक नगरी के लोगों के कर्मबंध का निमित्त बनी। इस प्रकार एक ही अधर्मी पापी व्यक्ति कईयों का बिगाड़ा करने वाला हो जाता है। उसके इहभव परभव दोनों ही निंदित होते हैं।

(३) संसार के स्वार्थपूर्ण और क्लेशयुक्त संबन्धों और परिणतियों का यहाँ जीवित चित्रण किया गया है। एक व्यक्ति ४९९ सासुओं को जीवित जला देता है, तो एक अस्सी वर्ष की बहु सौ वर्ष की सासु को बुरी मौत मार देती है। पति अपनी पत्नी को कितना कठोर दंड़ दे सकता है। राजघराने का मिला हुआ सुख साज भी एक दिन कितना भयंकर दुःखदाई नरकतुल्य बन जाता है। यह जानकर दुर्लभ मानव भव का स्वागत धर्माचरण से करके जीवन सफल कर लेना चाहिये। समय रहते स्वयं ही चंचल लक्ष्मी एवं परिवार संयोगों का त्याग कर संयम तप में पुरुषार्थ कर लेना चाहिए। तभी मानव भव का मिलना वास्तव में सार्थक होता है।

(४) कर्तव्य निष्ठा का एक अनुपम आदर्श भी इस अध्ययन में अंकित किया गया है। पुष्पनंदी राजा स्वयं अस्सी वर्ष की वय तक भी अपनी सौ वर्ष की उम्र वाली माता की अनेक प्रकार की सेवा परिचर्या में अपना अधिकतम समय व्यतीत करता था। यह राजा भगवान क शासन काल में हुआ था। माता-पिता की सेवा के लिए प्रेरणा देने

वाला यह सजग एवं सजीव उदाहरण है । पुष्पनंदी राजा ने जिनधर्म स्वीकार किया या नहीं इस सम्बन्ध में प्रस्तुत अध्ययन में कोई संकेत नहीं है ।

(५) इस अध्ययन का नाम सहस्रोदाह भी मिलता है इस अपेक्षा पूर्व भव में उसने(देवदत्ता के जीव ने) **करीब** १००० को जलाया होगा, जिसमें ४९९ **पत्नियों** को भी जलाया हो, ऐसा अनुमान होता है ।

अंजुश्री :– (१) कोई भी तीव्रतम वेदना प्रायः लम्बे समय तक नहीं टिकती है। किन्तु कभी किसी के प्रगाढ़ कर्मों का उदय हो तो ऐसा हो भी जाता है । यथा–अंजुश्री की योनिशूल वेदना । उसने पूर्वभव में ३५०० वर्ष वेश्या रूप में भोगासक्ति पूर्वक जीवन व्यतीत किया था। वहाँ से मर कर छट्ठी नरक में गई, फिर यहाँ अंजुश्री बनी । रोती चिल्लाती ९० वर्ष में मरकर प्रथम नरक में गई ।

(२) भोगविलास इन्द्रिय विषयों के सुख या आनंद जीव के लिए मीठे जहर के समान है । कवि ने कहा भी है–

मीठे मीठे कामभोग में, फँसना मत देवानुप्रिया ।
बहुत बहुत कड़वे फल पीछे, होते हैं देवानुप्रिया ॥

आगम में भी कहा है–***संसार मोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण हु कामभोगा ।*** अर्थात् ये कामभोग मोक्ष के विरोधी एवं अनर्थों की खान के समान है । अतः इनसे विरक्त होकर सदा के लिये भोगों का त्याग कर देने वाला पुरुष संसार सागर से तिर जाता है।

(३) व्यक्ति अपने घर घराणे का, सत्ता का या धन का अहंभाव घमंड़ करता रहता है, किन्तु तीव्र कर्मोदय होने पर ये कोई भी त्राणभूत, शरणभूत नहीं होते हैं । जीवन में धर्म के संस्कार न हों तो वह जीव ऐसे दुःखों से महा दुःखी बनता है और आर्तध्यान एवं संकल्प विकल्पों में मरकर आगे भी दुःख परंपरा को बढ़ाता है ।

(४) किन्तु यदि जीवन को धर्मसंस्कारों, आचरणों से भावित एवं अभ्यस्त किया हो तो ऐसी विकट दुःखमय घड़ियों में भी व्यक्ति कर्मों का एवं आत्मा का बोध स्मृतिपट पर लाकर शान्ति से उन कर्मों को चुका कर आगे का भविष्य कल्याणमय बना सकता है ।

(५) अतः यथावसर संयोगवश जीवन को धर्म संस्कारमय बनाने का भी लक्ष्य रखना चाहिए। धर्म के संस्कार एवं आत्मबोध जीव को दुःख में भी सुखी रहने की अनुपम कला देने वाला है। संकट की घड़ियों में भी अंतर्मन में प्रसन्नचित्त रहना धर्म ही सिखाता है।

(६) धर्म आचरण के अभ्यास एवं चिंतन से अनंत आत्मशक्ति एवं उत्साह जागृत होता है। ऐसा धर्मनिष्ठ व्यक्ति कर्मोदय को अंजुश्री के समान रो-रोकर नहीं भुगतता है किन्तु गजसुकुमाल मुनि, अर्जुनमाली अणगार आदि की तरह शान्तिपूर्वक अपने कर्ज को चुकाकर सुखी बन जाता है।

(७) इस प्रकार इस संपूर्ण दुःख विपाक में हिंसक, क्रूर, भोगासक्त, स्वार्थान्ध, मांसाहारी एवं शराबखोरों के जीवन चित्रण द्वारा इन कृत्यों का कटु परिणाम बताया गया है एवं शुद्ध, सात्विक, व्यसन मुक्त तथा पाप मुक्त जीवन जीनें की प्रेरणा की गई है।

निबंध-३३

सुखविपाक के अध्ययनों से शिक्षा-ज्ञातव्य

(१) सुपात्र दान देने से सम्यक्त्व प्राप्ति और संसार परित्त करना, समझना चाहिए। मनुष्यायु का बंध जीवन के अन्य क्षणों में होना समझना चाहिए। क्यों कि संसार परित्तिकरण सम्यकत्व प्राप्ति के अनंतर होता है और सम्यकत्व प्राप्ति के समय या सम्यक्त्व की मौजुदगी के समय कोई भी मनुष्य मनुष्यायु का बंध नहीं करता है। यह भगवतीसूत्र में वर्णित सैद्धान्तिक तत्त्व है। अतः जीवन के अन्य क्षणों में आयु बंध मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है।

संक्षिप्त पाठों में, वर्णन पद्धति में कभी दूरवर्ती वर्णन भी निकट हो जाते हैं और निकटवर्ती वर्णन भी दूर हो जाते हैं यह स्वाभाविक है किन्तु अर्थ करने में या समझने में आगम अनुभवी विद्वानों को विवेक रखना आवश्यक समझना चाहिए अर्थात् अन्य आगम तत्त्वों से अबाधित अर्थ-तात्पर्यार्थ कर लेना चाहिये।

संक्षिप्त पाठों के विषय में या वर्णकों के विषय में इस प्रकार की विवेक बुद्धि नहीं रखने पर अनेक आगम स्थलों में कई असमन्वय

एवं शंकाएँ उद्भूत हो सकती है, जिनका कोई समाधान नहीं होगा। अतः उक्त दृष्टिकोण रखना ही श्रेयस्कर है ।

सार– सुपात्र दान आदि के समय समकित की प्राप्ति होती है और अन्य क्षणों में पहले या पीछे सम्यकत्व के अभाव में मनुष्यायु का बंध होता है ।

(२) सुपात्र दान देने में **त्रैकालिक हर्ष** होना चाहिये– (१) दान देने का अवसर सुसंयोग प्राप्त होने पर (२) दान देते वक्त (३) एवं दान देकर निवृत हो जाने पर ।

सुपात्र दान की तीन शुद्धि– (१) दाता के भाव शुद्ध हो विवेकवान हो एवं वह मुनि के नियमों के अनुसार शुद्ध अवस्था में भी हो (२) लेने वाले मुनिराज सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक्चारित्र के पालन करने वाले आत्मार्थी सुश्रमण हो (३) देय वस्तु अचित्त एवं कल्पनीय हो, उद्गम एवं एषणा दोषों से रहित हो ।

उक्त तीन शुद्धि एवं तीन हर्ष हो और दीर्घ तपस्या का पारणा हो तो वहाँ देवता प्रसन्न होकर पाँच दिव्य प्रकट करते हैं ।

(३) घर में मुनिराज के गोचरी पधारने पर किस शालीनता से विधि-पूर्वक व्यवहार करना चाहिये, यह इन अध्ययनों में वर्णित सुदत्त सेठ आदि से सीखना चाहिए । आजकल मुनिराज के घर में पधारने पर जो अतिभक्ति या अभक्ति, अविवेक एवं दोषयुक्त व्यवहार किया जाता है, उसमें संशोधन करना चाहिए । जिससे श्रावक श्राविकाएँ भी दोष मुक्त व्रत आराधक हो सके अर्थात् मुनिराज को बुलाकर लाना नहीं, स्वतः ही आने की आशा या अपेक्षा रखनी चाहिए । घर के निकट आने पर घर में आवाज देना, सचित्त पदार्थों को इधर-उधर करना, देय पदार्थों में कुछ की कुछ प्रवृति करना, अकल्पनीय पदार्थ को कल्पनीय करना; इत्यादि प्रवृतिएँ नहीं करनी चाहिए । जो चीज जिस अवस्था में है एवं देयपदार्थ भी जो जिस अवस्था में है उसमें उतावल या अतिभक्ति से कुछ भी परिवर्तित न करते हुए, शान्ति और विवेक पूर्वक जो भी देय पदार्थ कल्पनीय स्थिति में पड़े हैं, उन्हें ही शुद्ध सरल भावों से मुनि की आवश्यकता, इच्छा एवं निर्देशानुसार बहराने(देने) चाहिए । इस विषय में एषणा के संकलित ४२ दोषों का एवं गोचरी सम्बन्धी अन्य

विवेक व्यवहारों का भी श्रावक को यथायोग्य ज्ञान अवश्य होना चाहिए । इनका स्पष्टीकरण अन्य निबंध में यथासमय दिया जायेगा ।

(४) गोचरी के लिये मुनिराज के स्वागत रूप में जो यहाँ वंदन नमस्कार का वर्णन है, उससे तीन बार उठ-बैठकर पंचांग झुका कर वंदन करना नहीं समझ लेना चाहिए । ऐसा करना अविधि एवं अविवेक कहलाएगा । क्यों कि पंचांग नमा कर सविधि वंदना, गोचरी या मार्ग में गमनागमन के समय नहीं किया जाता है । वहाँ तो केवल विनय व्यवहार एवं आदर सत्कार ही अपेक्षित होता है । यहाँ सूत्र में भी हाथ जोड़ कर तीन आवर्तन करके मस्तक झुकाकर **मत्थए वंदामि** ऐसा दूर से करने का ही आशय रहा हुआ है ।

मुनिराज को रोकना, तीन बार उठ-बैठ करना या चरण स्पर्श करना आदि विधि यहाँ अपेक्षित नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । क्यों कि गोचरी के समय इस प्रकार मुनिराज को रोकना एवं उन्हें विलंब करना अविवेक एवं आशातना रूप होता है ।

सार– गोचरी एवं मार्ग में मुनिराज का मात्र आवर्तन पूर्वक स्वागत अभिनंदन एवं अभिवादन करना चाहिये ।

(५) आसन छोड़ना, पगरखी(जूते-चप्पल) खोलना, मुँह के सामने वस्त्र का उत्तरासंग लगाना, ये विनय-वंदन के आवश्यक अंग(अभिगम) है । सुमुख गाथापति आदि ने घर पधारे मुनिराज का विनय करने के लिए भी इन नियमों का पालन किया था । अतः मुनिराजों की सेवा में पहुँचना हो तो उत्तरासंग लगाने का कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए। *उत्तरासंग लगाये बिना मुनिराज की सेवा में जाना श्रावकाचार के विपरीत* आचरण है ।

(६) १. भाग्यशाली आत्माएँ प्राप्त पुण्य सामग्री में जीवन भर आशक्त नहीं रहती हैं किन्तु एक दिन उससे विरक्त होकर उसका त्याग कर देती है । २. संयम स्वीकारने का अवसर जब तक न आवे तब तक श्रावक व्रतों को अवश्य धारण कर लेना चाहिए । दसों अध्ययन में वर्णित राजकुमारों ने विपुल भोगमय जीवन के होते हुए भी संपूर्ण बारह व्रत स्वीकार किए थे । वे राजकुमार होते हुए भी महिने के छः पौषध भी धारण करते थे । अंत मे शक्ति रहते संयम

भी ग्रहण किया । ३. भुक्तभोगी जीवन के अनंतर दीक्षा लेने वाले उक्त सभी राजकुमार संयमग्रहण करने के बाद ११ अंगों के अध्येता-कंठस्थ धारण करने वाले बने थे । आज भी श्रमणों को ऐसे आदर्शों को सम्मुख रख कर, आगम अध्ययन अध्यापन का प्रमुख लक्ष्य रखना चाहिए एवं गच्छ के अधिकारी श्रमणों को आगम निर्देशानुसार अपने-अपने संघ में अध्ययन की सुव्यवस्था करनी चाहिए । ४. पौषध में श्रावक को आत्मगुण विकास की धर्म जागरणा करनी चाहिए । ५. पाँच वर्ण के पुष्पों की वृष्टि में देवकृत अचित्त पुष्प समझना चाहिए । ६. श्रावक स्वयं तो गृहस्थ जीवन में रहता है फिर भी मुनि बनने का सदा अनुमोदन करता है, उन्हें धन्य-धन्य समझता है । श्रावक के दूसरे मनोरथ के रूप में वह संयम प्राप्ति के अवसर की चाहना एवं प्रतीक्षा करता है ।

(७) *दस अध्ययनों में वर्णित मासखमण के तपस्वी मुनि पारणा लेने गुरु आज्ञा लेकर स्वयं ही गये, यह एक आगमिक श्रेष्ठ पद्धति रही है जिसका दिग्दर्शन अनेक आगमों में मिलता है । आज इसे ही अवगुण रूप समझा जाता है अर्थात् स्वतंत्र गोचरी करना साधु का आदर्श गुण न माना जाकर अवगुण और हेय माना जाता है । जिससे अनेक उत्तमोत्तम साधनाओं का, अभिग्रहों का स्वतः विच्छेद हो रहा है । अतः इन आगम वर्णनों का सम्यक् अनुचिंतन कर गुण रूप में इन परंपराओं का सम्यक्तया पुनरुत्थान करना चाहिये । विशेष जानकारी के लिए सूयगड़ांग सूत्र के सारांश में एक चर्या परिशिष्ट का अवलोकन कीजिए ।*

निबंध-३४

अंबड सन्यासी तथा उसके ७०० शिष्य

अन्यमत के कितने ही संन्यासियों का वर्णन आगमों में आता है, वे प्रायः भगवान से प्रतिबुद्ध होकर अन्यमत की प्रव्रज्या का त्याग कर जिनमत की प्रव्रज्या का अंगीकार कर मोक्ष साधना करते हैं, जिसमें स्कंधक संन्यासी आदि है । किंतु अंबड़ संन्यासी एक ऐसे साधक हुए है कि जिन्होंने अपनी संन्यास अवस्था का त्याग किये बिना जिनमत

का एवं जिनमत के श्रावक व्रतों का स्वीकार, पालन एवं आराधन अपने सातसो शिष्यों सहित किया था। वे गुरु शिष्य सभी परलोक के आराधक बने थे। ऐसी मिश्र आचार प्रवृत्ति में उन्होंने भगवान का शिष्यत्व स्वीकार किया था एवं भगवान ने भी उनके इस प्रकार के व्यवहार एवं द्विविध आचार का विरोध नहीं किया था। यह अनेकांतिक सिद्धांत में उभय पक्ष की अर्थात् भगवान एवं अंबड़ दोनों की उदार एवं सुमेलभरी दृष्टि एवं विचारणा रही थी ।

अंबड़ परिवार के शिष्य :- उववाई सूत्र में कहे गये परिव्राजकों में ब्राह्मण परिव्राजक में अंबड़ का कथन है उस अंबड़ परिव्राजक का जीवन वृत्तांत अंश इस प्रकार है- अंबड़ परिव्राजक के सात सौ शिष्य थे। विचरण करते हुए एक बार शिष्यों के परिवार सहित अंबड को श्रमण भगवान महावीर स्वामी की सेवा का अवसर प्राप्त हो गया। निर्ग्रंथ प्रवचन श्रवण कर उसे श्रावक के १२ व्रत धारण करने की रुचि हुई। भगवान ने उसे श्रावक व्रत धारण करवाये। इस प्रकार अंबड़ परिव्राजक निर्ग्रंथ प्रवचन स्वीकार कर श्रावक धर्म का पालन करते हुए परिव्राजक पर्याय में विचरण करने लगा। उसने यथासमय अपने शिष्यों को भी प्रतिबोध देकर बारह व्रतधारी श्रावक बना दिया। गृहस्थ जीवन स्वीकार न करते हुए वे परिव्राजक चर्या से विचरण करते रहे। ऐसा करने में उनके श्रावक व्रतों की आराधना में भी रुकावट नहीं आई थी । अंबड़ परिव्राजक स्वयं कई बार अकेले ही विचरण करते रहते थे ।

एक बार अंबड़ के सात सौ शिष्यों ने कंपिलपुर से पुरिमताल नगर के लिये प्रस्थान किया। मार्ग में पीने के लिये लिया हुआ जल समाप्त हो गया। जेठ महिने की भीषण गर्मी थी, सभी प्यास से संतप्त हो गये। खोज करने पर भी संयोगवश वहाँ पानी देने वाला नहीं मिल सका। सभी का निर्णय एक ही था कि आपत्तिकाल में भी अदत्त जल ग्रहण नहीं करगे। गंगा नदी के पास में भी पहुँच गये किंतु वहाँ मनुष्य का आवागमन गर्मी के कारण बंद हो चुका था। अंत में सभी ने नदी की बालू रेत में पादपोपगमन संथारा ग्रहण करने का निर्णय कर लिया ।

अपने सभी प्रकार के विविध भंडोपकरण, वस्त्र-पात्र आदि १४ उपकरणों का त्याग किया, फिर बालूरेत पर ही पल्यंकासन से

बैठ कर दोनों हाथ जोड़ कर सिद्ध भगवंतों को णमोत्थुणं के पाठ से वदन किया, फिर दूसरी बार णमोत्थुणं के पाठ से श्रमण भगवान महावीर स्वामी को वंदन किया, तदनंतर अपने धर्मगुरु धर्माचार्य अंबड़ संन्यासी को भावपूर्वक नमस्कार किया। फिर इस प्रकार उच्चारण किया कि पहले हमने अंबड़ परिव्राजक के समीप जीवन भर के लिये स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह का त्याग किया था एवं संपूर्ण कुशील का त्याग किया था। अब हम श्रमण भगवान महावीर के समीप(परोक्ष साक्षी से) संपूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी आदि अठारह पापों का जीवनपर्यंत त्याग करते हैं। चारों प्रकार के आहार का त्याग करते हैं और अति प्रिय इस शरीर का भी पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। इस प्रकार विस्तृत विधिपूर्वक **बड़ी संलेखना** के पाठ से पादपोपगमन संथारा आजीवन अनशन धारण कर समाधिपूर्वक समय व्यतीत करने लगे। यथासमय आयु पूर्ण कर वे सभी ७०० शिष्य पाँचवें देवलोक में दस सागरोपम की स्थिति में उत्पन्न हुए। ये अंबड़ के शिष्य, धर्म के आराधक हुए, क्योंकि उन्होंने परिव्राजक पर्याय में रहते हुए भी निष्पाप निर्वद्य धर्म को समझा था एवं यथाशक्ति श्रावक धर्म धारण भी किया था।

अंबड़ संन्यासी, परिव्राजक पर्याय में अकेले ही विचरण करता था। साथ ही श्रावक के बारह व्रतों का पालन भी करता था। बेले-बेले निरंतर तप करने से एवं यथा समय आतापना लेना आदि साधनाओं के पालन करने से उसे वैक्रिय लब्धि एवं अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया था। अपने बल, शक्ति से लोगों को विस्मित आकर्षित करने के लिये वह एक साथ सौ घरों में ठहर जाता, निवास करता एवं सौ घरों में भोजन करता। इस बात के प्रचार से लोगों में चर्चा भी होने लगी। वैसी चर्चा गणधर गौतमस्वामी को भी भिक्षाचरी में सुनने को मिली थी।

इस प्रकार विचरण करता हुआ वह अंबड़, निर्ग्रंथ प्रवचन में अटूट श्रद्धा रखता हुआ, श्रावक पर्याय का पालन करता हुआ ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूपेण पालन करता था एवं परिव्राजक पर्याय के नियमों का भी पालन करता था। विशेषता यह है कि– वह आधाकर्मी, उद्देशिक, मिश्र, क्रीत, पूतिकर्म, अध्यवपूर्वक, उधार, अनिसृष्ट, अभिहड़, स्थापित, रचित दोषों से युक्त आहार ग्रहण नहीं करता था, कंतारभक्त, दुर्भिक्ष

भक्त, ग्लानभक्त, बादलिक भक्त, पाहुणकभक्त आदि दोष वाला आहार पाणी ग्रहण नहीं करता था। कंद, मूल, पत्र, पुष्प, फल, बीज भी ग्रहण नहीं करता था। उसने चार प्रकार के अनर्थदंड का जीवन पर्यंत त्याग कर दिया था ।

पीने के लिये एवं हाथ पैर पात्रादि धोने के लिये चार सेर (आधा आढ़क)पानी ग्रहण करता था तथा स्नान के लिये वह ८ सेर(१ आढक) से अधिक पानी ग्रहण नहीं करता था। पानी ग्रहण के संपूर्ण नियमों का भी वह पालन करता था। अंबड़ संन्यासी अरिहंत एवं अरिहंत भगवान के श्रमणों के अतिरिक्त किसी को भी वंदन नमस्कार(सविधि गुरुवंदन) नहीं करता था। इस प्रकार अंबड़ परिव्राजक अपने पूर्व वेश एवं चर्या के साथ श्रावक व्रतों की आराधना कर मृत्यु के समय एक महिने के संथारे से आयु पूर्ण करके पाँचवे देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी उम्र दस सागरोपम की है। वह भी धर्म का आराधक हुआ । देव भव पूर्ण होने पर अंबड़ का जीव महाविदेह क्षेत्र में उत्तम कुल में जन्म लेगा। दृढ़प्रतिज्ञ नाम रखा जायेगा। ७२ कला में पारंगत होगा। यौवन वय प्राप्त होने पर माता पिता उसे भोगों का निमंत्रण करेंगे किंतु वह उन्हें स्वीकार नहीं करेगा। श्रमण निर्ग्रंथों के पास दीक्षा अंगीकार करेगा। अनेक वर्ष संयम पर्याय का शुद्ध आराधन करेगा। जिससे उसे केवल ज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति होगी। फिर अनेक वर्ष केवली पर्याय में विचरण कर, सम्पूर्ण कर्म क्षय कर सिद्ध बुद्ध मुक्त होगा। सिद्ध बुद्ध मुक्त होने के लिये ही श्रमण संयम साधना के इन निम्न कठोरतम नियमों का पालन करता हैं, यथा-

(१) नग्नभाव-शरीर संस्कार त्याग (२) मुंड़भाव-गृह एवं ममत्व परिग्रह त्याग (३) स्नान नहीं करना (४) दांतौन आदि नहीं करना (५) केश लुंचन-मस्तक दाढ़ी मूंछ के समस्त बाल हाथ से खींच कर उखाड़ना (६) अखंड़ ब्रह्मचर्य पालन (७) छत्र त्याग (८) जूते आदि त्याग (९) भूमि पर सोना अथवा पाट या काष्ट खंड़ पर सोना (१०) घर घर से भिक्षा लाना (११) लाभालाभ में संतुष्ट रहना (१२) दूसरों के द्वारा की गई हीलना, निंदा, खिंसना, गर्हा, ताड़न, तर्जन, पराभव, तिरस्कार, व्यथा, परिताप इन सब स्थितियों में समभाव एवं प्रसन्नता में स्थिर रहते

हुए, ऊँचे-नीचे, राग-द्वेषात्मक कोई भी संकल्प-विकल्प नहीं करना, अन्य भी छोटी-बड़ी इन्द्रिय विरोधी कष्ट कर स्थितिएँ, २२ परिषह, देव, मनुष्य, तिर्यंचकृत उपसर्ग आदि को समभाव से स्वीकार कर शांत प्रसन्न रहना इत्यादि मन के एवं तन के प्रतिकूल स्थितियों का प्रतिकार न करते हुए उस अवस्था में ज्ञाता दृष्टा रहकर समभाव रखना । ये सब मन के एवं तन के कष्ट साध्य नियमों को साधक कर्मों से सर्वथा मुक्त होने के लिये ही धारण करता है ।

निबंध-३५

सूर्याभदेव का मनुष्य लोक में आगमन

श्रमण भगवान महावीर स्वामी विचरण करते हुए आमलकप्पा नामक नगरी में पधारे। वहाँ आम्रशाल वन नामक चैत्य में अधिष्ठायक व्यक्ति की आज्ञा लेकर शिष्य मंड़ली सहित ठहरे । वहाँ का श्वेत राजा, अपनी धारणी राणी सहित विशाल जनमेदनी के साथ श्रमण भगवान महावीर स्वामी के दर्शन करने एवं धर्मोपदेश सुनने के लिये उपस्थित हुआ। भगवान की सेवा में पहुँचने पर उस राजा ने सर्व प्रथम पाँच अभिगम किये अर्थात् श्रावक के योग्य आवश्यक नियमों का आचरण किया एवं भगवान को विधियुक्त वंदन नमस्कार करके बैठ गया। उसके साथ आई हुई जनमेदनी भी धर्मसभा के रूप में परिवर्तित हो गई। अलग अलग समूहों से आने वाले लोग भी परिषद में एकत्रित हो गये।

सूर्याभदेव की धार्मिकता :- प्रथम देवलोक के सूर्याभ नामक विमान का मालिक सूर्याभदेव अपने चार हजार सामानिक देव, सपरिवार चार अग्रमहिषियाँ, तीन प्रकार की परिषद, सौलह हजार आत्मरक्षक देव इत्यादि अपनी विशाल ऋद्धि के साथ दैविक सुखों का अनुभव कर रहा था। उसी समय संयोग वश उसने अवधिज्ञान में उपयोग लग जाने से श्रमण भगवान महावीर स्वामी को आमलकप्पा नगरी में विराजमान देखा। देखते ही परम आनंदित एवं हर्षित हुआ। तत्काल सिंहासन से उतरकर पावों में से पादुका निकाली, मुंह पर उत्तरासंग = दुपट्टा लगाया, दाहिना घुटना दबाकर बाया घुटना ऊँचा करके बैठकर मस्तक को तीन

बार भूमि पर लगाया फिर जोड़े हुए दोनों हाथ मस्तक के पास रखते हुए प्रथम् णमोत्थुणं के पाठ से सिद्ध भगवंतो को एवं दूसरे णमोत्थुणं के पाठ से श्रमण भगवान महावीर स्वामी को वंदन किया एवं गुणकीर्तन किया। फिर सिंहासन पर आसीन हो गया। उसे मनुष्य लोक में आकर भगवान के दर्शन सेवा का लाभ लेने की भावना उत्पन्न हुई। अपने आधीनस्थ आभियोगिक देवों को समवसरण के आसपास के एक योजन प्रमाण क्षेत्र की शुद्धि करने का आदेश दिया ।

आभियोगिक देवों का आचार :- आज्ञानुसार आभियोगिक देवों ने आमलकप्पा नगरी में आकर प्रथम श्रमण भगवान महावीर स्वामी को वंदन नमस्कार किया, अपना नाम गौत्र आदि बताकर परिचय दिया । भगवान ने समुचित शब्दों के उच्चारण के साथ उनका वंदन स्वीकार किया एवं कहा हे देवानुप्रियों ! यह आप लोगों का जीताचार-आचार परंपरा है कि चारों जाति के देव प्रसंग प्रसंग पर अधिपति देवों की आज्ञा से आकर अरिहंत भगवंतों को वंदन नमस्कार कर अपना नाम गौत्र बतात हुए परिचय देते हैं। वे आभियोगिक देव इस प्रकार भगवान के वचनामृत सुनकर पुनः हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाकर वहाँ से निकल कर बाहर आये और भगवान के चारों तरफ एक एक योजन जितने क्षेत्र की संवर्तक वायु से सफाई की, जल से छिड़काव किया एवं सुगंधित द्रव्यों से उस क्षेत्र को सुवासित कर दिया। फिर वे पुनः भगवान को वंदन कर देवलोक में चले गये। सूर्याभदेव को निवेदन कर दिया कि आपकी आज्ञानुसार कार्य संपन्न कर दिया है ।

सूर्याभदेव का आगमन :- सूर्याभदेव की आज्ञा से सेनापति देव ने सुस्वंरा नामक घंटा को तीन बार बजा कर सभी देवों को सावधान किया। फिर सभी को संदेश सुनाया कि सूर्याभदेव भगवान महावीर स्वामी के दर्शन करने जा रहा है, आप लोग भी अपने अपने विमानों से शीघ्र यहाँ पहुच जावें। घोषणा सुनकर देव सुसज्जित होकर यथासमय वहाँ सुधर्मा सभा में पहुँच गये। सूर्याभदेव की आज्ञा से एक लाख योजन का लंबा चौड़ा गोलाकार यान विमान विकुर्वित किया गया। जिसके मध्य में सिंहासन पर सूर्याभ देव आसीन हुआ। फिर यथाक्रम से सभी देव चढ़कर अपने अपने भद्रासनों पर बैठ गये। शीघ्र गति से विमान पहले

देवलोक के उत्तरी निर्याण मार्ग से निकला एवं हजारों (असंख्य) योजन की गति से शीघ्र ही नंदीश्वर द्वीप के रतिकर पर्वत पर पहुँच गया। वहाँ पर उस विमान का संकोच कर लिया गया अर्थात् आमलकप्पा नगरी के बाहर रखा जा सके वैसा छोटा बना लिया। फिर आमलकप्पा नगरी में आकर विमान से भगवान की तीन बार प्रदक्षिणा की एवं भूमि से चार अंगुल उपर उसे रोक दिया। सूर्याभ देव अपने समस्त देव परिवार सहित भगवान की सेवा में पहुँचा एवं वंदना नमस्कार करके अपना परिचय दिया। तब भगवान ने सूर्याभदेव को संबोधित कर यथोचित शब्दों से उसकी वंदना स्वीकार करते हुए कहा कि यह तुम्हारा कर्तव्य है, धर्म है, आचार है, जीताचार है, करणीय है इत्यादि। सूर्याभदेव भगवान के वचनों को सुनकर अत्यंत हर्षित होता हुआ हाथ जोड़ कर बैठ गया। मनुष्य एवं देवों की उस विशाल परिषद में भगवान ने धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश एवं परिषद् विसर्जन का वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार जानना।

निबंध-३६

सूर्याभदेव की भक्ति एवं ऋद्धि

धर्मोपदेश समाप्ति और परिषद विसर्जन के बाद भी सूर्याभदेव वहाँ रुका और भगवान से प्रश्न किया कि हे भगवन् ! मैं भवी हूँ या अभवी, सम्यग् दृष्टि हूँ या मिथ्यादृष्टि, परित्त संसारी हूँ या अपरित संसारी, चरमशरीरी हूँ या अचरम शरीरी हूँ ? उत्तर में भगवान ने कहा कि तुम भवी हो, सम्यग् दृष्टि हो और एक भव करके मोक्ष जाने वाले हो।

सूर्याभदेव अत्यंत आनंदित हुआ और भगवान से निवेदन किया कि हे भंते ! आप तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, सब कुछ जानते देखते हैं। मेरी दिव्य ऋद्धि, दिव्य द्युति, दिव्य देव प्रभाव भी जानते देखते हैं। किन्तु भक्तिवश होकर मैं गौतमादि अणगारों को अपनी ऋद्धि एवं बत्तीस प्रकार के नाटक दिखाना चाहता हूँ। इस प्रकार तीन बार निवेदन करने पर भी भगवान ने उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया, मौन अवस्था में रहे। फिर सूर्याभ देव ने भगवान को तीन बार विधियुक्त वंदन नमस्कार किया और मौन स्वीकृति मान कर भगवान के सामने अपनी इच्छानुसार

वैक्रिय शक्ति से सुंदर नाट्य मंड़प की रचना की एवं स्वतः भगवान की आज्ञा लेकर प्रणाम करके अपने सिंहासन पर भगवान के सामने मुख रखकर बैठ गया।

नाट्यविधि :– फिर नाट्यविधि का प्रारंभ करते हुए अपनी एक भुजा में से १०८ देवकुमार और दूसरी भुजा से १०८ देवकुमारियाँ निकाली जो वस्त्राभूषणों से सुसज्जित थी। ४९ प्रकार के १०८ वादकों की विकुर्वणा की। फिर उन देवकुमारों को आदेश दिया कि तुम भगवान को वंदन नमस्कार करके गौतमादि अणगारों को ३२ प्रकार के नाटक दिखाओ। देवकुमारों ने आज्ञानुसार नृत्यगान युक्त नाट्य विधियों का क्रमशः प्रदर्शन किया ।

नाट्य विषय :– उन नाट्य विधियों के मुख्य विषय इस प्रकार थे– (१) आठ प्रकार के मंगल द्रव्यों संबंधी (२) पत्र, पुष्प, लता संबंधी (३) विविध चित्रों संबंधी (४) पंक्तियों आवलिकाओ संबंधी (५) चंद्रोदय सूर्योदय की रचना संबंधी (६) उनके आगमन संबंधी (७) उनके अस्त होने संबंधी (८) इनके मंड़ल या विमान संबंधी (९) हाथी, घोड़ा आदि के गति संबंधी (१०) समुद्र और नगर संबंधी (११) पुष्करणी संबंधी (१२) ककार खकार गकार इत्यादि आद्य अक्षर संबंधी (१३) उछलने, कूदने, हर्ष, भय, संभ्रांत, संकोच, विस्तारमय होने संबंधी । अंत में भगवान महावीर स्वामी के भव से पूर्व का देव भव, वहाँ से च्यवन, संहरण, जन्म, बाल्यकाल, यौवन काल, भोगमय जीवन, वैराग्य, दीक्षा, तप संयममय छद्मस्थ जीवन, केवल्य-प्राप्ति, तीर्थ प्रवर्तन और निर्वाणप्राप्ति संबंधी समस्त वर्णन युक्त नाट्यविधि का प्रदर्शन किया ।

नाट्यविधि का उपसंहार करते हुए मौलिक चार प्रकार के वादित्र बजाये, चार प्रकार के गीत गाये, चार प्रकार के नृत्य दिखाये और चार प्रकार के अभिनय-नाटक दिखाये। फिर श्रमण भगवान महावीर स्वामी को विधियुक्त वंदन नमस्कार करके सूर्याभदेव के पास में आये सूर्याभदेव ने अपनी समस्त विकुर्वणा को समेट लिया एवं भगवान को वंदन नमस्कार करते हुए अपने विमान में आरूढ़ होकर देवलोक में चला गया ।

निबंध-३७

प्रदेशी राजा का जीवन परिवर्तन

सार्ध पच्चीस आर्य देश में केकयार्ध देश में श्वेतांबिका नगरी थी। वहाँ प्रदेशीराजा राज्य करता था। वह अधार्मिक, अधर्मिष्ठ, अधर्म आचरण वाला एवं अधर्म से ही आजीविका करने वाला था। वह राजा, आत्मा, धर्म आदि कुछ भी नहीं मानता। सदा हिंसा में आसक्त, क्रूर, पापकारी, चंड़, रुद्र, क्षूद्र बना रहता था। कूड़-कपट बहुल, निर्गुण, मर्यादाहीन, व्रतपच्चक्खाण आदि से रहित यावत् अधर्म का ही सरदार बना रहता था। अपनी प्रजा का भी अच्छी तरह संरक्षण पालन नहीं करता था। एवं धर्मगुरुओं महात्माओं का आदर सत्कार विनय भक्ति कुछ भी नहीं करता था। उसके सूरिकंता नाम की राणी थी एवं सूर्यकंतकुमार नाम का पुत्र युवराज था। जो राज्य की देखरेख संभाल लेता हुआ रहता था। उस राजा के भ्रातृकुल में चित नामक सारथी (प्रधान) था। जो चारों प्रकार की बुद्धियों का स्वामी, कार्यकुशल, दक्ष(चतुर)सलाहकार, राजा के प्रमाणभूत, अवलंबनभूत, चक्षूभूत, मेढ़ीभूत था। राज्यकार्य की चिंता में सक्रिय भाग लेता था। ऐसे अच्छे सहयोग के होते हुए भी प्रदेशीराजा महा अधर्मी पापिष्ट था, यहाँ तक कि उसके हाथ खून से रंगे रहते थे। ऐसा यहाँ मुहावरे की भाषा में कहा गया है।

राजा का अपना जीवन अधर्मिष्ठ था सो था ही किंतु विशेष में वह धर्मगुरुओं महात्माओं का विद्वेषी भी था एवं समय-समय पर संत महात्माओं के लिये दुःखदाई पीड़ाकारी भी बनता था। यह उसका आचरण चित्तसारथी(प्रधान) को खटकता था। किंतु राजा के दुराग्रही मानस के आगे वह कुछ कर नहीं सकता था। फिर भी राजा की वृत्ति को सुधारने का हित चिंतन उसके मस्तिक में सदा बना रहता था। एक बार उसके ही सूझ बूझ और प्रयत्न से राजा, केशीश्रमण की धर्मसभा (प्रवचनसभा) में पहुँच गया। केशीश्रमण चार ज्ञान के धारी एवं तीर्थंकर पार्श्वनाथ के शासन में विचरण करने वाले महान संत थे। एक ही दिन, एक ही बैठक की संगति में केशीश्रमण के ज्ञान एवं विवेक

तथा समझाने की कला से प्रदेशी राजा का मिथ्यात्व अज्ञान का नशा समाप्त हो गया। जिससे वह धर्मप्रेमी, धर्मिष्ठ, बारह व्रतधारी श्रमणोपासक बन गया। पौषध व्रत भी यथासमय करने लगा। राज्य से उसका विरक्त मन अब उदासीन रहने लगा एवं संसार के सुखभोगों में भी उसे अब रस नहीं रहने लगा। जिससे उसका अधिकतम समय धर्माराधना में बीतने लगा। चित्तसारथी(प्रधान) एवं युवराज सूर्यकंतकुमार राज्य संचालन में रस लेते थे। इसलिये व्यवस्था बराबर चलती थी।

राजा का यह धर्ममय जीवन राणी सूरिकंता को अच्छा नहीं लगा। उसे ऐसा आभास होने लगा कि राजा धर्म के पीछे दीवाना (पागल)हो गया है। उसने सूर्यकंतकुमार को बुलाकर प्रस्ताव रखा कि राजा धर्मांध हो गया है, राजकाज और सुखभोग में भी उनका ध्यान नहीं है, तो ऐसे में राजा को शस्त्र प्रयोग आदि किसी भी तरह से मार कर तुम्हारा राज्याभिषेक करना उचित रहेगा। कुमार को ऐसा पितृहत्या का प्रस्ताव अच्छा नहीं लगा। राणी को भय लगा कि कुमार को यह बात अच्छी नहीं लगी है तो कभी भी राजा को कह देगा। उसने शीघ्र ही कार्य पूर्ण करने का उपाय सोच लिया। राजा के भोजन को विष मिश्रित कर दिया। यहाँ तक कि आसन आदि भी विष संयुक्त कर दिये। यथासमय राजा भोजन करने बैठे। सभी प्रकार के जहर का असर राजा को होने लगा। राजा को समझ में भी आ गया कि आज महाराणी ने सारा जहरमय संयोग बनाया है। धर्ममति से ओतप्रोत राजा ने अपना कर्मोदय और धर्म कर्तव्य सोचा। राणी के प्रति विचारों को उपेक्षित कर दिया। अपनी सावधानी के साथ राजा पौषधशाला में पहुँच गया। विधियुक्त भक्त प्रत्याख्यान संथारा ग्रहण कर लिया अर्थात् १८ पापों का तीन करण, तीन योग से सर्वथा त्याग किया, आहार-पानी का त्याग किया एवं शरीर के प्रति ममत्वभाव हटाकर उसे भी वोसिरा दिया। जहर के प्रकोप से वेदना तीव्र-तीव्रतम होने लगी। राजा आत्मभाव में समभावों में लीन बन गया। राणी के प्रति मन में भी अशुभ विचार नही आने दिये। आयुष्य की ड़ोरी टूटने का समय आ चुका था। श्रावकधर्म की एवं समभावों की अनुपम आराधना कर प्रथम देवलोक

में राजा का जीव सूर्याभविमान में सूर्याभदेव के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ वह शक्रेन्द्र का सामानिक देव बना अर्थात् इन्द्र के समान ही लगभग ऋद्धि एवं उम्र उसने प्राप्त की। वहाँ से भी आयुष्य पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर संयम तप की आराधना से संपूर्ण कर्म क्षय कर मुक्त होकर सिद्ध बनेगा। इस प्रकार एक ही बार की केशीस्वामी की सत्संगति से अधर्मी जीवन वाले राजाने अपने जीवन को ऐसा परिवर्तित किया कि नरक तिर्यंचगति भ्रमण के तो ताले ही लगा दिय एवं एक भव करके मोक्षगामी भी बन गया।

निबंध-३८

चित्तसारथी द्वारा कर्तव्य पालन

कुणाल देश की श्रावस्ति नगरी में जितशत्रु राजा रहता था। जो राजा प्रदेशी का अधीनस्थ राजा था। एक बार आवश्यक राज्य कार्यवश चित्तसारथी का राजा की आज्ञा से श्रावस्ति में जाना हुआ। वहाँ पर संयोगवश केशीश्रमण का सत्संग मिला। चित्त सारथी ने केशी श्रमण से श्रावक के १२ व्रत अंगीकार किये। क्रमशः विकास करते हुए वह श्रमणोपासक योग्य अनेक गुणों से संपन्न बन गया। राज्य कार्य पूर्ण कर पुनः श्वेतांबिका नगरी आना था। चित्त सारथी श्रमणोपासक ने केशीश्रमण को आग्रहभरी विनंती करी कि आप श्वेतांबिका नगरी में अवश्य पधारना। केशीश्रमण ने प्रदेशीराजा के पापिष्ट व्यवहारों को स्पष्ट करते हुए श्वेतांबिका नगरी में आने में प्रश्नचिन्ह रख दिया अर्थात् नामंजूरी के भाव व्यक्त किये। चित्त सारथी ने सारी स्थिति को स्वीकारते हुए पुनः निवेदन किया कि भंते ! अन्य भी अनेक लोग धर्मप्रेमी वहाँ रहते हैं, अकेले राजा के कारण उन लोगों को धर्म वंचित नहीं रखा जा सकता। वे लोग आपका आदर सत्कार करके दर्शन लाभ, प्रवचन लाभ अवश्य लेंगे और आहार पानी आदि से आप की पूर्ण भक्ति करेंगे। इस प्रकार तीव्र हार्दिक भावना से युक्त निवेदन ने केशीश्रमण के भावों में परिवर्तन ला दिया। उन्होंने आश्वासन वचन कहे कि जैसा अवसर होगा ध्यान में रखेंगे।

यथासमय श्वेतांबिका में केशी श्रमण का पधारना हुआ। चित्त

सारथी एवं अनेक नागरिकों ने दर्शन प्रवचन आदि का लाभ लिया। चित्त ने राजा को प्रतिबोधित करने का भी निवेदन किया। मुनि ने बताया कि जो सत्संग में आवे ही नहीं, दूर-दूर रहे, उसे प्रतिबोध कैसे दिया जा सकता ? तब चित्त ने राजा को सत्संग में उपायपूर्वक लाने का निर्णय किया। कंबोज देश के घोड़े आये हुए थे एवं शिक्षित किये गये थे। राजा को उनके परीक्षण के लिये निवेदन किया। रथ में चारों घोड़े जोत कर राजा और प्रधान घूमने निकले। शीघ्रगति वाले घोड़े अल्प समय में ही अति दूर निकल गये। राजा गर्मी और प्यास से घबराने लगा। सारथी को निवेदन किया। उसने अवसर देखकर रथ घुमाया और शीघ्रगति से उद्यान में जहा केशीश्रमण का प्रवचन चल रहा था। उसी के निकट वृक्ष की छाया में रथ रोका और राजा के विश्राम की एवं जलपान वगैरह की सारी व्यवस्था कर दी। राजा सुख पूर्वक विश्राम ले रहा था कि केशीश्रमण के प्रवचन की आवाज सुनाई देने लगी और ध्यान देने पर विशाल परिषद भी राजा को नजर आई। धर्मद्वेषी राजा की विश्रांति भंग हुई। उसे विचार हुआ कि अपने ही बगीचे में मैं शांति पूर्वक विश्राम नहीं कर पा रहा हूँ। यहाँ पर जड़ मुंड़ एवं मूर्ख लोग ही इकट्ठे होकर जड़मुंड़ और मूर्ख की उपासना कर रहे हैं और वह इतना जोर जोर से बोल रहा है। राजा ने अपने मनोभाव चित्तसारथी के सामने प्रकट किये। चित्त तो राजा का ध्यान उधर खींचना ही चाहता था। चित्त ने धीरे से कहा कि ये ४ ज्ञान के धारी पार्श्वनाथ भगवान के शासन के श्रमण हैं। उन्हें आधोवधि ज्ञान है एवं मनःपर्यवज्ञान है, ये आप की हमारी मन की बात भी जानने वाले महान् संत है।

राजा प्रभावित हुआ। चित्त का दाव चल गया। राजा ने मुनि के पास चलने का प्रस्ताव रख दिया। इस प्रकार दोनों धर्मसभा में मुनि के नजदीक पहुँच गये। चित्त सारथी ने अपनी सूझबूझ के साथ राजा को केशीश्रमण के पास पहुँचा दिया। इसी कारण से चित्तसारथी को अधर्मी राजा के धर्मिष्ठ बनने का पूरा श्रेय जाता है। मुनि की सेवा में पहुँचने से ही राजा का जीवन अमावस से पूर्णिमा जैसा बन गया और अल्प समय में ही आत्म कल्याण साध लिया।

निबंध-३९

केशीश्रमण के साथ प्रदेशी राजा का संवाद

केशीश्रमण तो महाज्ञानी थे। उन्होंने ज्ञान के बल से बुद्धिमत्ता, विचक्षणता एवं निर्भीकता से काम लिया। राजा भी बहुत बुद्धिमान और अपने विचारों का पक्का था। उसने सभा में पहुँचते ही वंदन किये बिना खड़े-खड़े ही केशीश्रमण से पूछना प्रारंभ कर दिया- आप आधोवधिज्ञानी हैं क्या, आप प्रासुक अन्न भोजी हैं क्या ?

केशीश्रमण- हे राजन्! जिस प्रकार वणिक लोग दाण(कर) की चोरी करने के विचार से सीधा मार्ग नहीं पूछते। उसी तरह तुम भी विनय व्यवहार नहीं करने की भावना से अयोग्य रीति से प्रश्न कर रहे हो। हे राजन् ! मुझे देखकर तुम्हारे मन में ये संकल्प उत्पन्न हुए कि जड़ मुंड़ मूर्ख लोग जड़मुंड़ मूर्ख की उपासना करते हैं, इत्यादि ?

राजा प्रदेशी- हाँ ऐसे विचार आएं पर आपने कैसे जान लिए ?

केशीश्रमण- शास्त्र में पाँच ज्ञान कहे हैं। उसमें से चार ज्ञान मुझे हैं जिसमें मनःपर्यवज्ञान द्वारा मैं जानता हूँ कि तुमने ये संकल्प किये।

राजा- मैं यहाँ बैठ सकता हूँ ?

केशीश्रमण- यह तुम्हारा बगीचा है तुम ही जानो। तब प्रदेशी राजा चित्त सारथी के साथ बैठ गया।

राजा- भंते! आत्मा शरीर से अलग है या शरीर ही आत्मा है ?

केशीश्रमण- राजन् ! शरीर ही आत्मा नहीं है किन्तु आत्मद्रव्य शरीर से भिन्न है। आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान एवं श्रद्धा स्वसंवेदन से हो सकता है। संसार में जितने भी प्राणी है उन्हें सुख और दुःख का, धनवान और निर्धन होने का, मान और अपमान का, जो संवेदन होता है या अनुभूति होती है, वह आत्मा को ही होती है शरीर को नहीं। शरीर तो जड़ है।

चेतन की शंका करे, चेतन पोते आप।
शंका का करण हार, जड़ नहीं है यह साफ ॥

आत्मा है या नहीं यह संशय भी जड़(शरीर) को नहीं होता

है ऐसा संशय भी चेतन तत्त्व को होता है। यह मेरा शरीर है। इस कथन में जो मेरा शब्द है वह सिद्ध करता है कि मैं कोई शरीर से अलग वस्तु है और वही आत्म तत्त्व है, आत्मा है, जीव है, चैतन्य है। शरीर के नष्ट होने के बाद भी रहता है, परलोक में जाता है, गमनागमन एवं जन्म मरण करता रहता है। अतः संशय करने वाला, दुःख सुख का अनुभव करने वाला, आत्मा का निषेध करने वाला और **मैं**, मेरा शरीर यह सब अनुभव करने वाला **आत्मा** ही है और वह शरीर से भिन्न तत्त्व है । आँख देखने का काम करती है, कान सुनता है पर उसका अनुभव करके भविष्य में याद कौन रखता है वह याद रखने वाला तत्त्व इन्द्रियों और शरीर से भिन्न है और वह आत्म तत्त्व है उसे किसी भी नाम से कहो परंतु है वह शरीर से भिन्न दूसरा तत्त्व । इस प्रकार प्रथम उत्तर में ही राजा प्रभावित हुआ क्यों कि मुनि का उत्तर युक्तिपूर्ण था। किंतु राजा के दिमाग में भी अनेक तर्क घर कर रखे थे। अतः वह जमकर चर्चा करने लगा।

राजा– भंते ! मेरा दादा मुझ पर अत्यंत स्नेह रखता था, मैं उसे बहुत प्रिय था। वह मेरे समान ही अधर्मिष्ठ था एवं आत्मा को शरीर से अलग नहीं मानता था। इसलिएं वह निःसंकोच पापकर्म करता हुआ जीवन यापन करता था। आपकी मान्यतानुसार वह नरक में गया होगा। वहाँ उसे भयंकर दारूण दुःख ही दुःख मिलता होगा। तो मेरे उपर अपार स्नेह के कारण मुझे सावधान करने आना चाहिये था कि हे प्रिय पौत्र ! मैं पापकार्यों के फल स्वरूप नरक में गया हूँ, महान दुःखों में पड़ गया हूँ। अतः तूँ ऐसे पापकार्य मत कर, धर्माचरण कर, प्रजा का अच्छी तरह संरक्षण, पालन कर। किंतु उसके आज तक भी कभी आने का प्रश्न ही नहीं है । अतः हे भंते! आत्मा कोई अलग चीज नहीं है, शरीर ही आत्मा है और शरीर के नष्ट होने के बाद कोई भी अलग चीज रूप आत्मा की कल्पना करना गलत है ।

केशी– राजन् ! तम्हारा दादा नरक में गया होगा फिर भी नहीं आ सकता है। इसका कारण यह है कि– यदि तुम्हारी राणी सूर्यकांता के साथ कोई पुरुष इच्छित कामभोगों का सेवन करे और उसे तुम देख लो तो क्या दंड दोगे ?

राजा– उस दुष्ट पापी को मैं तत्काल दंड देकर अर्थात् तलवार से टुकड़े टुकड़े करके परलोक पहुँचा दूँगा?

केशी– यदि वह कहे कि राजन् ! मुझे एक दो घंटा का समय दो, ताकि मैं घर वालों से मिलकर तो आ जाऊँ, उन्हें अच्छी शिक्षा तो दे दूँ, तो तुम उसे छोड़ोगे ?

राजा– नहीं ! उसे इतना बोलने का समय भी नहीं दूँगा अथवा वह ऐसा बोलने की हिम्मत भी नहीं कर सकेगा और कह भी देगा तो मैं उस दुष्ट को एक क्षण मात्र की भी छुट्टी नहीं दूँगा ।

केशी– राजन् ! यही अवस्था नरक के जीवों की एवं तुम्हारे दादा की होगी कि वे अपने दुःख के आगे यहाँ आने का सोच भी नहीं सकते और यदि आना चाहे तो भी नहीं आ सकते। इसलिये तुम्हारा दादा तुम्हें कहने नहीं आ सकता। अतः तुम्हारी आशा रखना और उसी के बल पर जीव शरीर को एक मानना ठीक नहीं है ।

राजा– भंते ! मेरी दादी तो बहुत ही धर्मात्मा थी। वह आपके हिसाब से अवश्य स्वर्ग में गई होगी। उसे तो पाप फल का कोई प्रतिबंध नहीं है। वह तो आकर मुझे कह सकती कि हे पौत्र ! देख मैं धर्म करके स्वर्ग में गई हूँ। तूँ पाप कार्य मत कर, आत्मा और शरीर अलग-अलग है ऐसा मान कर धर्म कार्य कर, प्रजा का सही विधि से पालन कर, इत्यादि। किन्तु उसके द्वारा भी कभी सावधान करने का प्रसंग नहीं आया, जब कि मुझ पर तो उसका भी अत्यंत स्नेह था। अतः परलोक देवलोक और आत्मा कुछ भी नहीं है, ऐसी मेरी मान्यता है ।

केशी– राजन् ! जब तुम स्नान आदि कर पूजा की सामग्री एवं झारी आदि लेकर मंदिर में जा रहे हो और मार्ग में कोई पुरुष अशुचि(मल)से भरे शौचगृह के पास बैठ कर तुम्हें बुलावे कि इधर आओ, थोड़ी देर बैठो, तो तुम वहाँ क्षण मात्र के लिए भी नहीं जाओगे। उसी प्रकार हे राजन् ! मनुष्य लोक में ५०० योजन उपर तक अशुचि आदि की दुर्गंध जाती रहती है। इस कारण देव-देवी यहाँ नहीं आ सकते। इसलिये तुम्हारी दादी भी तुम्हें संबोधन करने नहीं आ सकती।

देवलोक से नहीं आने में अशुचि एवं दुर्गंध-के अतिरिक्त भी कई कारण है, यथा– वहाँ जाने के बाद यहाँ का प्रेम समाप्त हो जाता

है, देवलोक के प्रेम में लग जाते हैं। अथवा अभी जाऊँ, अभी जाऊँ, ऐसा सोचकर किसी नाटक, ऐशो-आराम में लग जाय तो इतने समय में तो यहाँ कई पीढ़ियाँ बीत जाती है। अतः दादी के आने के भरोसे तुम्हारा ऐसा मानना उपयुक्त नहीं है ।

राजा– भंते! इसके अतिरिक्त भी मेरा अनुभव है कि शरीर से भिन्न कोई जीव तत्त्व नहीं है। एक बार मैने एक अपराधी पुरुष को लोहे की कुंभी में बंद करवा कर ढ़क्कन बंद करके उसके उपर गर्म लोहे, ताँबे से लेप करवा कर विश्वस्त व्यक्ति को वहाँ पहरेदार नियुक्त कर दिया। कुछ दिनों बाद उस कुंभी को खोला तो वह व्यक्ति मर गया था। किन्तु उस कुंभी के कहीं भी सूई की नोक जितना भी छिद्र नहीं हुआ था। यदि आत्मा कोई अलग वस्तु होती और उसमें से निकल कर कहीं जाती तो उस कुंभी में कहीं बारीक छिद्र भी होना चाहिए था किन्तु बहुत ध्यान से देखने पर भी उसमें किसी प्रकार का छिद्र नहीं मिला। अतः मेरी मान्यता पुष्ट हुई कि शरीर से अलग जीव कोई तत्त्व नहीं है ।

केशी– राजन्! कोई चौतरफ से बंद एक दरवाजे वाला कमरा है। दिवाले उसकी ठोस बनी हो, उसमें कुछ व्यक्ति बेंड़ बाजा ढ़ोल आदि लेकर अंदर घुस जावे। फिर दरवाजा बंद करके उस पर लेप आदि लगाकर पूर्ण रूप से निश्छिद्र कर दे। फिर अंदर रहे वे पुरुष जोर से ढ़ोल, भेरीं, बाजे आदि बजावे तो बाहर आवाज आएगी ? उसकी दिवालों आदि के कोई छिद्र होंगे ?

राजा– उसके कोई छिद्र नहीं होगा तो भी आवाज तो बाहर आयेगी ।

केशी– राजन् ! जैसे बिना छिद्र किये भी आवाज बाहर आ जाती है, तो आवाज से भी आत्मतत्त्व अतिसूक्ष्म है, उसकी अप्रतिहत गति है अर्थात् दिवाल या लोहे आदि की चट्टानों से जीव की गति नहीं रूकती है। अतः तुम यह श्रद्धा करो कि जीव शरीर से भिन्न तत्त्व है। (यहाँ पर कांच की पेक बंद शीशी में से कंकर की आवाज बाहर आने के दृष्टांत से भी समझा जा सकता है।)

राजा– भंते ! एक बार मैंने एक अपराधी को मार कर तत्काल लोहकुंभी में बंद कर ढ़क्कन के लेप लगवा कर निश्छिद्र कर दिया।

कुछ दिन बाद देखा तो उसमें हजारों जीव(कीड़े)पैदा हो गये। एक बंद कुंभी में उन जीवों ने प्रवेश कहां से किया ? अंदर तो कोई भी जीव था ही नहीं ।

केशी– राजन् ! कोई सघन लोहे का गोला है। उसे अग्नि में रख दिया जाय तो थोड़ी देर बाद वह पूर्ण तपकर लाल हो जाय तो यह समझना कि उसमें अग्नि ने प्रवेश किया। फिर उस लोहे को देखा जाय तो उसमें कोई भी छिद्र नहीं दिखेगा तो भी अग्नि ने उसमें प्रवेश किया ही है। उसी प्रकार जीव भी बंद कुंभी में प्रवेश कर सकते हैं। उनका अस्तित्व स्वरूप अग्नि से भी अत्यंत सूक्ष्म है। उसके लिए लोहे आदि से बाहर निकलने या भीतर प्रवेश करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है। अतः हे राजन् ! तुम श्रद्धा करो कि शरीर से भिन्न आत्म तत्त्व है, अतः जन्म-मरण और परलोक भी है ।

राजा– एक सशक्त व्यक्ति पाँच मण वजन उठाकर रख सकता है और दूसरा अशक्त व्यक्ति उस वजन को नहीं उठा सकता, इसलिए मैं यह मानता हूँ कि शरीर है वही आत्मा है यदि आत्मा अलग होता तो एक आत्मा वह वजन उठा सकता है तो दूसरा भी उठा लेता। क्यों कि शरीर से अशक्त सशक्त कैसा भी हो आत्मा तो सब का एक सरीखा और अलग-अलग है। किन्तु सभी आत्मा सरीखी होते हुए भी एक सरीखा वजन नहीं उठा सकते। अतः मेरा मानना सही है कि शरीर है वही आत्मा है जैसा शरीर है वैसा ही कार्य होता है। अतः अलग से आत्मा को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

केशी– समान शक्ति वाले पुरुषों के भी साधन के अंतर के कारण कार्य में अंतर होना स्वाभाविक है। यथा– एक सरीखी शक्ति वाले दो पुरुषों को लकड़ी काटने का कार्य दिया गया किन्तु एक को तीक्ष्ण धार वाला कुल्हाड़ा दिया गया, दूसरे को खराब हुई धार वाला कुल्हाड़ा दिया गया। अच्छे कुल्हाड़े वाला व्यक्ति लकड़ियों को शीघ्र काटकर रख देगा और खराब कुल्हाड़े वाला नहीं काट सकेगा। इसका यह अर्थ तो नहीं होगा कि जैसा शस्त्र है वैसा कार्य होता है तो व्यक्ति कुछ भी है ही नहीं। किन्तु व्यक्ति का अस्तित्व होते हुए भी जिस प्रकार साधन के कारण कार्य में अंतर होता है। उसी प्रकार आत्मतत्त्व

सभी के होते हुए भी साधन रूप शरीर की अपेक्षा तो कार्य में रहती ही है। भार वहन के लिये भी नयी पुरानी जैसी कावड़ या रस्सी मजबूत होगीं उसी के अनुपात से व्यक्ति भार वहन कर सकता है। साधन की मुख्यता से ऐसा होता है। इसलिये हे राजन्! इस तर्क से भी तुम्हारा आत्मा को भिन्न नहीं मानना असंगत है ।

राजा– एक बार मैंने एक व्यक्ति को जीवित तोल कर, तत्काल प्राण रहित कर फिर तोला तो रंच मात्र भी उसके वजन में अंतर नहीं आया। आपकी मान्यतानुसार तो शरीर से भिन्न आत्म तत्त्व वहाँ से निकला ही होगा तो उसके वजन में कुछ भी अंतर आना चाहिये था।

केशी– राजन् ! कोई मसक में हवा भर कर तोल किया जाय और फिर उसकी हवा निकाल कर वजन किया जाय तो उसमें कोई अंतर नहीं आता। आत्मा उस हवा से भी अत्यंत सूक्ष्म(अरूपी) तत्त्व है। अतः उसके निमित्त से वजन में कोई अंतर नहीं आ सकता। इसलिए हे राजन् ! तुम्हें यह श्रद्धा करनी चाहिए कि शरीर से आत्मा भिन्न तत्त्व है ।

राजा– एक बार मने एक अपराधी को लेकर ऊपर, नीचे, अन्दर, बारीक टुकड़े टुकड़े करके देखा, तो भी कहीं जीव नहीं दिखा। अतः मैं यह मानता हूँ कि शरीर के अतिरिक्त जीव कोई चीज है नहीं ।

केशी– राजन्! तुम मूर्ख कठियारे से भी अधिक मूढ़ और विवेकहीन हो। एक बार कुछ लकड़ी काटने वाले साथी मिलकर जंगल में गये। एक नया व्यक्ति भी उस दिन साथ में हो गया। जंगल बहुत दूर था अतः खाना बनाना और भोजन करना, वे वहीं किया करते थे। साथ में थोड़ी अग्नि(अंगारे) ले जाते थे। आज उन्होंने नये व्यक्ति कठियारे से कहा कि तुम यही जंगल में बैठो, हम लकड़िय काट कर लाते हैं। तुम यथासमय खाना बनाकर रखना। कदाच अपने पास की अग्नि बुझ जाय तो यह **अरणि काष्ट** है उससे अग्नि जलाकर खाना तैयार करके रखना। लकड़ियाँ लेकर आते ही खाना खाकर हम सभी घर चलेंगे ।

उनके जाने के बाद यथासमय उस कठियारे ने खाना बनाने की तैयारी की। किन्तु देखा कि आग तो बुझ चुकी है। उसने काष्ट को उठा कर देखा तो उसमें कहीं अग्नि दिखी नहीं। आखिर उसन अरणि काष्ट के खंड़ खंड़ करके देखा तो भी कहीं अग्नि देखने में

नहीं आई। अग्नि बिना वह खाना नहीं बना सका और हताश होकर बैठ गया ।

जब वन में से कठियारे लकड़ियाँ लेकर आये तब उन्होंने दूसरी अरणि काष्ठ लेकर उन्हे आपस में घिस कर अग्नि पैदा की और खाना बनाकर खाया। उन्होंने उस नये कठियारे को कहा– रे मूर्ख ! तूँ इस लकड़ी के टुकड़े टुकड़े करके इसमें अग्नि खोजना चाहता है ऐसे खोजने से अग्नि मिलती है क्या ? इस प्रकार हे राजन्! तुम्हारी प्रवृत्ति भी उस मूर्ख कठियारे के समान हुई ।

राजा– भंते! आप सरीखे ज्ञानी बुद्धिमान विवेकशील व्यक्ति इस विशाल सभा में मुझे ऐसे तुच्छ हल्के एवं निष्ठुर शब्दों से अनादर पूर्ण व्यवहार करो क्या यह उचित है ?

केशी– राजन्! तुम यह जानते हो कि परिषद कितने प्रकार की होती है ? उसमें किसके साथ क्या व्यवहार किया जाता है ? किसको क्या दंड दिया जाता है ? फिर भी तुम मुझ श्रमण के साथ श्रमणोचित व्यवहार न करते हुए विपरीत तरीके से पेश आ रहे हो। तो तुम्हारे साथ ऐसी ही वाक्यावलि से मेरा उत्तर देना उपयुक्त है, यह तुम नहीं समझ सकते हो ?

राजा– अपना आशय स्पष्ट करते हुए राजा ने कहा कि मैं प्रारंभ के वार्तालाप से ही समझ गया था कि इस व्यक्ति(अर्थात् केशी श्रमण) के साथ जितना जितना विपरीत तरीके से व्यवहार करूँगा उतना ही अधिक से अधिक तत्त्वज्ञान प्राप्त होगा। इसमें लाभ होगा किन्तु नुकशान नहीं होगा। मैं तत्त्वज्ञान, सम्यग् श्रद्धान, सम्यक् चारित्र को प्राप्त करूँगा, जीव और जीव के स्वरूप को समझूँगा। इसी कारण मैंने ऐसा विपरीत व्यवहार किया ।

राजा– हे भंते ! आप तो समर्थ है मुझे हथेली में रखे आँवले की तरह एक बार आत्मा को बाहर रख कर बता दो ।

केशी– हे राजन्! जो ये वृक्ष के पत्ते आदि हिल रहे है, वे हवा से हिलते हैं, तो हे राजन् ! तुम इस हवा को आँखों से देख नहीं सकते हो, किसी को हाथ में रखकर दिखा भी नहीं सकते हो, फ़िर भी हवा को स्वीकार तो करते ही हो। उसी प्रकार हे राजन् ! आत्मा हवा से भी

सूक्ष्म है अर्थात् हवा तो रूपी पदार्थ है किन्तु आत्मा अरूपी पदार्थ है, उसे हाथ में कैसे दिखाया जा सकता है ? अतः तुम श्रद्धा करो कि हवा के समान आत्मा भी स्वतंत्र अचक्षु ग्राह्य तत्त्व है ।[कोई व्यक्ति, वकालात पास है इसे प्रत्यक्ष जानने के लिए कोई ड़ाक्टर उसके शरीर एवं मस्तक को काट छांट कर देखना चाहे कि मैं प्रत्यक्ष देखूं तो वह सफल नहीं हो सकता है । जब ज्ञान को ऐसे नहीं देखा जा सकता तो ज्ञानी को(आत्मा को) ऐसे प्रत्यक्ष देखने का संकल्प करना भी अयोग्य ही है ।]

कोई व्यक्ति, भूमि में आम, अंगूर, गन्ना, मिर्ची आदि सभी पदार्थों के परमाणु रहे हुए है, यह श्रद्धा कर बीज बोवे तो फल प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि कोई उसी भूमि को खोदकर कण कण मैं उन आम, अंगूर, गन्ना, मिर्च के परमाणु को प्रत्यक्ष देखने का प्रयत्न करे तो उसे कुछ भी इच्छित फल प्राप्त नहीं होगा। ये रूपी पदार्थ भी सूक्ष्म ए वं विरल होने से सामान्य ज्ञान वालों को प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर नहीं हो सकते तो आत्मा जैसे अरूपी अतिसूक्ष्म पदार्थों के प्रत्यक्ष देखने की कल्पना करना नादानता एवं बालदशा है । अतः आत्मा, परलोक, पुद्गल परमाणु, सूक्ष्म समय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीव की आदि, तैजस-कार्मण शरीर, कर्म आदि कितने ही तत्त्व सामान्य ज्ञानियों के लिये श्रद्धागम्य एवं बुद्धिगम्य हो सकते हैं, प्रत्यक्ष गम्य नहीं हो सकते ।

राजा– भंते ! जीव को अलग तत्त्व मानने पर उसका एक परिमाण (माप) मानना होगा । तब फिर वह आत्मा कभी हाथी जैसे विशाल काय में, कभी कीड़ी जैसे छोटे शरीर में किस तरह रहेगी ? यदि छोटी मानेंगें तो हाथी के शरीर में(भव में) कैसे रहेगी ? हाथी जैसी मानेंगे तो कीड़ी आदि में किस तरह रहेगी? अर्थात् नहीं रह सकेगी। अतः शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व नहीं मानना चाहिए अन्यथा यह दुविधा खड़ी रहेगी ।

केशी– राजन्! जिस प्रकार एक दीपक(या बल्ब अथवा ट्यूबलाइट) बड़े होल में है तो उसका प्रकाश उतने में समाविष्ट हो जाता है और उससे छोटे छोटे कमरे में रखा जाय तो उसका प्रकाश उस कमरे म समाविष्ट हो जाता है उसी बल्ब को एक कोठी में रख दिया जाय

तो उसका प्रकाश कोठी में भी समाविष्ट हो जाता है । इसका कारण यह है कि रूपी प्रकाश में यह संकोच विस्तार का गुण है। वैसे ही आत्मा के प्रदेश निश्चित परिमाण वाले एवं संकोच विस्तार हो सकने वाले है। वे जिस कर्म के उदय से जैसा और जितना शरीर प्राप्त करते हैं, बनाते हैं, उस शरीर में ही व्याप्त होकर के रहते हैं। इसमें कोई दिक्कत नहीं आती है। अतः हे राजन्! तुम यह श्रद्धा करो की जीव अन्य है और शरीर अन्य है। जीव शरीर नहीं है और शरीर जीव नहीं है ।

राजा- भंते ! आपने जो कुछ भी समझाया वह सब ठीक है किन्तु मेरे पूर्वज बापदादों से चला आया मेरा यह धर्म है कि जीव और शरीर एक ही है अलग से जीव कोई वस्तु नहीं है। तो अपने बापदादों का पीढ़ियों से मिला यह धर्म अब कैसे छोड़ दूँ ।

केशी- हे राजन्! तुम उस लोहवणिक के समान मूर्ख एवं हठी मत बनो, अन्यथा उसके समान तुम्हें भी पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।

कुछ वणिक धन कमाने की इच्छा से यात्रार्थ निकले। मार्ग में बड़ी अटवी रूप जंगल में पहुँचे। वहाँ किसी स्थान पर उन्होंने लोहे की विशाल खान देखी। जिसमें बहुत सारा लोहा बिखरा हुआ पड़ा था। उन लोगों ने विचार विमर्श किया और लोहे का भारा सभी ने बांध लिया। आगे चले तो शीशे की खान आई। सब ने विचार कर लोहा छोड़ दिया और शीशा भर लिया। एक वंणिक ने अनेक विध समझाने पर भी कहा कि इतनी दूर से बड़ी महेनत से जिसे उठाकर लाया हूँ मैं इसे यूँ ही नहीं छोड़ सकता। आगे चलने पर तांबे की, फिर चाँदी की और फिर सोने की खान आई। सभी वणिक पूर्व की वस्तु को हानि लाभ का विचार कर छोड़ते गये, अगली वस्तु लेते गये। किन्तु लोहवणिक उसी बात पर अड़ा रहा कि यह बार बार छोड़ना-लेना, अस्थिर चित्त का काम मैं नहीं कर सकता। अंत में रत्नों एवं हीरों की खान आई। सारे वणिक एक सलाह से हीरे भर कर आनंदित हुए और पुनः अपने देश के लिये लौटने का निर्णय कर लिया। उस लोह वणिक को फिर समझाने के लिये प्रयत्न किया किन्तु वह अपने जिद्द एवं व्यर्थ के अभिमान में अड़ा रहा और हीर भी नहीं लिये ।

नगरी में आने पर सभी साथी वणिकों ने हीरे रत्नों के मूल्य से अखूट धन सामग्री प्राप्त की और विशाल संपत्ति के मालिक बन कर अपार आनंद सुखचेन में अपना समय व्यतीत करने लगे। किन्तु लोहवणिक केवल लोहे के मूल्य जितना धन प्राप्त कर मकान संपत्ति आदि से पूर्ववत् बना रहा एवं उन साथियों के विशाल बंगले और ऋद्धि देख देख कर पश्चात्ताप के दु:ख से संतप्त रहने लगा। वणिक होकर भी उस लोहवणिक ने हानि लाभ सत्यासत्य का विचार नहीं किया, पूर्वाग्रह में रहकर उसने पश्चात्ताप को प्राप्त किया। वैसे ही हे राजन्! तूं बुद्धिमान होकर एवं सब कुछ समझ लेने के बाद भी सत्यासत्य के निर्णय पूर्वक सत्य स्वीकार करना नहीं चाहता है तो उस लोह वणिक के समान होगा। (कई लोग सामान्य बुद्धि भेड़ चाल प्रकृति के होते है जो रूढ़ियों को अपने पूर्वजों के नाम से चलाते रहते हैं, उसी में वे अपना दिखावावृत्ति एवं अहंभाव का पोषण करते है। किन्तु वास्तव में वे अत्यंत निम्न दर्जे की बुद्धि वाले एवं प्रतिष्ठा हीन व्यक्ति होते हैं।)

राजा का परिवर्तन– केशीकुमार श्रमण के निर्भीक एवं सचोट वाक्यों ने तथा तर्कसंगत दृष्टांतों ने उसके आग्रहपूर्ण विचारों में परिवर्तन ला दिया। चित्त सारथी का प्रयत्न एवं सूझ-बूझ सफल रही। राजा ने वंदना नमस्कार करके मुनि से निवेदन किया कि भंते! मैं ऐसा नहीं करूँगा कि लोह वणिक की तरह मुझे पश्चात्ताप करना पड़े। अब मैं आप से धर्म श्रवण करना चाहता हूँ।

केशीश्रमण ने समयोचित धर्मोपदेश दिया। जिससे प्रदेशी राजा व्रतधारी श्रमणोपासक बन गया। दूसरे दिन अपने परिवार एवं संपूर्ण ऐश्वर्य सहित केशीश्रमण के दर्शनार्थ आया। पाँच प्रकार के अभिगम सहित उनके अवग्रह में प्रवेश किया, विधि युक्त वंदन नमस्कार किया और पूर्व दिन में अपने द्वारा किए गये अविनय आशातना के लिए पूर्ण भक्तिभाव पूर्वक हार्दिक क्षमायाचना की। एवं उपदेश सुनने के लिए विशाल परिषद के साथ वहाँ केशी श्रमण के समक्ष बैठ गया। केशीश्रमण ने प्रदेशीराजा को एवं उसकी सूर्यकांता प्रमुख राणियों को एवं विशाल परिषद को लक्ष्य कर उपदेश दिया। उपदेश सुनकर आई हुई परिषद् विसर्जित हुई। केशीश्रमण ने प्रदेशीराजा को संबोधित कर कुछ भलावण रूप शिक्षा वचन कहे।

शिक्षा संकेत– हे प्रदेशी ! जिस प्रकार उद्यान, इक्षु खेत, खलिहान और नृत्यशाला आदि कभी रमणीय होती है और कभी अरमणीय भी हो जाते हैं वैसे तुम धर्म की अपेक्षा रमणीय बनकर पुनः अरमणीय मत बन जाना। केशीश्रमण के इस संकेत शिक्षा को स्वीकार करते हुए प्रदेशीराजा ने कहा– भंते ! मैं श्वेतांबिका प्रमुख सात हजार ग्राम नगरों की आवक को चार विभागों में विभक्त कर दूँगा। १. राज्य व्यवस्था में २. भंड़ार में ३. अतःपुर के लिए ४. दानशाला के लिए। दानशाला की व्यवस्था के लिए सुंदर कूटाकार मकान एवं नौकर नियुक्त कर दूँगा। जिसमें सदा गरीबों को या अन्य याचकों भिक्षाचरों को भोजन आदि की सुन्दर व्यवस्था रहेगी। इसके अतिरिक्त मैं स्वयं भी व्रत पच्चक्खाण पौषध एवं धर्म जागरण करते हुए उत्तरोत्तर धर्माराधन में वृद्धि करूँगा। इस प्रकार प्रदेशी ने द्रव्य भाव से पूर्ण रूपेण जीवन परिवर्तित कर दिया।

इस प्रकार अमावस से पूनम जैसे जीवन में आकर अर्थात् महान अधर्मी जीवन को आदर्शधर्मी जीवन में बदलकर ही प्रदेशी राजा ने ऐसे दिव्य देवानुभाव और महान ऐश्वर्य को प्राप्त किया। देव भव की चार पल्योपम की उम्र पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर, राज्य ऋद्धि का त्याग करके बाल ब्रह्मचारी दृढ प्रतिज्ञ नामक श्रमण बनेगा। बहुत वर्ष केवली अवस्था में विचरण करेगा एवं अंतिम समय अनेक दिनों के संथारे से निर्वाण को प्राप्त करेगा, सदा सदा के लिए जन्म मरण के भवचक्र से मुक्त हो जायेगा।

निबंध–४०

प्रदेशी राजा के जीवन से शिक्षा–ज्ञातव्य

(१) चित्त सारथी एवं केशी श्रमण के अनुपम आदर्श ने एक दुराग्रही पापिष्ट मानव को, जिसके कि हाथ खून से सन रहने की उपमा सूत्र में लगाई गई है उसे, एक बार की संगति एवं संवाद रूप विशद चर्चा ने महान् दृढ़धर्मी प्रियधर्मी बना दिया।

(२) केशी श्रमण का उपदेश सूर्यकांता महारानी ने भी सुना था और वह राजा जितनी पापिष्ठ भी नहीं थी, राजा को भी अत्यंत प्रिय ईष्ट थी।

इसी कारण पुत्र का नाम भी राणी के नाम पर सूर्यकांतकुमार रखा था। फिर भी राजा के किसी भव के निकाचित घोर कर्मों का उदय आ पहुँचने से रानी को ऐसी कुमति हुई। जीव अज्ञानदशा में उतावलपन में ऐसे कई अकार्य कर जाते हैं जिससे उनको लाभ कुछ भी नहीं होता है। फिर भी वे केवल अपने उठे हुए संकल्पों को पूर्ण करने में दत्तचित्त बन जाते हैं। यह भी जीव की एक अज्ञानदशा का पागलपन है। ऐसे कर्तव्य करने वाले यहाँ भी अपयश पाकर हानि में रहते हैं और आगे के भवों को बिगाड़ कर के दुःख की परंपरा बढ़ाते हैं।

(३) धर्म की सही समझ हृदय में उतर जाने के बाद राजा हो या प्रधान, श्रावक के बारह व्रत धारण करने में कहीं भी बाधा नहीं आती है। अतः धर्मप्रेमी जो भी आत्माएँ संयम स्वीकार नहीं कर सकती है उन्हें श्रावक व्रत धारण करने में किंचित् भी आलस्य, प्रमाद, लापरवाही, उपेक्षावृत्ति नहीं करनी चाहिए । हमारे सामने चित्तसारथी और राजा प्रदेशी का महान आदर्श उपस्थित है। एक (चित्त) तो अन्य राज्य में राज्य व्यवस्था के लिये गया था, वहीं बारह व्रतधारी बना और दूसरा(राजा) अश्व परीक्षार्थ निकला हुआ भी मुनि सत्संग से उसी दिन बारह व्रतधारी श्रावक बना। आज के हमारे वर्षों के धर्मिष्ठ लोग जो बारह व्रतधारी नहीं बन रहे हैं, उन्हें इस सूत्र की स्वाध्याय से प्रेरणा पाकर अवश्य बारह व्रत धारण करने चाहिये। श्रावकव्रत धारण करने में बाधा ड़ालने वाली मानसिक जिज्ञासाओं के समाधान के लिये पढ़ें- आगम सारांश का पुष्प १५, उपासक दशा सूत्र ।

(४) आध्यात्म धर्म के साथ साथ गृहस्थ जीवन में अनुकम्पादान एवं मानवसेवा का अनुपम स्थान है, यह भी इस सूत्र के अंतिम शिक्षावचन प्रकरण में देखने को मिलता है। प्रदेशी श्रमणोपासक ने अपने धर्मगुरू धर्माचार्य श्री केशीश्रमण के रमणिक रहने की प्रेरणा के फल स्वरूप जो संकल्प प्रकट किया था, कथनी और करणी को एक साकार रूप दिया था, वह था आध्यात्मजीवन के साथ श्रमणोपासक की अनुकम्पा और मानव सेवा या जन सेवा भावना ।अनेकांतवादमय यह निर्ग्रंथ प्रवचन एक चक्षु से नहीं चलता है, किन्तु यह उभय चक्षु प्रवर्तक है। कई लोग धर्म का रूप केवल मानव सेवा ही लेते हैं, व्रत नियम, बारह व्रत,

पौषध आदि की उपेक्षा करते हैं, वे भी एक चक्षु की कोटि में आकर निर्ग्रंथ धर्म से दूर होते हैं एवं कई श्रावक आध्यात्म धर्म में अग्रसर होकर संपन्न होते हुए भी संकीर्ण दिल या संकीर्ण दायरे के बने रहते हैं, श्रमण या श्रमणभूत नहीं होते हुए भी एवं गृहस्थ धर्म में या संसार व्यवहार में रहते हुए भी दया, दान, मानव सेवा, जन सेवा, उदारता के भावों से उपेक्षित रहते हैं, उनकी गृहस्थ जीवन की साधना एक चक्षु भूत रहती है। इस कारण से कि वे छती शक्ति(प्राप्त संपत्ति से) धर्म की प्रभावना में सहायभूत नहीं बन सकते हैं ।

इस प्रकार इस सूत्र के अंतिम प्रकरण से श्रावकों को उभय चक्षु बनने की प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये। अर्थात् आध्यात्म धर्म की साधना के साथ छती शक्ति अनुकम्पादान आदि की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। अपितु अपनी स्टेज के अनुसार दानधर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। जैसे कि- प्रदेशीराजा ने राज्य की आवक का चौथा भाग दया, दान-धर्म में सुनियोजित किया था ।

(५) श्रमण वर्ग को केशी श्रमण के इस चर्चा व्यवहार और दक्षता से अनुपम प्रेरणा लेनी चाहिए कि किस तरह दुराग्रही प्रश्नकर्ताओं को भी संतुष्ट किया जा सकता है। हृदय की एवं भावों की पवित्रता रखना ही इसमें अमोघ शक्ति रूप है। ऐसे प्रकरणों के बारंबार स्वाध्याय मनन करने से बुद्धि कौशल एवं तर्क शक्ति का विकास होता है ।

(६) केवलज्ञानी भगवंत भी अंतिम समय में बहुत दिनों का संथारा **पचक्खाण सहित** करते हैं यह भी प्रदेशी के भावी भव दृढ़प्रतिज्ञ के वर्णन से स्पष्ट होता है ।

(७) कथाग्रथों एवं व्याख्याग्रंथों में प्रदेशी श्रमणोपासक के बेले-बेले पारणा करके ४० दिन की श्रमणोपासक पर्याय में आराधक होने का वर्णन मिलता है। यह स्पष्टीकरण सूत्र में उपलब्ध नहीं है।

(८) पापकर्म का उदय आने पर अपना गिना जाने वाला व्यक्ति भी वैरी बन जाता है। अतः संसार में किसी के साथ मोह प्रतिबंध करना योग्य नहीं है। बिना अपराध के प्राणघात कर देने वाले के प्रति भी द्वेष भाव लाने से स्वयं के तो कर्मो का बंध ही होता है और समभाव रख लेने पर अपना कुछ भी अहित नहीं होता है। इसी आभ्यंतर प्रेरणा वाक्यों से प्रदेशी

ने अपना धर्म आराधन कर देव भव पाया एवं साथ ही सदा के लिए संसार भ्रमण से मुक्त होने का सर्टीफीकेट प्राप्त कर लिया। एक कवि के शब्दों में-

जहर दिया महाराणी, राजा परदेशी पी गया ।
विघटन पाप का किया, रोष को निवारा है ॥
विपदाओं के माध्यम से, कर्मों का किनारा है ।
ड़रना भी क्या कष्टों से, महापुरुषों का नारा है ॥

(९) आत्मा जैसी अरूपी तत्त्वों को श्रद्धा से समझना एवं स्वीकार करना चाहिए। प्रत्यक्ष का आग्रह सूक्ष्मतम तत्त्वों के लिए नहीं करना चाहिए। वैसे ही तर्क अगोचर अर्थात् तर्क के अविषय भूत कई अन्य तत्त्वों को भी श्रद्धा से ही स्वीकार करने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही परंपरा से प्राप्त कोई भी सिद्धांत या रूढ़ियाँ हो, उसके विषय में वास्तविकता का बोध होने के बाद पूर्वजों की दुहाई देकर अपनी हेय वृत्तियों का पोषण नहीं करना चाहिये। चाहे वह कोई भी परंपरा हो, सिद्धांत का रूप ले चुका हो, आचार का विषय हो या किसी भी प्रकार का इतिहास का विषय हो, तो भी यदि असत्य, कल्पित, अनागमिक, असंगत है; तो वैसी किसी भ्रम से चली बातों, तत्त्वों, आचारों या परंपराओ का दुराग्रह नहीं रखना चाहिए और उसे रखने के लिए संबल रूप में पूर्वजों की दुहाई नहीं देकर सत्य बुद्धि से निर्णय एवं परिवर्तन करने में नहीं हिचकना चाहिये। यह प्रेरणा केशीस्वामी ने प्रदेशीराजा को लोहवणिक का दृष्टांत देकर दी थी और प्रदेशी ने स्वीकार किया कि अब मैं ऐसा करूँगा जिससे मुझे लोहवणिक के समान पश्चाताप नहीं करना पड़ेगा । इस आदर्श को सामने रखते हुए प्रत्येक साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका तथा संघों को इमानदारी पूर्वक परंपरा के व्यामोह से चीपके रहने के मानस का परिवर्तन करना ही सच्ची धार्मिकता एवं अनाग्रहवृत्ति को धारण करना कहलायेगा। परंतु अपनी शान के लिये आग्रहवृत्ति का पोषण नहीं करना चाहिये अन्यथा खोटी शान रखने वाले मूर्खराज लोह वणिक की उपमा लग जायेगी ।

(१०) प्रदेशीराजा और चित्त सारथी के धार्मिक श्रमणोपासक जीवन क वर्णन में मुनि दर्शन, सेवाभक्ति, व्याख्यान श्रवण, पाँच अभिगम, वंदन

विधि (तिक्खुत्तोके पाठ मय), क्षेत्र स्पर्शने की आग्रह युक्त विनंती, साधु भाषा में स्वीकृति, श्रावक के बारह व्रत धारण, पौषध स्वीकार, श्रमण निर्ग्रंथों के साथ व्यवहार, दूर क्षेत्रवर्ती श्रमणों को वंदन विधि, बगीचे में पधारने पर भी चित्त के द्वारा पहले तत्काल घर में वंदन विधि, प्रदेशी का संथारा ग्रहण एवं उस समय भी सिद्धो को एवं गुरु को वंदन, स्वयं ही संथारा ग्रहण करना आदि धार्मिक कृत्यों का वर्णन किया गया है। यह श्रावक जीवन के श्रेष्ठ आचारों का संकलन है। साथ ही जन सेवा की भावनामय राज्य आवक का चौथा भाग दानशाला के लिए लगाने रूप आचार विधि का वर्णन भी धार्मिक जीवन के अंग रूप में किया गया है ।

(११) ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस श्रावक जीवन के त्याग तपोमय वर्णन में कहीं भी मंदिर मूर्ति बनाने या पूजा विधि करने अथवा अनेक मंगल मनाने संबंधी किंचित् भी वर्णन नहीं है। ऐसे विषयों को श्रावक जीवन से नहीं जोड़कर सूंत्र के पूर्व विभाग में देव भव से जोड़ा गया है। मनुष्य लोक एवं राजधानी या नगरी में ऐसे श्रावकों के परिग्रह उपकरण एवं आधिपत्य की सामग्री में एवं जीवन चर्या में मंदिर आदि के विस्तृत विषयों को नहीं जोड़ कर देवलोक के विमानों से जोड़ा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि मूर्ति पूजा श्रावकाचार एवं श्रमणाचार नहीं है ।

देवलोक के सभी स्थान शाश्वत है उसे किसी ने कभी बनाया नहीं है अतः वहाँ किसी की भी व्यक्तिगत मूर्ति होना संभव नहीं है । क्योंकि अनादि वस्तु में किसी वर्तमान व्यक्ति के नाम की कल्पना करना असंगत होता है। इसलिए कि व्यक्ति कोई अनादि नहीं होता है। अतः अनादि स्थानों में देव अपने जन्म समय में लोक व्यवहार आचार के पालन करने हेतु ये पूजा आदि कृत्य करते हैं। क्यों कि एक ही सूत्र के दो प्रकरणों में श्रावकाचार युक्त वर्णन में मंदिर मूर्ति एवं मूर्ति पूजा को निर्ग्रंथ धर्म के आचार में किंचित् भी स्थान नहीं दिया जाकर, जीताचार से देवलोक के सभी छोटे बड़े स्थानों को एवं यक्ष भूत आदि सभी अपने से निम्नस्तरीय सामान्य देवों के बिम्बों की अचा पानी फूल आदि से की है, चंदन के छापे आदि लगाये हैं। मूर्तियों के

अतिरिक्त भी सूर्याभ देव के द्वारा पूजा किये एवं पूजा कराये गये उन स्थानों के नाम(दरवाजे, थंभे आदि) शास्त्र में संकलित है। इन सब स्थानों की पूजा अर्चा करने से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि देव अपने मंगल एवं जीताचार से ही वे सब कृत्य जन्म समय में करते हैं। मनुष्यलोक में वे देव धर्म दृष्टि से तीर्थंकरों श्रमणों के दर्शन सेवा आदि के लिये आते है किन्तु किसी मंदिर या तीर्थस्थान का दर्शन करने सेवा भक्ति पूजा करने आने का वर्णन किसी शास्त्र में नहीं है और धर्मदृष्टि से आते वक्त कभी वहाँ देवलोक में रही उन मूर्तियों के दर्शन पूजा करके नहीं आते। केवल जन्म समय में ही यह सब उनके जीताचार की, मंगल कर्तव्यों की विधि होती है, इसीलिये वे इस सूत्र में वर्णित सभी कुछ कृत्य करते हैं। अतः देव के इन मात्र जन्म समय के जीताचारमय कृत्यों को श्रावकाचार या साध्वाचार से जोड़ना कदापि उपयुक्त नहीं है ।

(१२) युगप्रधान, चार ज्ञान से संपन्न केशी श्रमण ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान की परंपरा के होते हुए भी प्रदेशीराजा को किसी भी तीर्थ स्थल के पार्श्वनाथ भगवान की पूजा करने का या लाखों करोड़ों की लागत के मंदिर बनवाने का संकेत नहीं दिया। शंखेश्वर आदि किसी भी पार्श्वनाथ भगवान के किसी भी तीर्थों पर जाने का संकल्प भी नहीं कराया, न स्वयं प्रदेशी ने ही ऐसा संकल्प किया। इससे स्पष्ट है कि उस काल में स्थावर तीर्थ, मंदिर एवं मूर्तिपूजा का प्रचलन तथा उसकी प्रेरणा जैन साधु एवं श्रावक समाज में नहीं थी। इन्हीं आगम वर्णित कथानकों के राजाओं एवं श्रावकों के साथ अर्वाचीन ग्रंथों में मूर्ति मंदिर के ढ़ेर सारे वर्णन जोड़ दिये गये हैं। जो सूत्र से अतिरिक्त प्ररूपण के दोष से दूषित एवं मनःकल्पित है और ऐसा करना अनंत संसार बढाने के कर्तव्य में आता है ।

(१३) सूर्याभ विमान की सुधर्मा सभा के वर्णन में सिद्धायतन का वर्णन है। उसमें १०८ जिन प्रतिमाओं का वर्णन है। उन प्रतिमाओं की सूर्याभ देव ने जन्म समय के जीताचार में विधिवत् पूजा भक्ति की है। किन्तु सुधर्मासभा के बाहर स्तूप के वर्णन के साथर जो जिन प्रतिमाओं का कथन मूलपाठ में उपलब्ध है, वह स्थानीय नहीं है। क्योंकि अंदर के विभाग में १०८ प्रतिमाओं को जो सन्मान है वह यहाँ संभव नहीं है तथा यहाँ

जैसा पाठ है उसमें कल्पितता और प्रक्षिप्तता के लक्षण भी स्पष्ट दिख रहे है। क्योंकि शाश्वत देवलोकों के स्थानों में जब १०८ बिना नाम की प्रतिमाएँ भीतरी भाग में मौजूद है। वहाँ गेट(दरवाजा)के बाहर के विभाग में असंगत स्थान में, वह भी स्तूप की तरफ ही चारों प्रतिमाओं का मुख होना बताया गया है, साथ ही वर्तमान चौवीसी के ऋषभ और वर्धमान का नाम उनके लिये लगाया गया है तथा ऐरवत क्षेत्र के प्रथम और अंतिम तीर्थंकर का नाम भी जोड़ा गया है। शाश्वत प्रतिमाओं में चौथे आरे के चार तीर्थंकरों का नाम लगाना भी इस पाठ की काल्पनिकता और प्रक्षिप्तता को प्रगट करता है। इन चारों प्रतिमाओं का माप भी जिन शब्दों में कहा गया है वह वर्धमान और ऋषभ तीर्थंकरों से अघटित होता है। क्योंकि शाश्वत स्थानों की प्रतिमाएँ भिन्न भिन्न अवगाहना की नहीं हो सक्ती और एक सरीखी हो तो ऋषभ और वर्धमान की अवगाहना का सुमेल कैसे हो सकेगा ? क्योंकि ऋषभदेव की ५०० धनुष की अवगाहना थी एवं वर्धमान स्वामी की सात हाथ की अवगाहना थी। इस प्रकार स्पष्ट रूप से यह ध्वनित होता है कि स्तूप के पास चार प्रतिमाओं का वर्णन अस्थानीय, काल्पनिक और प्रक्षिप्त है।

(१४) तीर्थंकर भगवंतों को एवं श्रमणों को परोक्ष वंदन णमोत्थुणं के पाठ से किया जाता है, चाहे श्रावक करे या देव करे, चाहे देव सभा में करे, राज सभा में करे, पाषधशाला या घर में करे। इन्हें ही प्रत्यक्ष में वंदन तिक्खुत्तो के पाठ की विधि से किया जाता है, चाहे श्रावक हो या देव। सिद्धों को वंदन सदा णमोत्थुणं के पाठ से किया जाता है। ये निर्णय प्रस्तुत सूत्र के प्रसंगों से एवं अन्य सूत्रों में आये प्रसंगों से प्राप्त होता है। मोक्ष प्राप्त तीर्थंकरों को सिद्ध पद में वंदन किया जाता है। इस विषय में जो भी रूढ़ परंपराएँ है उनका सूत्राधार से पुनः चिंतन कर अवश्य सुधार करना चाहिए। इच्छामि खमासमणो के पाठ से उत्कृष्ट वंदन केवल प्रतिक्रमण वेला में किया जाता है, अन्य समय में या अन्यत्र कहीं भी इस उत्कृष्ट विधि से वंदन नहीं किया जाता है। किंतु तिक्खुत्तो के पाठ की विधि अथवा णमोत्थुणं पाठ की विधि से वंदन किया जाता है। अतः सर्वत्र सर्वदा तिक्खुत्तो के पाठ से वंदन करना या सर्वत्र सर्वदा इच्छामि खमासमणो के अधूरे या पूरे पाठ से वंदन करना, एकांतिक आग्रह वाली रूढ़ परंपरा है।

श्रमणों के लिये जो णमोत्थुणं का पाठ उच्चारण किया जाता है उसमें तीर्थंकरों के संपूर्ण गुणों का उच्चारण न करते हुए संक्षिप्त में बोला जाता है, यथा- ***णमोत्थुणं केसिस्स कुमारसमणस्स मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स*** एवं विशिष्ट ज्ञानी गुरु हो तो ***वंदामि णं भंते तत्थगए इहगयं, पासउ मे भगवं तत्थगए इहगयं त्ति कट्टु वंदइ णमंसइ*** इतना और अधिक बोला जाता है। उपकारी श्रमणोपासक को भी परोक्ष में णमोत्थुण से वंदन किया जा सकता है, यथा औपपातिक सूत्र में- ***णमोत्थुणं अंबड़स्स परिव्वायगस्स (समणोवासगस्स)अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स ।***

औपपातिक सूत्र में तीन बार णमोत्थुणं देने के प्रसंग का कथन है। राजप्रश्नीय सूत्र में एवं ज्ञाता सूत्र में दो बार णमोत्थुणं देने के प्रसंगो का कथन है। दो बार देने वाले सूर्याभ ने सिद्ध और अरिहंत भगवान महावीर स्वामी को, चित्त एवं प्रदेशी तथा धर्मरूचि अणगार ने सिद्ध एवं गुरु को णमोत्थुणं से परोक्ष वंदन किया । तीन बार देने वाले अंबड़ के शिष्यों ने सिद्धों को, भगवान महावीर को एवं गुरु अंबड़ को णमोत्थुणं से परोक्ष वंदन किया । तात्पर्य यह है कि शासनपति तीर्थंकर मौजूद हो तो गुरु को परोक्ष वंदम में णमोत्थुणं से तीन बार वंदन होता है। शासनपति तीर्थंकर निर्वाण प्राप्त हो गये हों तो सिद्ध और गुरु को यों दो बार णमोत्थुणं दिया जाता है। उस समय अरिहंतो को या महाविदेहस्थ विहरमानों को णमोत्थुणं नहीं दिया जाता है। जब किसी उपकारी गुरु को णमोत्थुणं नहीं देना हो तो सिद्ध एवं शासनपति तीर्थंकर दो को णमोत्थुणं दिया जाता है और जब गुरु को णमोत्थुणं नहीं देना हो और शासनपति तीर्थंकर निर्वाण प्राप्त हो चुके हों तो केवल एक सिद्धों को णमोत्थुणं दिया जाता है अर्थात् जब उपकारी गुरु समक्ष है और शासन पति तीर्थंकर मोक्षप्राप्त हो चुके हैं तो सिद्ध भगवान को केवल एक णमोत्थुणं दिया जाता है। तदनुसार वर्तमान में कई समुदाय वाले एक णमोत्थुणं भी देते है जो आगमोचित ही प्रतीत होता है ।

(१५) कथा रूप अध्ययनों का स्वाध्याय करने में यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि उनमें ग्रहण करने योग्य, छोड़ने योग्य, जानने योग्य और समभाव, मध्यस्थभाव रखने योग्य, यों कई तरह के विषय होते है।

अतः अत्यंत सचेत सतर्क सावधान बुद्धि एवं विवेकबुद्धि से काम लेना चाहिए। राजाओं की ऋद्धि का एवं देवताओं की ऋद्धि का वर्णन भी होता है, राणियों का, अन्य स्त्रियों का एवं भोग सामग्रियों का वर्णन भी होता है, धर्माचरणों श्रावकाचारों, श्रमणचर्याओं का वर्णन भी होता है, तो कई जीताचारों, लोकाचारों, लोकव्यवहारों का भी वर्णन होता है एवं कुसिद्धांतों कुतर्कों का एवं महाअधर्मी आत्माओं का, क्रूर प्रवृत्तियों का वर्णन भी होता है, निरर्थक ही खोटे कर्तव्य और विष देने रूप दूसरों का अहित करने की प्रवृत्तियों का वर्णन भी आता है। ऐसे वर्णनों से चिंतनपूर्वक एवं आचार शास्त्रों भगवदाज्ञाओं को आगे रखते हुए समन्वय पूर्वक ही आचरणीय तत्त्वों का निर्णय लेना चाहिए। किंतु हेय ज्ञेय तत्त्वों से खोटे निर्णय नहीं लेने चाहिये।

इसके अतिरिक्त कथा में वर्णित व्यक्तियों में से किसी पर भी रागभाव या द्वेषभाव या पक्ष-विपक्ष के विचारों के भाव, निंदा एवं कर्मबंध के परिणाम नहीं आने चाहिए। तटस्थ ज्ञेय दृष्टि से ही उन कथानकों का परिशीलन करना चाहिए। उन प्रसंगों के भावावेश में नहीं बह जाना चाहिए। क्योंकि कथानकों के वर्णन में कई प्रकार के उतार-चढ़ाव होने वाले वर्णनों का गुंथन होता है। उससे अपने समभाव, तटस्थ भाव, माध्यस्थ भाव को सदा सुरक्षित एवं पुष्ट रखना चाहिये। अन्यथा निरर्थक के कर्मबंध से भारी होना हो जाता है। कथानक तो घटित हो चुके होते हैं। चाहे प्रस्तुत सूत्रगत प्रदेशीराजा और सूर्यकांता राणी हो अथवा अन्य रामायण महाभारत के कोई भी चारित्रनायक राम-रावण एवं कौरव पाँड़व आदि हो। इनके विषय में अब अपना कोई संकल्प-विकल्प करना निरर्थक होता है। इसलिये ही यह कहा गया है कि ऐसे कथा वर्णनों के अध्ययन में अत्यंत सावधान एवं विवेक बुद्धि रखनी चाहिये।

(१६) जीताचार या लोक व्यवहाराचार एवं धार्मिक आचार इनका अपना अलग-अलग स्थान एवं क्षेत्र है।

गृहस्थ श्रमणोपासक के जीवन में या दैविक जीवन में ऐसे कई जीताचार लोक व्यवहाराचार होते हैं वे अपने स्थान पर, अपनी सीमा तक, उनके लिये उपयुक्त होते हैं। किन्तु उनके जो धार्मिक आचार होते हैं वे बिलकुल स्वतंत्र संवर-निर्जरा एवं व्रत प्रत्याख्यान, दया-दान,

शील, संतोष अनुकम्पा भाव रूप होते है। इन धर्माचारों में भी अनुकम्पादान और जनसेवा रूप दान **पुण्यधर्म** रूप होता है । अभयदान एवं सुपात्र दान **संवर निर्जरा धर्म** रूप होता है। शेष सभी व्रत प्रत्याख्यान शील संतोष धर्माचरण संवर निर्जरा धर्म रूप होते हैं। किसी भी धर्माचरण में जीताचार या लोक व्यवहाराचार को प्रविष्ट कर देना, घुसा देना, उसकी परंपरा बना देना भी अनुचित है, किसी भी जीताचार को धर्माचरण का वाना पहना देना या उसे धर्माचरण मान लेना भी उचित नहीं है तथा गृहस्थावस्था में, व्यवहारिक जीवन में, अनिवृत्त जीवन में अथवा माता, पिता, राजा, समाज आदि किसी के भी अधीनस्थ जीवन में रहते हुए भी जीताचार या लोक व्यवहाराचार की एकांत रूप से विवेक रहित (अविवेकीपन से) हानि लाभ का विचार किये बिना उपेक्षा करना भी उपयुक्त नहीं होता है। जो सामाजिक गृहस्थ जीवन से ऊपर उठकर, निवृत्त साधनामय जीवन में रहता हो तो उसके द्वारा जीताचार आदि का पूर्ण त्याग कर देना अनुपयुक्त नहीं होता है, उपयुक्त ही है।

इसी कारण से अनिवृत्त गृहस्थ जीवन में ६ प्रमुख आगार होते है और निवृत साधना जीवन में श्रावक के उन ६ आगारों का भी त्याग हो जाता है। फिर भी कोई विशिष्ट साधक विवेक बुद्धि रखते हुए किसी भी जीताचार व्यवहाराचार से अलग रह सकता है। किन्तु अनिवृत्त श्रावक जीवन में जीताचारों की एकांत रूप से उपेक्षा नहीं की जा सकती । ज्ञाता सूत्र वर्णित आदर्श श्रावक अरणक जो धर्म श्रद्धा में पिशाच रूप देव से भी विचलित नहीं किया जा सका, उसने भी यात्रा के प्रारंभ में कई मंगल एवं नावा की अर्चा पूजा नमस्कार प्रवृत्ति की थी ।सम्यग् दृष्टि एक भवावतारी देवेन्द्र भी तीर्थंकरों के दाह संस्कार, भस्म, अस्थि, आदि संबंधी कई क्रिया कलाप करते हैं। उत्कृष्ट धर्म आराधना से देव बने सूर्याभ ने सम्यग् दृष्टि होते हुए भी अपने विमान के छोटे बड़े अनेक स्थानों की अर्चा पूजा की, यह राजप्रश्नीय सूत्र में स्पष्ट वर्णित है।

तात्पर्य यह है कि जीताचार को जीताचार रूप में मान्य करते हुए उसे धर्माचरण न मानते हुए यथाप्रसंग आवश्यकतानुसार स्वीकार करना गृहस्थ जीवन में अनुचित नहीं है किन्तु उसकी अविवेकपूर्ण एकांत उपेक्षा करना अनावश्यक एवं अयोग्य है। गृहस्थ जीवन की साधना में

आगे बढ़ते निवृतिमय साधना में जीताचार आदि का त्याग करना भी आवश्यक और योग्य हो जाता है। अतः जीताचार, लोक-व्यवहाराचार एवं धर्माचरण का विवेक पूर्वक निर्णय एवं समाचरण करना चाहिए। गृहस्थ जीवन को किसी भी अविवेक पूर्ण एकांत में नहीं ड़ालना चाहिये। वहाँ संसार व्यवहार एवं धर्म कर्तव्यों का विवेकपूर्वक समन्वय किया जाना ही उपयुक्त एवं समाधिकारक होता है। इसी कारण प्रथम व्रतधारी, प्रसंग आने पर संग्राम आदि में पंचेन्द्रिय मानव की जीवन लीला समाप्त करते हुए भी अपनी समकित एवं श्रमणोपासक पर्याय में जीवित-सुरक्षित रह सकता है ।

(१७) श्रमणों की यह आचार विधि है कि वे किसी प्रकार का नृत्य नाटक वांदित्र तथा अन्य दर्शनीय दृश्यों एवं स्थलों को देखने का या देखने जाने का संकल्प भी नहीं करे। ऐसा निषेध आचारांग सूत्र में है एवं प्रायश्चित्त विधान निशीथ सूत्र में है । साधु का, स्वयं अपनी भावना एवं सावधानी तथा विवेक से अपना आचार पालन करना कर्तव्य है। किन्तु अन्य कोई अपनी आग्रह पूर्ण इच्छा या संकल्प या रूचि से कुछ करना चाहे, साधु की इच्छा या निर्देश को स्वीकारने का विकल्प उसके मन में न हो ऐसे आग्रही भावों वाले व्यक्ति के साथ तिरस्कार वृत्ति या हठाग्रह या दंड़नीति स्वीकार न करते हुए, साधु को उपेक्षा भाव तटस्थ भाव रखना ही पर्याप्त होता है। सूर्याभदेव ने गौतमादि अणगारों को अपनी ऋद्धि और नाटक दिखाने का निवेदन किया।

प्रभू ने तीन बार कहने पर भी उसे स्वीकृति नहीं दी और उसकी मनोवृत्ति को जानकर निषेध या तिरस्कार भी नहीं किया। न ही कोई अन्य श्रमण ने बीच में बोलकर उससे कोई असद्व्यवहार किया। बिना स्वीकृति के ही सूर्याभ ने अपने निर्णयानुसार कृत्य किया। अतः ऐसे ही कोई प्रसंगों के उपस्थित होने पर श्रमण को उचित लगे तो उपदेश संकेत या अपने आचार एवं श्रावक के कर्तव्य का कथन कर देना चाहिए एवं कहना निरर्थक लगे तो उपेक्षा ही रखनी चाहिये। किन्तु हुकुमत, तिरस्कर, बहिष्कार, दुर्व्यवहार या बलात्कार आदि के कर्तव्य कदापि नहीं करना एवं नहीं करवाना चाहिए और ऐसे दुर्व्यवहारों का

प्रेरक या अनुमोदन भी नहीं बनना चाहिए। किन्तु शालीनता एवं शिष्टता के व्यवहारों तक ही सीमित रहना चाहिए। क्योंकि धर्म आत्म परिणामों की प्रमुखता पर निर्भर रहता है, दूसरों पर बलात्कार करके स्वयं का धर्मी धर्माचारी कहलाना योग्य नहीं होता है ।

उपसंहार :- इस प्रकार अनेक शिक्षाओं, प्रेरणाओं से एवं ज्ञातव्य तत्त्वों से परिपूर्ण यह सूत्र, साधको के अनुभव ज्ञान एवं श्रद्धान को पुष्ट करने वाला है। अतः इसके अध्ययन मनन से यथोचित आत्म विकास को प्राप्त करना चाहिये ।

निबंध-४१

ज्योतिषी देवेन्द्रों का पूर्व भव

चंद्र विमानवासी चंद्र देव :-श्रावस्ति नाम की नगरी में अंगजीत नामक संपन्न वणिक रहता था । अनेक लोगों का वह आलंबनभूत, आधारभूत और चक्षुभूत था अर्थात् अनेक लोगों का वह मार्गदर्शक अग्रसर था। एक बार वहाँ पार्श्वनाथ भगवान विचरण करते हुए पधारे। अंगजीत सेठ दर्शन करने गया । भगवान की देशना सुनी। संसार से विरक्त हुआ। पुत्र को कुटुंम्ब का भार संभला कर स्वयं भगवान के पास दीक्षित हो गया। उसने ग्यारह अंगों का कंठस्थ ज्ञान किया। अनेक प्रकार की तपस्याएँ की। १५ दिन के संथारे में काल करके चंद्र विमान में इंद्र रूप में उत्पन्न हुआ। संयम की आराधना में कुछ कमी होने से वह संयम का विराधक हुआ।

चंद्र देव ने दैविक सुख भोगते हुए कभी अवधिज्ञान के उपयोग से जम्बूद्वीप के इस भरत क्षेत्र में विचरण करते हुए भगवान महावीर स्वामी को देखा। फिर सपरिवार भगवान के दर्शन वंदन करने के लिये आया एवं जाते समय ३२ प्रकार की नाट्यविधि का एवं अपनी ऋद्धि का प्रदर्शन किया। उसके जाने के बाद गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान ने उसके पूर्व भव का कथन किया। वर्तमान में जो चंद्र विमान हमें दिखता है उसमें यह अंगजीत का जीव इन्द्र रूप में देव है। वहाँ उसके चार अग्रमहिषी देवी है। सोलह हजार आत्मरक्षक देव आदि विशाल परिवार है।

आज के वैज्ञानिक इस चन्द्र विमान में नहीं पहुँच कर अपनी कल्पना अनुसार अन्यान्य पर्वतीय स्थानों में ही भ्रमण कर रहे हैं। क्यों कि ज्योतिष-राज चन्द्र का विमान रत्नों से निर्मित एवं अनेक देवों से सुरक्षित है। जब कि वैज्ञानिकों को अपने कल्पित स्थान में मिट्टी पत्थर के सिवाय कुछ भी नहीं मिलता है। अंगजीत मुनि ने संयम जीवन में क्या विराधना की, इसका स्पष्ट उल्लेख सूत्र में नहीं है किंतु विराधना करने का संकेत मात्र है। ***(पुष्पिका सूत्र के नाम से प्रचलित एवं वास्तव में उपांगसूत्र के तीसरे वर्ग में यह वर्णन है।)***

सूर्यविमान वासी सूर्य देव :- श्रावस्ति नगरी के अंदर सुप्रतिष्ठित नामक वणिक रहता था इसका पूरा वर्णन अंगजीत के समान है अर्थात् सांसारिक ऋद्धि, संयम ग्रहण, ज्ञान, तप, संलेखना, संयम की विराधना आदि प्रथम अध्ययन के समान ही है। पार्श्वनाथ भगवान के पास दीक्षा अंगीकार की और ज्योतिषेन्द्र सूर्य देव हुआ। चन्द्र के समान यह देव भी एक बार भगवान महावीर स्वामी की सेवा में उपस्थित हुआ एवं अपनी ऋद्धि और नाट्य विधि का प्रदर्शन किया। ये चन्द्र और सूर्य दोनों ही ज्योतिषेन्द्र महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और वहाँ यथासमय तप संयम का पालन कर संपूर्ण कर्म क्षय करके शिव गति को प्राप्त करेंगे।

वैज्ञानिक सूर्य के रत्नों के विमान को आग का गोला समझते हैं यह मात्र उनकी कल्पना का भ्रम है। जैन सिद्धांत में इसे रत्नों का विमान बताया है जो कि ज्योतिषेन्द्र सूर्य देव के संपूर्ण परिवार का निवास स्थान एवं जन्म स्थान है। इसमें हजारों देव देवियाँ उत्पन्न होते हैं, निवास करते हैं। यह जम्बूद्वीप में भ्रमण करने वाला सूर्य विमान है। ऐसे दो विमान सूर्य के और दो चन्द्र के जम्बूद्वीप में भ्रमण करते हैं। पूरे मनुष्य क्षेत्र में १३२ चन्द्रविमान और १३२ सूर्यविमान भ्रमण करते हैं। मनुष्य क्षेत्र के बाहर असंख्य चन्द्र और असंख्य सूर्य विमान अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं।

शुक्र महाग्रह :- वाराणसी नाम की प्रसिद्ध नगरी में सोमिल नाम का ब्राह्मण रहता था। वह चारों वेदों का तथा अनेक शास्त्रों का ज्ञाता था एवं उसमें पूर्ण निष्णात था।

एक बार उस नगरी में पार्श्वनाथ भगवान का पधारना हुआ। सोमिल् ब्राह्मण को ज्ञात होने पर वह अनेक प्रश्नों को लेकर भगवान की सेवा में पहुँचा। प्रश्नों का समाधान पाकर संतुष्ट हुआ एवं श्रावक धर्म स्वीकार किया। साधुओं की संगति की कमी के कारण किसी समय वह सौमिल धर्म भावना में शिथिल हो गया एवं उसे अनेक प्रकार के बगीचे लगाने की भावना हुई। उसने अनेक आम्र आदि फलों एवं विविध फूलों के बगीचे लगाए। कालांतर में उसने दिशा प्रोक्षिक तापस की प्रव्रज्या अंगीकार की। उसमें वह बेले-बेले पारणा करता था और पारणे में स्नान, हवन आदि क्रियाएँ करके फिर आहार करता था।

प्रथम पारणे में वह पूर्व दिशा में जाता है और उस दिशा के स्वामी देव की पूजा करके आज्ञा लेकर कंदादि ग्रहण करता है। दूसरे पारणे में दक्षिण दिशा में, तीसरे पारणे में पश्चिम और चौथे पारणे में उत्तर दिशा में जाता है। इस प्रकार तापस दीक्षा का और तपस्या का आचरण करता है।

तापसी दीक्षा का पालन करते हुए उसे संलेखना करने का संकल्प हुआ। उसने प्रतिज्ञा करी कि मैं उत्तर दिशा में चलते-चलते जहाँ भी गिर जाऊँगा वहाँ से नहीं उठूँगा। पहले दिन उत्तर दिशा में चलता है एवं शाम को किसी भी योग्य स्थान में अपने विधि विधान करके काष्ट मुद्रा से मुख बाँधकर मौन धारण कर ध्यान में बैठ जाता है। रात्रि में एक देव वहाँ प्रगट होता है और कहता है– हे सोमिल! यह तेरी प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है अर्थात् यह तेरा आचरण सही नहीं है खोटा है। सोमिल ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। देव चला गया। दूसरे दिन फ़िर वह काष्ट मुद्रा बाँध कर उत्तर दिशा में चला। शाम को योग्य स्थान में ठहरा। रात्रि में फिर देव आया, उसी प्रकार बोला। सोमिल के कुछ भी ध्यान न देने पर देव चला गया।

तीसरे दिन अपने भंड़ोपकरण लेकर काष्ट मुद्रा से मुंह बाँधकर फिर उत्तर दिशा में चला, योग्य स्थान में ठहरा, रात्रि में देव आया, बोला एवं सोमिल के उपेक्षा करने पर चला गया। इसी प्रकार चौथा दिन भी बीत गया। पाँचवें दिन देव के पुनः आने एवं बार-बार कहने पर सोमिल ने पूछ लिया कि हे देवानुप्रिय! मेरी दीक्षा खोटी क्यों है ?

प्रत्युत्तर में देव ने कहा कि तुमने पार्श्वनाथ भगवान के समीप श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किए थे, उन्हें छोड़ दिया और यह तापसी दीक्षापालन कर रहे हो, यह ठीक नहीं किया है। पुनः सोमिल ने पूछा कि अब मेरा आचरण सुन्दर कैसे हो सकता है ? देव ने पुनः श्रावक के बारह व्रत स्वीकार करने की प्रेरणा की और चला गया।

तब सोमिल ब्राह्मण ने स्वयं पुनः बारह व्रत स्वीकार किए एवं उपवास से लेकर मासखमण तक की तपस्याएँ की। अनेक वर्ष श्रावक व्रत का पालन कर पन्द्रह दिन के संथारे से काल करके शुक्रावतंसक विमान में शुक्र महाग्रह के रूप में देव हुआ। किसी समय यह शुक्र महाग्रह देव भी भगवान महावीर की सेवा में आया। दर्शन वंदन करके अपनी ऋद्धि का प्रदर्शन करके चला गया।

व्रत भंग एवं तापसी दीक्षा स्वीकार करने की आलोचना प्रतिक्रमण न करने से वह विराधक हुआ। देव भव की आयु पूण करके महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर आत्मकल्याण करेगा।

निबंध-४२

श्री, ह्री, लक्ष्मी, बुद्धि आदि दस देवियाँ

उपांगसूत्र के चौथे वर्ग में दस स्त्रियों का वर्णन है जिन्होंने पार्श्वनाथ भगवान के शासन में "पुष्प चूला" साध्वी प्रमुखा के पास अध्ययन कर तप संयम का पालन किया, इसलिये इस वर्ग का **पुष्प चूला** यह नाम रखा गया है। वे दसों स्त्रियाँ संयम पालन कर क्रमशः निम्न देवियाँ बनी (१) श्री देवी (२) ह्री देवी (३) धृति देवी (४) कीर्ति देवी (५) बुद्धि देवी (६) लक्ष्मी देवी (७) ईला देवी (८) सुरा देवी (९) रस देवी (१०) गंध देवी।

श्री देवी–राजगृही नगरी में सुदर्शन नामक संपन्न सद्‌गृहस्थ रहता था। उसके "प्रिया" नाम की भार्या थी एवं भूता नाम की एक लड़की थी। जो वृद्ध एवं जीर्ण शरीर वाली दिखती थी। उसके सभी अंगोपांग शिथिल थे। अतः उसको कोई भी वर नहीं मिला।

एक बार पार्श्वनाथ भगवान उस नगरी में पधारे। माता-पिता की आज्ञा लेकर वह भूता लड़की भी अपने धार्मिक रथ में बैठकर

दर्शन वंदन के लिये गई । उपदेश सुनकर बहुत खुश हुई । उसे निर्ग्रन्थ प्रवचन पर अत्यन्त श्रद्धा रुचि हुई । माता पिता से आज्ञा लेकर दीक्षा लेने के लिए तत्पर हो गई ।

माता-पिता ने उसका दीक्षा महोत्सव किया एवं हजार पुरुष उठाने वाली शिविका में बिठाकर भगवान की सेवा में ले गये और भगवान को शिष्यणी रूप भिक्षा स्वीकार करने का निवेदन किया। भगवान ने उसे दीक्षा देकर पुष्पचूला आर्या के सुपुर्द किया। पुष्पचूला आर्या के पास शिक्षा प्राप्त कर वह तप संयम में आत्मा को भावित करने लगी।

कालांतर से भूता आर्या शरीर की सेवा सुश्रूषा में लग गई और शुची धर्मी प्रवृत्तियों का आचरण करने लगी अर्थात् वह बारंबार हाथ, पाँव, मुँह, सिर, काखें, स्तन, गुप्तांग को धोती थी और बैठने, सोने, खड़े रहने की जगह को पहले पानी छिड़कती फिर बैठना आदि करती। गुरुणी के द्वारा इन सब प्रवृत्तियों के लिए निषेध करने पर एक दिन वह अलग जाकर किसी स्थान में अकेली रहने लगी और अपनी इच्छानुसार करने लगी। अनेक प्रकार की तपस्याएँ करते हुए आलोचना प्रायश्चित नहीं करने से वह विराधक होकर, पहले देवलोक के **श्री अवतंसक** विमान में **श्री देवी** रूप में उत्पन्न हुई। किसी समय भगवान महावीर के समीप में आकर उस देवी ने अनेक प्रकार की नाट्य विधि के द्वारा अपनी ऋद्धि का प्रदर्शन किया। वहाँ से एक पल्योपम की स्थिति पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मुक्ति प्राप्त करेगी।

भूता के समान ही नौ स्त्रियों का वर्णन है, केवल नाम का अन्तर है। सभी शरीर बकुशा होकर प्रथम देवलोक में गई और एक पल्योपम की स्थिति पूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र में मोक्ष जावेगी। इस वर्ग के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि लोक में जो भी लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियों की पूजा प्रतिष्ठा की जाती है वह प्रथम देवलोक की देवियों के प्रति एक प्रकार की भक्ति का प्रदर्शन है। उसके साथ ही उन्हें प्रसन्न कर उनसे कुछ पाने की आशा रखी जाती है। तीसरे वर्ग में माणिभद्र, पूर्णभद्र देव का वर्णन है उनकी भी जिन

मन्दिरों में पूजा प्रतिष्ठा की जाती है। ये सब प्रवृत्तियाँ लौकिक देवों की भक्ति रूप में लौकिक आशा चाहनाओं से की जाती है।

वीतराग धर्म तो लौकिक चाहनाओं से परे होकर आत्मसाधना करने का है। इसकी साधना करने वाला साधक पाँच पदों में स्थित आत्माओं को ही आध्यात्म की अपेक्षा नमस्करणीय समझता है। एवं वंदन नमस्कार करता है। शेष किसी को भी वंदन नमस्कार करना वह अपना लौकिक, व्यवहारिक एवं परंपरागत आचार मात्र मानता है। उस वंदन या भक्ति में वह धर्म की कल्पना को नहीं जोड़ता है।

कई भद्रिक साधु-साध्वी या श्रावक श्राविकाएँ ऐसे लौकिक आशा युक्त भक्ति के आचारों को धर्म का वाना दे बैठते हैं यह उनकी व्यक्तिगत अज्ञान दशा की भूल है।

निबंध-४३

नरक-तिर्यंच गति के दुःख

प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम हिंसा अध्ययर्न में हिंसक पापी जीवों के भावी दुःखों का वर्णन इस प्रकार किया गया है- विविध हिंसा कृत्यों में संलग्न जीव उन कृत्यों का जीवनभर त्याग नहीं करता है एवं उसी हिंसक अवस्था में ही मर जाता है तो उसकी दुर्गति होती है, जिससे वह नरक गति में या तिर्यंच गति(पशु योनि) में उत्पन्न होता है जहाँ संपूर्ण जीवन दुःख ही दुःख में व्यतीत करता है।

नरक के दुःख :-

(१) वहाँ सदा घोर अंधकार रहता है। (२) उम्र कम से कम दस हजार वर्ष की उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की होती है। (३) भूमि का स्पर्श एक साथ हजार बिच्छु ड़ंक देवे वैसा होता है। (४) सर्वत्र भूमि पर मांस, रूधिर, पीव, चर्बी आदि घृणास्पद वस्तुओं जैसे पुदगलों का कीचड़ सा बना रहता है।(५) भवनपति जाति के परमाधामी देव जाकर वहाँ नैरयिकों को औपद्रविक दुःख देते रहते हैं और वे देव उसमें ही आनंद मानते हैं।(६) अन्यान्य गलियों के कुत्तों की तरह वे नैरयिक एक दूसरे को देखते ही झगड़ते हैं और आपस में वैक्रिय शक्ति से दारूण दुःख देते हैं।

(७) नरकावास सदा उष्ण एवं तप्त रहते ह और कई नरकावास महाशीतल बर्फ की चट्टानों से भी अत्यधिक शीत होते हैं। (८) वहाँ नैरयिक सदा महान असाध्य राज रोगों से ग्रसित रहते हैं। बुढ़ापे से भी सदा व्याप्त रहते हैं। (९) *तलवार की धार के समान भूमि का स्पर्श तीक्ष्ण होता है।* (१०) वहाँ लगातार दुःख रूप वेदना चालू रहती है, पलभर के लिए भी नैरयिकों को चैन नहीं मिलता है। (११) वहाँ सदैव दुस्सह दुर्गन्ध व्याप्त रहती है। (१२) शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाने पर भी वे मरते नहीं है पुनः शरीर जुड़ जाता है किन्तु वेदना भयंकर होती रहती है। (१३) वहाँ उन्हें कोई भी शरणभूत नहीं होता है। स्वयं ही अपने कृत कर्मों को परवश होकर और रो-रो कर भोगते हैं। शारीरिक और मानसिक महान व्यथा से पीड़ित होते रहते हैं।

परमाधामी देवों द्वारा दिया जाने वाला दुःख :- (१) ऊपर ले जाकर पटक देते हैं। (२) शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके भाड़ में पकाते हैं। (३) रस्सी से, लातों से, मुक्कों से मारते हैं। (४) आँते, नसें, आदि बाहर निकाल देते हैं। (५) भाला आदि में पिरो देते हैं। (६) अंगोपांगो को फाड़ देते हैं, चीर देते हैं। (७) कड़ाही में पकाते हैं। (८) नारकी जीव के शरीर को खंड़ खंड़ करके उस मांस को गर्मागर्म करके उसे ही खिलाते हैं। (९) तलवार की धार सरीखे तीक्ष्ण पत्तों के उपर गिरा कर तिलतिल जैसे शरीर के टुकड़े टुकड़े कर देते हैं। (१०) तीखे बाणों से हाथ, कान, नाक, मस्तक आदि विभिन्न शरीरावयवों को भेद देते हैं। (११) अनेक प्रकार की कुंभियों में पकाते हैं। (१२) बालू रेत में चने की तरह भून ड़ालते हैं। (१३) मांस, रूधिर, पीव, उबले तांबे, शीशे आदि अत्युष्ण पदार्थों से उबलती उफनती वैतरणी नदी में नैरयिकों को फेंक देते हैं। (१४) वज्रमय तीक्ष्ण कंटकों से व्याप्त शाल्मली वृक्ष पर इधर से उधर खींचते है तब वे करूण आक्रंदन करते हैं। (१५) दुःख से घबराकर भागते हुए नैरयिकों को बाड़े में बंद कर देते हैं। वहाँ वे भयानक ध्वनि करते हुए चिल्लाते हैं।

(१६) रोटी की तरह सेका जाता है, टुकड़े टुकड़े करके बलि की तरह फेंक दिया जाता है, फंदा ड़ाल कर लटका दिया जाता है। सूली में भेद दिया जाता है। भर्त्सना की जाती है, अपमानित किया

जाता है । पूर्व भव के पापों की घोषणा करके वधक को दिए जाने वाले सैकड़ों प्रकार के दुःख दिए जाते हैं । (१७) दुःख से संतप्त नारक जीव इस प्रकार पुकारते हैं– "हे बंधु ! हे स्वामिन ! हे भ्राता ! अरे बाप! हे तात ! हे विजेता ! मुझे छोड़ दो, मैं मर रहा हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं व्याधि से पीड़ित हूँ, आप क्यों निर्दय हो रहे हो, मेरे उपर प्रहार मत करो और थोड़ा सांस तो लेने दो, दया कीजिए, रोष ना कीजिए, मैं जरा विश्राम ले लूँ, मेरा गला छोड़ दीजिए, मैं मरा जा रहा हूँ" इस तरह दीनता पूर्वक प्रार्थना करता है ।

(१८) परमाधामी उसे लगातार पीड़ा पहुँचाते हैं । प्यास से पीड़ित होकर पानी मांगने पर तप्त लोहा सीसा पिघाल कर देते हैं और कहते हैं लो ठंड़ा पानी पीओ और फिर जबरदस्ती मुँह फाड़ कर उनके मुख में सीसा उंड़ेल देते हैं । इस तरह परमाधामी उन्हें घोरातिघोर मानसिक शारीरिक दुःख और वाचिक प्रताड़ना करते रहते हैं । (१९) ज्वाजल्यमान तप्त लोहमय रथ में बैल की जगह जोत कर चलाया जाता है, भारी भार वहन कराया जाता है, कंटकाकीर्ण मार्ग में, तप्त रेत में चलाया जाता है । (२०) वे नारकी जीव स्वयं भी विविध शस्त्रों की विकुर्वणा करके परस्पर अन्य नैरयिकों के महा दुःखों की उदीरणा करते रहते हैं । (२१) भेड़िया, चीता, बिलाव, सिंह, व्याघ्र, शिकारी कुत्ते, कौवे आदि के रूप बनाकर भी नैरयिकों पर परमाधामी देव आक्रमण करते रहते हैं । शरीर को फाड़ देते हैं, नाखूनों से चीर देते हैं, फिर ढ़ंक कंक गिद्ध बने नरकपाल उन पर झपट पड़ते हैं । कभी जीभ खेंच लेते हैं, कभी आंखे बाहर निकाल देते हैं ।

इस प्रकार की यातनाओं से पीड़ित नारक जीव कभी ऊपर उछलते हैं, कभी चक्कर काटते हैं एवं किंकर्तव्य विमूढ़ बन जाते हैं । इस प्रकार वे नारक जीव अपने पूर्वकृत हिंसक प्रवृत्तियों का दारूण फल भोगते हैं । इन भयानक करूणाजनक यातनाओं को जानकर विवेकी पुरुष को मानव भव में बेभान बन कर हिंसा कृत्यों में तल्लीन नहीं होना चाहिये । किन्तु सावधान होकर अहिंसक जीवन जीने का दृढ संकल्प करना चाहिये ।

तिर्यंच योनि(पंशु जीवन) के दुःख :-

(१) पापों से भारी बने जीव तिर्यंच योनि में भी दुःखों से व्याप्त रहते हैं। प्राणियों में परस्पर जन्मजात वैर भाव होते हैं। कुत्ता, बिल्ली, चूहा, तीतर, बाज, कबूतर आदि जीव, जीव के भक्षक बने रहते हैं। रात दिन एक दूसरे को ताकते रहते हैं। हिंसक मांसाहारी प्राणी तो अन्य जीवों के भक्षण से ही अपना उदर पोषण करते हैं। (२) कई जीव भूख प्यास व्याधि की वेदना का कुछ भी प्रतिकार नहीं कर पाते। (३) कई पशुओं को गर्म शलाकाओं से ड़ांभा जाता है, मारपीट की जाती है, नपुंसक बनाया जाता है, भार वहन कराया जाता है एवं चाबुकों से मार मार कर अधमरा कर दिया जाता है। इन सारी यातनाओं को चुपचाप सहन करना पड़ता है। उद्दंड़ता करने पर और अधिक आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। (४) कई मांसाहारी लोग पशुपक्षियों का अत्यन्त निर्दयता पूर्वक वध करते हैं। बकरे, मुर्गे, गाय, भेड़ आदि के मांस को बेचने का धंधा करने वाले कसाई भी इनका प्राणांत प्रतिदिन करते रहते हैं। इस प्रकार मूक पशु भयावह यातनाओं को भोगते हैं। पशु जीवन मात्र ही कष्टों से परिपूर्ण है। (५) कई जीव मक्खी, मच्छर, भ्रमर, पतंगा आदि चौरेन्द्रिय योनि में दुःख पाते हैं। कई कीड़ी मकोड़े आदि तेइन्द्रिय जीव बनकर अज्ञानदशा में दुःख पाते ही रहते हैं। इसीतरह लट, गिंड़ोला, कृमि आदि द्वीन्द्रिय योनि में जीव दुःख पाते हैं। पाँच स्थावर पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा व वनस्पति की विविध योनियों में जीव बेभान अवस्था में दुःख भोगते रहते हैं।(६) पाप कर्म से भारी बने जीव मनुष्य भव को प्राप्त करके भी अंधे, लंगड़े, कुबड़े, गूगे, बहरे व कोढ़ आदि रोगों से व्याप्त हीनांग विकलांग, कुरूप, कमजोर, शक्ति-विकल, मूर्ख, बुद्धि-विहीन, दीन-हीन, गरीब होकर दुःख भोगते हैं। इस प्रकार हिंसक जीव कुगतियों में भ्रमण कर दुःख भोगते रहते हैं।

निबंध-४४

चोरी करने वालों का इस भविक दुःख

(१) चौर्य कर्म करते हुए जब पकड़ लिया जाता है तब बंधनों से

बाँधा जाता है, मारा-पीटा जाता है, अधिकारियों को सौंपा जाता है, कारागार में ठूँस दिया जाता है । वहाँ ड़ांट फटकार, गर्दन पकड़ना, धक्के देना, पटकना, ताड़ना-तर्जना आदि की जाती है । वस्त्र छीन लिए जाते हैं हथकड़ी, बेड़ी, खोड़ा, सांकल से बाँधा जाता है । पींजरों, भोंयरों में जकड़ कर ड़ाल दिया जाता है । अंगों में कीले ठोक देना, बैलों की जगह जोतना या गाड़ी के पहियों से बाँध देना, खंभे से चिपकाना, उलटा लटकाना इत्यादि बंधनों आदि से पीड़ित किए जाते हैं। (२) सुईयाँ चुभोई जाती है, वसूले से शरीर को छीला जाता है । क्षार पदार्थ लाल मिर्च आदि छिड़के जाते हैं । लोहे के नोकदार ड़ंड़े उनके छाती, पेट, गुदा और पीठ में भोंक देते हैं । इस तरह चौर्य कर्म करने वालों के अंग-प्रत्यंग चूर-चूर कर दिए जाते हैं । यमदूतों के समान कारागार के कर्मचारी मारपीट करते हैं । इस प्रकार वे मंद पुण्य अभागे चोर जेल में थप्पड़ों, मुक्कों, चर्म-पट्टों, तीक्ष्ण-शस्त्रों, चाबुकों, लातों, मोटे रस्सों, बेतों के सेकड़ों प्रहारों से पीड़ित होकर मन में उदास, खिन्न हो जाते हैं, मूढ़ बन जाते, उनका टट्टी, पेशाब, बोलना, चलना-फिरना बंद कर दिया जाता है । इस प्रकार की यातनाएँ वे अदत्त चौर्य कर्म करने वाले पापी प्राप्त करते हैं । (३) ये चोर १. इन्द्रियों का दमन नहीं कर सकने से, इन्द्रियों के दास बनने से २. धन लोलुप होने से ३. शब्दादि स्त्री विषयों में आशक्त होने से, तृष्णा में व्याकुल होकर धन प्राप्ति में ही आनंद मान कर चौर्य कर्म करते हैं किन्तु जब राजपुरुषों द्वारा पकड़ लिए जाते हैं तब उन्हें प्राण दंड़ की सजा दी जाती है । नगर में प्रसिद्ध स्थलों व चौराहों पर लाकर मार पीट की जाती है, घसीटा जाता है । (४) फाँसी पर ले जाया जाता है दो काले वस्त्र पहनाए होते हैं, विविध प्रकार से अपमानित किया जाता है । कोयलें के चूर्ण से पूरा शरीर पोत दिया जाता है, तिल-तिल जितने खुद के शरीर के टुकड़े काट कर जबरन खिलाए जाते हैं, इस प्रकार नगर में घूमा कर नागरिक जनों को दिखाया जाता है, पत्थर आदि से पीटा जाता है, फिर उन अभागों को सूली में पिरो दिया जाता है जिससे उसका पूरा शरीर चिर जाता है ।

(५) वध स्थान में कईओं के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं, वृक्ष की

शाखाओं पर टांग दिया जाता है, हाथों पैरों को कस कर बाँध दिया जाता है, पर्वत पर से फेंक दिया जाता है, हाथी के पैर के नीचे कुचल कर कचूमर कर दिया जाता है । (६) कईयों के कान, नाक, दांत, अंड़कोश उखाड़ दिए जाते हैं, जीभ खींचकर बाहर फेंक दी जाती है । किसी के अंगोपांग काट कर देश निकाला दे दिया जाता है। कई चोरों को आजीवन कैद में रखकर यातना दी जाती है और अंत में वे वहीं मर जाते हैं । इतनी दुर्दशा यहाँ मनुष्य लोक में चोर भोगते हैं। (७) यदि वे चोर पहले ही ऐसी यातनाओं की कल्पना कर लेते और चौर्यकर्म न करते तो दुःखी नहीं होना पड़ता । वहाँ उन्हें कोई भी शरण नहीं देता है । इतने से भी क्या हुआ अभी तो उनको नरकादि दुर्गतियों की वेदना भोगना और अवशेष रहता है। वहाँ से वह बुरी मौत मरकर क्लिष्ट आर्त परिणामों से नरक गति में उत्पन्न होता है । प्रथम अध्ययन में कही गई बीभत्स वेदनाओं को वहाँ नरक में भोगता है। (८) फिर क्रमशः भवोभव नरक तिर्यंच गति में दुःख भोगता ही रहता है । अवशेष कर्म वाला वह कभी मनुष्य भी बनता है तो वहाँ सुख भोग सामग्री एवं धन आदि उसे लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं मिलता है। कड़ा श्रम उद्यम करने पर भी सदा असफलता ही हाथ लगती है। न उन्हें सुख नसीब में होता, न शांति । केवल दुःख और दीनता में ही जीवन व्यतीत करता है ।

(९) इस प्रकार अदत्तादान के पाप से भारी कर्मा बने वे बेचारे विपुल दुःखों की आग में झुलसते रहते हैं । ऐसे अदत्त पाप और उसके विपाक परिणाम को जानकर विवेकी पुरुषों को सुखी होने के लिये परधन धूल बराबर समझ कर नेक नीति से प्राप्त स्वयं की संपत्ति में ही संतुष्ट और सुखी रहना चाहिये । मौत स्वीकार करना पड़ जाय तो भी चौर्य कर्म को स्वीकार नहीं करना चाहिये ।

निबंध-४५

असत्य त्याग (कथा)

बसंतपुर नाम का नगर था । वहाँ अरिमर्दन राजा राज्य करता था । मतिसागर उसका प्रधान था। उस नगर में धनदत्त सेठ रहता था ।

अपने गुणों से उसने नगर भर में बहुत ख्याति प्राप्त की थी । उसके मणिसागर नामक पुत्र था, वह भी सभी लक्षणों एवं गुणों से सुसंपन्न था । इकलौता पुत्र होने से उसे आजादी मिली हुई थी । दोस्तों के साथ घूमता फिरता था । उसके साथी लोग बुरे संस्कारों के थे । खोटी संगत से वह भी आवारा सा घूमने लगा । उस संगति में उसने चोरी करने का व्यसन ग्रहण कर लिया, अन्य दुर्गुणों से वह बचा रहा। चोरी के अवगुण में अत्यंत सिद्धहस्त हो गया और उसे यह आदत सी बन गई ।

पिता को इस बात की जानकारी हो गई कि मणिसागर चोरियाँ करके घर में सामान धन संपति भर रहा है । उसने उसे अपने पास बुलाया एवं बड़े प्यार से उसे अपने हृदय के उद्‌गार कहने लगा।

बेटे ! आजकल तुम क्या कर रहे हो, किस कमाई से घर भर रहे हो ? बोलो अपने घर में क्या कमी है ? धनदत्त के समझाने पर पुत्र ने उत्तर दिया-पिताजी ! मैं आंपका पुत्र नहीं कपूत हूँ । नालायक हूँ । मैंने हमेशा चोरी करना और लोगों का खजाना खाली करना अपना प्रमुख कार्य बना लिया है । यह मैं धन, लोभ से नहीं करता हूँ परन्तु मेरी आदत बन गई है, अब मैं इसका त्याग नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त और आप जो कहो वह सब स्वीकार कर सकता हूँ ।

पिता ने पुनः जोर देकर समझाने का एवं चोरी छुड़वाने का प्रयत्न किया किंतु सफलता नहीं मिली। सेठ ने विचार किया इस रोग का मूल कारण है कुसंगत । अतः सुसंगत ही इसका उपाय है। यह सोचकर पिता ने कहा कि हितकर वचन नहीं मानता यह ठीक नहीं है, फिर भी दूसरी बात तो मेरी मान ले । मणिसागर ने कहा-चोरी के अतिरिक्त आप जो आज्ञा दें वह सब मुझे स्वीकार है । किसी भी प्रकार की आनाकानी नहीं करूँगा ।

सेठ ने उसकी दृढ प्रतिज्ञा जानकर कह दिया कि मेरे मित्र श्री मणिसागर, राजा के प्रधान मंत्री है। रोज उनके पास जाओ और कुछ समय उनकी सेवा संगति करो। इसमें किंचित भी भूल नहीं करोगे, यह पक्का नियम लेवो, बस यह मेरा अंतिम कहना मान लो । मणि सागर ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की । अब वह रोज सुसंगत में

रहने लगा । कुछ समय बाद धनदत्त चल बसा । मणिसागर बड़ा आनंद से रहने लगा । चोरियाँ करने का क्रम उसने जारी रखा । वह चोरी करने में इतना सिद्धहस्त बन गया कि कोई भी उसका पता नही लगा सकता, न उसे पकड़ सकता । प्रतिदिन नगर में चोरियां होने से लोगों ने मिल कर प्रधान के पास निवेदन किया । प्रधान ने चिंतन किया कि नगर में फिजूल बिना मर्यादा का खर्चा करने वाला कौन है ? सोचते हुए उसे मणिसागर का ध्यान आया कि इसके कमाई कम है और उलजलूल(ऊल-फेल वेसुद्ध) खर्च है । अतः यही चोरों का सरदार है ।

मंत्रीश्वर ने प्रेम से मणिसागर को अपने पास बिठाकर कहा कि मेरे मन में बड़ा आश्चर्य है कि क्यों तुम लोगों का धन हरण करते हो ? क्यों यह अधर्म कार्य करते हो ? तुम्हारे पास बहुत दौलत पड़ी है, फिर यह व्यसन क्यों ?

मणिसागर को बड़ा आश्चर्य हुआ दिमाग चक्कर खाने लगा कि मंत्रीश्वर को यह मालुम कैसे पड़ गया ? अब क्या करना ? झूठ बोलूँ तो भी ये बुद्धि निधान है, अनुभवी है, अतः झूठ चलेगा भी नहीं । यह सोच अपनी चोरी करने की आदत को स्वीकार कर लिया कि आपका कथन सच्चा है परन्तु यह दुर्व्यशनी आपका बच्चा है । मैं चोरी का पूरा आदी हूँ अतः आप मुझे इसके लिए कभी ना कहना।

मंत्री हैरान सा हो गया कि यह अपने दुर्गुण पर भी अटल है, किन्तु स्पष्टवादी भी है । अतः मंत्री ने उसे कह दिया जाओ । अवसर पाकर तुम्हारा उचित उपाय किया जाएगा । मणिसागर के जाने के बाद मंत्री को खबर मिली कि नगरी में धर्मघोष आचार्य पधारे हैं, मंत्री बहुत ही प्रसन्न हुआ उसने मणिसागर को सूचना करवा दी कि कल सुबह हम साथ में गुरूदर्शन के लिए जाएँगे । उसने बिना किसी आनकानी के मंत्री का कथन स्वीकार किया । प्रातःकाल होते ही दोनों गुरू दर्शन कर उनके समीप में यथास्थान बैठ गये । अन्य भी नगर के लोगों से सभास्थल भर गया।

मुनिराज ने जनता की भावना देखकर व्याख्यान प्रारंभ किया। धर्म की दुर्लभता, त्याग व्रत का महत्व बताते हुए पाँच आश्रवों का

विषय लिया और क्रमशः चोरी पर उपदेश देने लगे । चोर अपनी चतुराई से पर द्रव्य हरण कर आनंद पाते हैं किन्तु जब कभी रंगे हाथ पकड़ा जावे तो फिर उसकी बड़ी दुर्दशा होती है । वह सुख से नींद नहीं ले सकता । लुकना छिपना करता रहता है । अपयश कमाता है, लोगों को दुःख देता है, सब की हाय, दुराशीष लेकर मरता है एवं वैर बंध कर के दुर्गति में नानाविध दुःख पाता है ।

यह सुनते सुनते मणिसागर का चेहरा फक सा रह गया । इधर मंत्रीश्वर ने भी ईशारा किया कि गुरूदेव का फरमान स्वीकार कर लेना अब ऐसा अवसर मत चूकना । हाथ जोड़ कर चोरी के पच्चक्खाण कर लो । उसने स्पष्ट जबाब दे दिया कि एक बार कहो चाहे लाख बार, मैं इसे नहीं छोड़ सकता । और कहो जो सब कुछ मान सकता, चाहे प्राण भी दे दूँ ।

मंत्रीश्वर ने उसे वचनबद्ध करके गुरूदेव से झूठ बोलने का त्याग करवा दिया ।मणिसागर ने भी दृढ़ नियम ले लिया । चोरी का उसका धंधा बराबर चलता रहा । जनता ने देखा मंत्रीश्वर ने सुनकर कुछ भी उपाय नहीं किया है, अब तो शिकायत राजा के पास करनी चाहिए । इक्ट्ठे होकर नगर के प्रमुख जन राजा के पास गये । अपनी व्यथा सुनाई । राजा ने आश्वासन दिया कि समझलो आज से चोर गया । निडर होकर रहो ।

रात्रि में राजा वेष परिवर्तन कर पहरेदारी के लिए चला । चोर भी दो नौकर को साथ लेकर आज राजकोश में चोरी करने चला । संयोगवश मार्ग में राजा उन्हें मिल गया । पूछा– इतनी रात में कहाँ जा रहे हो ? कौन हो तुम ? मणिसागर को झूठ बोलना था नहीं, उसने उत्तर दिया कि हम तीनों चोर हैं । आपको कहना है सो कह दो और करना हो सो करलो । राजा ने फिर पूछ लिया कि कहाँ चोरी करोगे यह भी बता दो । चोर ने निडरता से सत्य कह दिया कि आज राजा के भण्डार में चोरी करेंगे । राजा मन ही मन बोलता है कि वहाँ कोई तुम्हारा नानी का घर है जो शीघ्र घुस जाओगे । राजा ने समझ लिया कोई पागल दिमाग के हैं । उन्हें मजाक से कह दिया– जाओ यह पड़ा खास रस्ता, समय मत गवाँओ, तुम्हें कोई

रोकने वाला नहीं, रत्नों से भंडार भरे हैं । आज अमूल्य अवसर है बेड़ा पार करलो ।

ऐसी मंगल वाणी राजा की सुनकर, उसे सुकन मान कर, चोर खुश-खुश हो गये । राज भण्डार के पास पहुँचे । पहरेदारों को नींद आ रही थी । कोई उन्हें रोकने वाला नहीं मिला । मंत्रित जल डाल कर ताले तोड़ अंदर प्रवेश किया, घूम-घूम कर सारा धन देखा । तीन बड़ी पेटियाँ जेवरात की भरी देखी दो पेटियाँ लेकर दोनों नौकरों के शिर पर रखवा दी । बाकी सारा धन और खुले दरवाजे छोडकर निकल गये । मार्ग में पुनः गस्त लगाते हुए वही राजा मिले, पूछताछ की, राजा ने देख लिया कि इतने जल्दी राजभंडार से या अन्य कहीं से भी चोरी करके नहीं आ सकते । सच्चा उत्तर देने पर राजा समझ गया कि ये वे ही तीनों खोपड़ी है । इन दिमांग फैलों से बातें करके व्यर्थ ही समय गंवाँना है । ऐसा मन में सोच कर राजा ने कह दिया- जाओ भाइयों ! खूब माल उड़ावो चोरी का और मौज करो । चोर ने सत्य बोलने का फल देख लिया । राजा रात भर घूमता रहा, कहीं भी चोर नहीं मिला । सुबह होते ही खबर मिली कि राजभंडर के ताले टूट गये हैं । पहरेदारों एवं खजांचियों ने अपनी सारी वार्ता राजा को सुना दी । दो पेटी की जगह तीन पेटी की चोरी होने की बात जाहिर कर दी । राजा मन ही मन पछताने लगा कि सत्य बोल कर चोर मुझे भी ठग गया । समय पर मंत्रीश्वर आए । राजा को चिंतातुर देख कर कारण पूछा । राजा ने अपनी रात की सारी घटना सुना दी और कहा कि अब कोई ऐसी अक्ल लगावो कि जिससे चोर सन्मुख आजाय ।

मंत्री ने उपाय सोच कर कहा कि नगर के सभी लोगों को उपवन में बुलाओ । फिर एक दरवाजे से सभी निकले और उन्हें पूछा जाय कि क्या व्यापार करते हो । नगर में घोषणा करवादी गई सभी लोग आ गये । मणिसागर भी सजधज कर आ गया । एक ए क करते हुए मणिसागर का नंबर लगा ।

राजा उसे देख कर बड़ा प्रेम धर पूछने लगा कि श्रेष्ठि पुत्र! आजकल क्या व्यापार करते हो । जवाहरात का व्यापार करते हो

या आढत का, भाडा अथवा ब्याज से कमाई करते हो । मणिसागर अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ था वह बोला- आपने जितने कार्य कहे हैं उनमें का एक भी कार्य में नहीं करता हूँ । चोरी कार्य ही मेरा भंडार भरता है दूसरे व्यापारी सब मेरे लिए ही धंधा करते हैं मुझे व्यापार करने की कोई जरूरत नहीं है ।

राजा ने पूछा महीने में कितनी बार चोरी करते हो ? उसने स्पष्ट उत्तर दिया कि ३० बार अर्थात् सदा ही चोरी करना मेरा प्रमुख कार्य है । उसकी स्पष्टवादिता पर राजा हैरान था । उसने पूछा अच्छा बताओ कल रात्रि में कहां चोरी की, कौन मिला और क्या चोरी की ? उत्तर में सारी सत्य हकीकत बता दी । राजा ने पूछा यह चोरी करके सत्य बोलना कैसे सीखा ? कह दिया गुरूकृपा हो गई, असत्य बोलने का त्याग करा दिया, तब से सत्य बोलता हूँ, प्राण भले ही क्यों न निकल जाय ।

राजा ने उसे छोड दिया कि कल बुलाऊँगा । पुण्य और पाप दोनों को जितना अधिक छिपाया जाता है वह कई गुना बढ़कर सामने आता है । राजा ने खजांचियों को बुलाया और पूछा- बताओ कितनी पेटियाँ चोरी में गई ? दबी जबान से सभी बोले तीन । राजा ने तलवार निकालकर कहा सच बोलो नहीं तो अभी देता हूँ तुमको जन्म नवीन ।

भय के मारे सत्य बात कह दी । राजा ने सभी खजांचियों को अत्यंत अपमानित करके देश निकाला दे दिया ।

दूसरे दिन मणिसागर को बुलाया । सन्मान सहित राजा ने अपने पास सिंहासन पर बिठाया और कहा कि अब यह चोरी करना भी त्याग कर दो । मणिसागर का वही उत्तर था जो अपने पिता और मंत्री को दिया था । तब राजा ने उसे प्रधान मंत्री का पद दिया, जिसे वचन बद्ध होने के कारण उसे स्वीकार करना ही पड़ा ।

कुछ दिन बीतने के बाद एक समय राजा पूछ लेता है- कहो मंत्रीश्वर ! अब चोरी का धंधा कैसा चल रहा है ? उसने कहा अब क्या खाक चोरी करूं, फुरसत एक क्षण की भी नहीं मिलती । राज सिपाही सदा साथ लगे रहते हैं । मुझे अकेले कभी भी कहीं भी नही फिरने देते हैं ।

कालांतर से वे ही धर्मघोष आचार्य वहाँ पधारे, उपदेश सुनकर मणिसागर ने १२ व्रत स्वीकार किए । श्रावक धर्म की शुद्ध आराधना की और देवगति को पाप्त किया ।

इस प्रकार सुसंगत पाकर और सत्य पर अटल रह कर मणि सागर ने अपने जीवन के अवगुण को भी गुण में परिवर्तित कर दिया एवं सुख का भागीदार बना । हमें भी उनके जीवन से दृढ सत्यप्रतिज्ञ बनकर आत्म कल्याण की साधना करनी चाहिए । असत्य का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ।

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जाँके हृदय साँच है, ताँके हृदय आप ॥

निबंध–४६

निन्दा : प्रश्नोत्तर

प्र.१ निन्दा किसे कहते हैं ?

उत्तर– १– अन्य में रहे दोषों का प्रकटीकरण करना निंदा है ।

२– जो चीज जैसी नहीं है, वैसी बताना या जो चीज जैसी है, वैसी नहीं बताना निंदा है ।

३– दोष की सत्यता पर विचार किये बिना ही किसी का दोष प्रकट करना निंदा है ।

४– दूसरों के गुणों को ढ़कना और उनके दोषों को उघाड़ना पर निंदा है।

प्र.२ निन्दा करने से क्या–क्या हानियाँ होती है ?

उत्तर– १– पाप कर्म का बंध होता है ।

२– गुणवान व्यक्ति भी निर्गुणी बन जाता है ।

३– मित्र भी शत्रु बन जाता हैं ।

४– अहंकार–अभिमान, ईर्ष्या आदि दोष पुष्ट बनते हैं ।

५– निन्दा से अठारह पापों की पुष्टि होती है ।

६– पर निन्दा के कारण अकारण झगड़े खड़े होते हैं ।

७– निंदा करना पंद्रहवें पाप का सेवन करना है ।

प्र.३ निन्दा को मधुर विष (मीठा जहर) क्यों कहा गया है ?

उत्तर– मधुर विष उसे कहते हैं जो धीरे-धीरे हमारे स्वास्थ्य को गिराता है, हमें उसका यकायक अहसास भी नहीं होता । उसी प्रकार निंदा भी हमारे आत्मा के गुणों का धीरे-धीरे घात करती है ।

प्र.४ निंदक व्यक्ति की दृष्टि कैसी होती है ?

उत्तर– निंदक व्यक्ति को दूसरों के अवगुण ही नजर आते हैं । परदोष दर्शन में वह व्यक्ति इतना अधिक व्यस्त रहता है कि उसे स्वदोषदर्शन के लिए समय ही नहीं मिलता ।

प्र.५ पिट्ठिमंसं न खाएज्जा । *दशवैकालिक सूत्र,अ. ८, गाथा*–४७ इसका अर्थ बताइये ।

उत्तर– पीठ का मांस मत खाओ अर्थात् पर निंदा मत करो या किसी की पीठ पीछे निंदा मत करो ।

प्र.६ अप्पणो थवणा, परेसु निंदा.। *–प्रश्न व्याकरण सूत्र,* उपर्युक्त शास्त्र के शब्दों का अर्थ कीजिए।

उत्तर अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा करना भी असत्य के समकक्ष है, भले ही वह सत्य हो ।

प्र.७ निंदा करने का प्रमुख कारण क्या होता है ?

उत्तर– १. स्वार्थ २. ईर्ष्या ३. कुढ़ना ४., दूसरों की प्रशंसा या बढ़ती सहन न करना ५.अहंकार करना । ६. बदले की भावना ७. तिरस्कार के भाव ।

प्र.८ सन्तों की निंदा न कीजिये, कभी कोई नर भूल ।
जुगाँ जुगाँ नर दुःख सहे, रहे नरक में झूल ॥

उपर्युक्त दोहे में कवि ने क्या कहा है ?

उत्तर– कवि कहता है कि जो सन्त महात्मा है, त्यागी-ध्यानी, महापुरुष है, उनकी भूल कर भी निंदा मत करो । यदि ऐसा करोगे तो जन्म-जन्मान्तर तक दुःख सहने पड़ेंगे और नारकीय कष्ट झेलने पडेंगे ।

प्र.९ आत्म-निंदा कब सम्भव है ?

उत्तर हृदय में जब सरलता होगी, विवेक दृष्टि ज़ागत होगी, तब मनुष्य अपने दोषों को देख सकेगा । अपने दोष देखने पर जब उनके

प्रति पश्चात्ताप का भाव जागत होगा तभी आत्म-निंदा की जायेगी।

प्र.१० आत्म निंदा से क्या लाभ होते हैं ।

उत्तर- आत्म-निंदा एक प्रकार का दर्पण है । इसमें अपने जीवन की खामियाँ, दुर्बलताएँ और बुराइयाँ मनुष्य के सामने खुलकर आ जाती है और वह संकल्प करके उन्हें दूर हटाने का प्रयत्न कर सकता है, जीवन को सबल और पवित्र बनाने का प्रयत्न कर सकता है ।

प्र.११ मैं जिसकी प्रशंसा नहीं कर सकता, उसकी निंदा करने में भी मुझे लाज लगती है । उपर्युक्त उत्तम विचार किसने प्रकट किये ?

उत्तर- श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर (टेगौर) ने ।

प्र.१२ धर्म के आठ अंगों में आत्म-निंदा को कौन सा अंग बताया गया है ?

उत्तर- धर्म के आठ अंग इस प्रकार काव्य में किये गये है-

करुणा, वच्छलता, सुजनता, आत्म-निंदा पाठ ।
समता, भक्ति, विरागता, धर्म राग गुण आठ ॥

इसमें आत्मनिंदा को चौथा अंग बताया गया है ।

प्र.१३ अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः ।

अर्थ- सदगहस्थ को किसी की भी निंदा नहीं करना चाहिए और खासकर-राजा, मंत्री आदि अधिकरी एवं धर्मगुरूओं आदि की तो कभी भी निंदा नहीं करनी चाहिए ।

प्रश्न-उपर्युक्त विचार कौन से महान आचार्यने व्यक्त किये ?

उत्तर- आचार्य हेमचन्द्र ने ।

प्र.१४ निंदक एकहु मति मिलै, पापी मिलो हजार ।
इक निंदक के सीस पर, कोटि पाप को भार ॥
उपर्युक्त दोहे के रचियता कौन हैं ?

उत्तर- सन्त कबीर ।

प्र.१५ होवे धर्म प्रचार.........प्यारे भारत में (टेर)
ईर्ष्या करे ना कोई भाई, दिल में सबके हो नरमाई ।
सरल बने नर-नार..........प्यारे भारत में (१)

तजकर निंदा झूठ लड़ाई, गले मिलें सब भाई भाई ।
बहे प्रेम की धार..............प्यारे भारत में (२)
मुख से कोई न देवे गाली, बोली बोले इज्जत वाली ।
मीठी और रसदार................प्यारे भारत में (३)

उपर्युक्त गीतिका के रचयिता कौन है ?

उत्तर- श्री चन्दन मुनिजी म. सा. "पंजाबी"

प्र.१६ नीच गोत्र कर्मबंध के कारणों में प्रमुख कारण क्या है ?

उत्तर पर निंदा एवं स्व-प्रशंसा ।

प्र.१७ निन्दा से बचने के क्या उपाय है ?

उत्तर- (१) वाणी पर संयम । (२) निंदकों की संगति का त्याग । (३) **गुणग्राही** बनना । (४) जीवन को सतत सत्य प्रवत्तिमय बनाना । (५) अपने स्वयं के दोष देखते रहना ।

प्र.१८ निंदा सुनकर जो व्यक्ति अपना धैर्य खो बैठता है, शास्त्रों की भाषा में उसे क्या कहा गया है ?

उत्तर- अज्ञानी (बाल) ।

प्र.१९ परापवादे मूको भव इन शब्दों का अर्थ क्या है ?

उत्तर- पर निंदा करने के लिये मूक बन जाओ ।

प्र.२० जो व्यक्ति अन्य की निंदा आपसे कर रहा है, वह कल आपकी निंदा किसी और से करेगा।

उत्तर- वास्तव में निंदा करने वाला अपनी आदत के कारण ही ए सा करता है । बिना निंदा किए उसे खाना हजम नहीं होता । इसलिये वह सदैव दसरों के अवगुण ही देखता है । सभी व्यक्तियों में कुछ न कुछ तो दोष होता ही है, अतः मौका आने पर वह उसको बढ़ा चढ़ा कर उजागर करता है । अतः किसी की निंदा सुनने में भी रस नहीं लेना चाहिये ।

प्र.२१ अपनी निंदा को सहन करने की क्षमता किस तरह बढाना चाहिये ?

उत्तर- निम्न दो पद्यों का मनन करना चाहिये -

१- ***निंदा मेरी कोय करो रे, दोष बिन सोच न कोई रे । टेर ॥***

बिन साबुन रुजगार लिए बिन, कर्म मैल दे धोय । निंदा ॥
निंदक सम उपकार करे कुण, अंतर घट में जोय । निंदा ॥
तन जतन कर मन थिर राखो, सोने काट न होय । निंदा

२- *निंदक मती मरजे रे, म्हारी निंदा करेला कोण । टेर ॥*
निंदक नेड़ो आवजे रे, आड़ी कोट चुणाय ।
बिन साबुन पाणी बिना, म्हारा कर्म मैल कट जाय ॥निंदक ॥
धोबी धोवे धोतिया रे, निंदक धोवे मैल ।
भार हमारा ले चलियो रे, जिम विणजारे को बैल ॥ निंदक ॥
भरी सभा में निंदक बैठो, चित निंदा के माँय ।
ज्ञान ध्यान तो कुछ नहीं जाणे, कुबुद्धि हिया रे माँय ॥ निंदक ॥
मस्तक मैल उतारिये रे, दे दे हाथों जोर ।
निंदक उतारे जीभ से प्यारे, यह क्या अचरण होय ॥ निंदक ॥
निंदक तो मर जावसी रे, जिम पाणी लूँण ।
चम्पक की प्रभू विनती म्हारी, निंदा करसी कूँण ॥ निंदक ॥

प्र.२२ निंदा के लियें "इंखिणी" शब्द का प्रयोग किस सूत्र में किया है ? वहाँ क्या भाव कहा है?

उत्तर- सूयगडांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कंध के दूसरे अध्ययन के दूसरे उद्देशक की दूसरी गाथा में है । वह गाथा और उसका भावार्थ इस प्रकार है-

जे परिभवइ परं जणं, संसारे परियत्तइ महं ।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी न मज्जइ ॥

अर्थ- जो दूसरों का पराभव-तिरस्कार करता है, हीलना निंदा करता है, वह चिरकाल तक महान संसार में भ्रमण करता है । ***पराई निंदा करना, एक पापाचरण है***, ऐसा जानकर मुनि अभिमान नहीं करे अर्थात् स्वयं की प्रशंसा और दूसरों की निंदा न करे ।

प्र.२३ १८ पाप का आजीवन त्यागी साधु किसी की निंदा करे तो?

उत्तर- वह अपने साधुत्व से भ्रष्ट होता है । पंद्रहवाँ पाप रूप निंदा के सेवन से वह अपनी पाप त्याग की प्रतिज्ञा को भंग करता है। अपनी गलती को समझता भी नहीं है, अतः वह साधु होते हुए भी अज्ञानी बालजीव है । पापदोषों की शुद्धि बिना उनकी आराधना भी संभव नहीं है ।

सार :- कर्म बंध से डरते हुए मुमुक्षु आत्माओं को सदा पर निंदा व पाप से बचते रहता चाहिये । किसी के भी तिरस्कार या अवहेलन में रस नहीं लेना चाहिये किन्तु सावधानी सतर्कता के साथ पर निंद करने कराने से एवं सुनने से भी बचते रहना चाहिये । ऐसा करने स कितने ही व्यर्थ के कर्मबंध से आत्मा सुरक्षित रह सकती है ।

अवगुण उर धरिये नहीं, जो हो वक्ष बबूल ।
गुण लीजे कालू कहे, नहीं छाया में सूल ॥

निबंध-४७

पाप-पुण्य विचारणा

कार्मणवर्गणा के पुद्गल, जीव के साथ बद्ध होने के पहले सभी समान स्वभाव वाले होते हैं, किन्तु जब उनका जीव के साथ बन्ध होता है तो उनमें जीव के योग के निमित्त भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं । वही स्वभाव जैनागम में **कर्मप्रकृति** के नाम से प्रसिद्ध है । ऐसी प्रकृत्तियाँ मूल में आठ हैं और फिर उनके अनेकानेक अवान्तर भेद-प्रभेद हैं ।

विपाक की दृष्टि से कर्मप्रकृतियाँ दो भागों में विभक्त की गई है- अशुभ और शुभ । ज्ञानावरणीय आदि चार घातिकर्मों की सभी अवान्तर प्रकृतियाँ अशुभ है । अघातिकर्मों की प्रकृतियाँ दोनों भागों में विभक्त हैं- कुछ अशुभ और कुछ शुभ । अशुभ प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं, जिनका फल-विपाक जीव के लिए अनिष्ट, अकांत, अप्रिय एवं दुःखरूप होता है । शुभ कर्म-प्रकृतियों का फल इससे विपरीत यानी इष्ट, कान्त, प्रिय और सांसारिक सुख को उत्पन्न करने वाला होता है । दोनों प्रकार के फल विपाक को सरल, सरस और सुगम रूप में समझाने के लिए विपाकसूत्र के दृष्टांत अत्यन्त उपयुक्त हैं ।

यद्यपि यह सत्य है कि पाप और पुण्य दोनों प्रकार की कर्मप्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने पर ही जीवों को मुक्ति की प्राप्ति होती है, तथापि दोनों प्रकार की प्रकृतियों में कितना और कैसा अंतर है, यह तथ्य विपाक सूत्र में वर्णित कथानकों के माध्यम से समझा जा सकता है ।

पाप की प्रबलता के जीवन :- दुःखविपाक के कथानायक मृगापुत्र आदि भी अन्त में मुक्ति प्राप्त करेंगे और सुखविपाक में उल्लिखित सुबाहुकुमार आदि को भी मुक्ति प्राप्त होगी। दोनों प्रकार के कथानायकों की चरम स्थिति एक सी होने वाली है। तथापि उससे पूर्व संसार परिभ्रमण का जो चित्रण किया गया है, वह विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। पापाचारी मृगापुत्र आदि को दिल दहलाने वाली, घोरतर, दुःखमय दुर्गतियों में से दीर्घ-दीर्घतर काल तक गुजरना होगा। अनेकानेक बार नरकों में, एकेन्द्रियों में तथा दूसरी अत्यन्त विषम एवं त्रासजनक योनियों में दुस्सह वेदनाएँ भुगतनी होगी, तब कहीं जाकर उन्हें मानव-भव पाकर सिद्धि की प्राप्ति होगी।

पुण्य की प्रबलता में सुखमय जीवन :- सुखविपाक के कथानायक सुबाहुकुमार आदि को भी दीर्घकाल तक संसार में रहना होगा किन्तु उनके दीर्घकाल का अधिकांश भाग स्वर्गीय सुखों के उपभोग में अथवा सुखमय मानवभव में ही व्यतीत होने वाला है। वे घोर अनिष्टकारी दुःखदायी कर्मों का उपार्जन नहीं करते हैं अतः दूःखों से दूर ही रहते हैं।

पुण्यकर्म के फल से होने वाले सुखरूप विपाक और पापाचार के फलस्वरूप होने वाले दुःखमय विपाक की तुलना करके देखने पर ज्ञात होगा कि पाप और पुण्य दोनों बन्धनात्मक होने पर भी दोनों के फल में अन्धकार और प्रकाश जैसा अन्तर है। अतः संसार भ्रमण काल में समय व्यतीत करने की अपेक्षा पुण्य उपादेय है और पाप हेय है।

यह सत्य है कि मुमुक्षु साधक एकांत संवर और निर्जरा के कारणभूत वीतराग भाव में रमण करना ही उपादेय मानता है फिर भी स्वभावतः उनके साथ पुण्य प्रकृत्तियों का संग्रह भी हो जाता है।

अतः संयमी जीवन में पुण्य संचय के लक्ष्य की आवश्यकता नहीं है। वह संवर निर्जरा के साथ स्वतः जुड़ा रहता है किन्तु गहस्थ जीवन आरंभ एवं परिग्रह में व विषय कषाय में संलग्न होता है अतः वहाँ संवर निर्जरा के साथ-साथ जीवन में पुण्य के कत्य भी उपादेय हो जाते हैं। यों देखा जाय तो संसार में पुण्य साथ है तो उसके सब कुछ साथ है। पुण्य की प्रबलता है तो अनेक अपराध भी दब जात हैं वह व्यक्ति सर्वत्र सफलता ही प्राप्त करता है। और यदि पुण्य की

प्रबलता नहीं है तो अनेकों गुण एवं प्रयत्न भी निस्तेज एवं निरर्थक स हो जाते हैं । एक कवि ने ठीक ही कहा है-

जब लग जिसके पुण्य का, पहुँचे नहीं करार ।
तब लग उसको माफ है, अवगुण करे हजार ॥
पुण्य क्षीण जब होत है, उदय होत है पाप ।
दाजे वन की लाकड़ी, प्रजले आपो आप ।

मानव भव को प्राप्त कर आध्यात्म धर्म का संयोग मिल जाय तब तो सोने में सुगंध है किन्तु वहाँ तक पहुँचने में कुछ भी अंतराय हो तो जीवन में शुभ कर्म एवं पुण्य कर्म से वंचित तो नहीं रहना चाहिए। इसी आशय से चित्तमुनि ने संभूति राजा से धर्माचरण की आशा छूट जाने पर उसे शुभ कर्म, आर्य कर्मों की प्रेरणा इन शब्दों में की थी -

जइ तंसि भोगे चइउं असत्तो, अज्जाइं कम्माइं करेहि राय ।

सार- मुक्ति प्राप्ति की सर्वोत्कृष्ट साधना के अवसर के पूर्व पुण्य एवं शुभ कर्म भी उपादेय है एवं आत्मा को अपेक्षाकृत सुख-शांति देने वाल होते हैं किन्तु आशक्ति का विष वहाँ भी हेय ही समझना चाहिए ।

निबंध-४८

कर्म और पुनर्जन्म की विचारणा

पुनर्जन्म का अर्थ है : वर्तमान जीवन के पश्चात् का परलोक जीवन । परलोक जीवन किस जीव का कैसा होता है इसका मुख्य आधार उसका पूर्वकृत कर्म है । जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं । पुनर्जन्म कर्मसंगी जीवों के होता है । अतीत कर्मों का फल हमारा वर्तमान जीवन है और वर्तमान कर्मों का फल हमारा भावी जीवन है । कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद्य सम्बन्ध है ।

आयुष्य-कर्म के पुदगल-परमाणु जीव में देव, नारक आदि अवस्थाओं में जाने की शक्ति उत्पन्न करते हैं । इसी से जीव नए जन्म स्थान में(अमुक आयु में) जाकर उत्पन्न होता है ।

विभिन्न मत-सम्मत :- १-भगवान महावीर ने कहा- क्रोध, मान, माया, और लोभ- ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण करने वाले हैं ।

२- **गीता में** कहा गया है- जैसे फटे हुए कपड़े को छोड़कर मनुष्य नया कपड़ा पहनता है, वैसे ही पुराने शरीर को छोड़कर प्राणी मत्यु पश्चात् नये शरीर को धारण करता है । यह आवर्तन प्रवत्ति से होता है ।

३- **तथागत बुद्ध** ने अपने पैर में चुभने वाले तीक्ष्ण कांटे को पूर्वजन्म में किये हुए प्राणीवध का विपाक कहा है ।

४- नवजात शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं । उसका मूल कारण पूर्वजन्म की स्मति है । जन्म लेते ही बच्चा मां का स्तन-पान करने लगता है, यह पूर्वजन्म में किये हुए आहार के अभ्यास से ही होता है । जैसे एक युवक का शरीर बालक शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद में होने वाली अवस्था है ।

५- नवोत्पन्न शिशु में जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह भी पूर्व अनुभवयुक्त होता है ।

६- जीवन के प्रति मोह और मृत्यु के प्रति भय होता है, वह भी पूर्वबद्ध संस्कारों का परिणाम है । यदि पहले के जन्म में उसका अनुभव नहीं होता तो सद्योजात प्राणी में ऐसी वत्तियाँ प्राप्त नहीं हो सकती थी। इस प्रकार अनेक युक्तियाँ देकर भारतीय चिंतकों ने पुनर्जन्म सिद्ध किया है ।

परलोक के मत सम्मत :- कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर उसके फल रूप परलोक या पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है । जिन कर्मों का फल वर्तमान भव में प्राप्त नहीं होता, उन कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना आवश्यक है । पुनर्जन्म और पूर्वभव न माना जायेगा तो कृतकर्म का विनाश और अकृत कर्म का भोग मानना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में कर्म-व्यवस्था दूषित हो जायेगी । इन दोषों के परिहार हेतु ही कर्मवादियों ने पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार की है ।

भारत के सभी दार्शनिकों ने ही नहीं अपितु पाश्चात्य विचारकों ने भी पुनर्जन्म के सम्बन्ध में विचार अभिव्यक्त किये हैं जिनका संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है-

विदेशी अभिमत :- १-**यूनान** के महान् तत्ववेत्ता **प्लेटो** ने दर्शन की व्याख्या की है और उसका केन्द्र बिन्दु रूप में पुनर्जन्म को माना है।

२- **प्लेटो के** जाने-माने हुए शिष्य **अरस्तु** पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने के लिए इतने आग्रहशील थे कि उन्होंने अपने समकालीन दार्शनिकों को आव्हान करते हुए कहा कि "हमें इस मत का कदापि आदर नहीं करना चाहिए कि **हम मानव ही है** तथा अपने विचार मत्युलोक तक ही सीमित न रखें, अपितु अपने देवी अंश को जागत कर अमरत्व को प्राप्त करें ।"

३-**स्थूल** के अभिमतानुसार भावी जीवन के निषेध करने का अर्थ है- स्वयं के ईश्वरत्व का तथा उच्चतर नैतिक जीवन का निषेध करना है ।

४- **फ्रांसीसी** धर्म प्रचारक **मोसिला** तथा **ईसाई संत पाल** के अनुसार- "देह के साथ ही आत्मा का नाश मानने का अर्थ होता है कि विवेकपूर्ण जीवन का अन्त करना और विकारमय जीवन के लिए द्वार मुक्त करना ।"

५-**फ्रेंच** विचारक रेनन का अभिमत है कि भावी जीवन में विश्वास न करना, नैतिक और आध्यात्मिक पतन का कारण है ।

६-**मैकटेगार्ट** की दृष्टि से आत्मा में अमरत्व की साधक युक्तियों से हमारे भावी जीवन के साथ ही पूर्वजन्म की सिद्धि होती है ।

७-**सर हेनरी जोन्स** लिखते है कि "अमरत्व के निषेध का अर्थ होता है पूर्ण नास्तिकता ।"

८-**श्री प्रिंगल पेटिसन** ने अपने अमरत्व-विचार नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा कि मत्यु विषयक चिन्तन ने ही मनुष्य को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाया है ।"

इन अवतरणों से भी यह स्पष्ट है कि विश्व के सभी मूर्धन्य मनीषियों ने आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार किया है ।

निबंध-४९

कर्म की अवस्थाएँ

कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ है । मुख्यरूप से उन्हें ग्यारह भेदों में विभक्त कर सकते हैं । १-बन्ध, २-सत्ता, ३-उद्वर्तन-उत्कर्ष,

४-अपवर्तन-अपकर्ष, ५-संक्रमण, ६-उदय, ७-उदीरणा, ८-उपशमन, ९-निद्धत्त, १०-निकाचित और ११-अबाधाकाल ।

(१) **बन्ध**- आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध होना, क्षीर-नीरवत् एकमेक हो जाना बंध है ।

(२) **सत्ता**- बद्ध-कर्म अपना फल प्रदान कर जब तक आत्मा से प्रथक नहीं हो जाते तब तक वे आत्मा से ही सम्बद्ध रहते हैं । इसे जैन दर्शानिकों ने **सत्ता** कहा है ।

(३) **उद्वर्तन-उत्कर्ष**- आत्म परिणामों में कषाय की तीव्र एवं मंद धारा के अनुसार कर्म की स्थिति और अनुभाग-बंध होता है उसके पश्चात् समय समय पर होने वाले भाव-विशेष के कारण उस स्थिति एवं रस में जो वृद्धि होती है वह उद्वर्तन-उत्कर्ष है ।

(४) **अपवर्तन-अपकर्ष**- पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति एवं अनुभाग को उद्वर्तन से विपरीत अर्थात् न्यून कर देना अपवर्तन-अपकर्ष है ।

इन दोनों अवस्थाओं का सारांश यह है कि संसार को घटाने-बढ़ाने का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा वर्तमान अध्यवसायों पर भी विशेष आधारित है ।

(५) **संक्रमण**- एक प्रकार के कर्म परमाणुओं की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्मपरमाणुओं की स्थिति आदि के रूप में परिवर्तित हो जाने की प्रक्रिया को संक्रमण कहते हैं । इस प्रकार के परिवर्तन के लिए कुछ निश्चित्त मर्यादाएँ हैं अर्थात् अमुक अमुक में ही आपस में परिवर्तन होता है । वह संक्रमण चार प्रकार का है- (१) प्रकृति-संक्रमण (२) स्थिति-संक्रमण (३) अनुभाव-संक्रमण (४) प्रदेश-संक्रमण ।

(६) **उदय**- कर्म का फलदान **उदय** है । यदि कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो तो वह फलोदय विपाकोदय है और फल दिये बिना ही उदय में आकर नष्ट हो जाय तो वह प्रदेशोदय है ।

(७) **उदीरणा**- नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना **उदीरणा** है । जैसे समय के पूर्व ही प्रयत्न से आम आदि फल पकाये जाते हैं वैसे ही साधना के द्वारा बद्ध कर्म को नियत समय से पूर्व भोग कर क्षय किया जा सकता है । सामान्यतः यह नियम है कि जिस कर्म का

उदय होता है उसी के सजातीय कर्म की उदीरणा होती है ।

(८) **उपशमन**– कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उदय में आने के लिए उन्हें अक्षम बना देना **उपशम** है अर्थात् कर्म की वह अवस्था जिसमें उदय अथवा उदीरणा संभव नहीं हो किन्तु उद्वर्तन, अपवर्तन और संक्रमण की संभावना हो, वह **उपशमन** है जैसे अंगारे को राख से इस प्रकार आच्छादित कर देना जिससे वह अपना कार्य न कर सके। किन्तु जैसे आवरण के हटते ही अंगारे जलने लगते हैं वैसे ही उपशम भाव के दूर होते ही उपशान्त कर्म उदय में आकर अपना फल देना प्रारंभ कर देते हैं ।

(९) **निधत्ति**– जिसमें उद्वर्तन अपवर्तन होना संभव हो किंतु उदीरणा या संक्रमण नहीं हो सकता हो वह **निधत्त** है ।

(१०) **निकाचित**– जिसमें उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण एवं उदीरणा इन चारों अवस्थाओं का अभाव हो वह **निकाचित** है अर्थात् आत्मा ने जिस रूप में कर्म बांधा है, प्रायः उसी रूप में भोगना पड़ता है । भोगे बिना उसकी निर्जरा या परिवर्तन नहीं होता है।

(११) **अबाधाकाल**– कर्म बंधने के पश्चात् अमुक समय तक फल न देने की अवस्था का नाम **अबाधाकाल** है । इस काल में प्रदेशोदय भी नहीं होता है । अबाधाकाल को जानने का प्रकार यह है कि जिस कर्म की उत्कृष्ट स्थिति जितने सागरोपम की है, उतने ही सौ वर्ष का उसका अबाधाकाल होता है । जैसे–ज्ञानावरणीय की स्थिति उत्कृष्ट तीस कोटाकोटि सागरोपम की है तो उसका उत्कष्ट अबाधाकाल तीस सौ(तीन हजार) वर्ष का है । भगवती सूत्र में अष्ट कर्म प्रकृतियों का भी अबाधाकाल स्पष्ट किया गया है । विशेष जिज्ञासुओं को उक्त आगम देखने चाहिए।

अबाधाकाल में निषेक रचना :– सात कर्मों के अबाधाकाल जितने स्थिति बंध के साथ प्रदेश बंध नहीं होता है । आयुष्य कर्म में अबाधा-काल के स्थिति बंध के साथ प्रदेश बंध अर्थात् कर्म पुद्‌गलों का भी बंध होता है ।

अतः सात कर्मों के अबाधाकाल की निषेक रचना में और आयुष्य कर्म के अबाधाकाल की निषेक रचना में कुछ अंतर होता है ।

इस कारण सात्त कर्मों के अबाधाकाल में प्रदेशोदय नहीं होता है किंतु आयुष्य कर्म के अबाधाकाल में प्रदेशोदय होता है । अत: प्रदेशोदय दो आयुष्य का एक साथ हो सकता है विपाकोदय एक आयुष्य का ही होता है । *जीव अपना जितना आयुष्य* शेष रहने पर *अगले भव* का आयुष्य बांधता है उतने समय का ही आयुकर्म का अबाधाकाल होता है । यह आयुष्य कर्म का अबाधाकाल उत्कृष्ट १/३ उम्र जितना हो सकता है ।

निबंध–५०

तीर्थंकरों के चौतीस अतिशय

सामान्य मानवों की अपेक्षा किसी के गुणों की और संपदा की *अपनी अलग ही विशिष्टता* हो उसे *अतिशय कहा जाता है । तीर्थंकर* समस्त मानवों में अलौकिक अद्वितीय पुरुष होते हैं । जिनके पुण्य प्रभाव से आकर्षित होकर देवों के ६४ इन्द्र उनका जन्म महोत्सव मनाने के लिये बिना बुलाये आते हैं और प्रसूति कर्म एवं सेवा-सन्मान के लिये ५६ दिशाकुमारी देवियाँ आती है। ऐसे महापुरुषों के विशिष्ट गुण-प्रभाव रूप अतिशय हों तो यह स्वाभांविक ही है, उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होती है । समवायांग सूत्र में तीर्थंकरों के ३४ अतिशय सामान्य एवं ३५ वचनातिशय विशेष कहे गये हैं वे इस प्रकार है–

चोतीस अतिशय :–

(१) केश, मूँछ, रोम, नख का मर्यादित ही बढना फिर नहीं बढना । (२) रोम रहित शरीर एवं निरुपलेप निर्मल देह । (३) रक्त, मांस का सफेद होना । (४) श्वासोच्छवास सुगंधी । ये चार जन्म से होते हैं ।(५) आहार-निहार अदृश्य, प्रच्छन्न । (६) चक्र (७) छत्र (८) चमर (९) सिंहासन (१०) इन्द्रध्वज (११) अशोक वृक्ष (१२) भामंडल (१३) विहार में समभूमि । (१४) कांटों का अधोमुख होना । (१५) ऋतु प्रकृति का शरीर के अनुकूल होना ।(१६) देवों द्वारा एक योजन भूमि प्रमार्जन ।(१७) जलसिंचन । (१८) पुष्पोपचार। (१९) अमनोज्ञ शब्दादि का अपहार। (२०) मनोज्ञ का प्रादुर्भाव ।(२१) योजन गामी स्वर ।(२२) एक भाषा

(अर्धमागधी) में धर्मोपदेश । (२३) जीवों की अपनी-अपनी भाषा में परिणमन । (२४) देव, मनुष्य, जानवर सभी वैर भूल कर साथ में बैठकर धर्मश्रवण ।(२५) अन्यतीर्थिकों द्वारा वंदन ।(२६)उनका निरुत्तर होना । (२७) २५ योजन तक उपद्रव शांति । (२८) मरी-मारी आदि बिमारी नहीं होती । (२९) स्वचक्र का भय नहीं रहे । (३०) परचक्र का भय नहीं रहे। (३१) अतिवृष्टि नहीं होती । (३२) अनावृष्टि नहीं होती। (३३) दुर्भिक्ष-दुष्काल नहीं होता। (३४) पूर्वोत्पन्न व्याधि उपद्रव की शांति ।

पेंतीस वचनातिशय :- (१) व्याकरण नियम युक्त । (२) उच्चस्वर। (३) ग्रामीणता गामठीपन रहित । (४) गंभीर घोष । (५) प्रतिध्वनित वचन । (६) चतुराई युक्त । (७) राग-रागिणी या लय-प्रवाह युक्त। (८) महान अर्थ वाले वचन ।(९) पूर्वापर अविरोधी ।(१०) शिष्ट वचन । (११) असंदिग्ध । (१२) दूषण निवारक । (१३) हृदयग्राही । (१४) अवसरोचित । (१५) विवक्षित तत्व के अनुरूप। (१६) निरर्थक विस्तार रहित । (१७) परस्पर उपेक्षित वाक्य । (१८) शालीनता सूचक । (१९) मिष्ट वचन । (२०) मर्म रहित । (२१) अर्थ-धर्म के अनुकूल । (२२) उदारता युक्त ।(२३) परनिंदा स्वप्रशंसा रहित ।(२४) प्रशंसनीय वचन । (२५) व्याकरण दोषों से रहित । (२६) कोतुहल युक्त आकर्षण वाले । (२७) अद्भुत वचन । (२८) धाराप्रवाही वचन । (२९) मन के विक्षेप, रोष, भय आदि से रहित । (३०) अनेक प्रकार के कथन करने वाले । (३१) विशेष वचन (३२) साकार (३३) साहसपूर्ण (३४) खेद रहित (३५) विवक्षित अर्थ की सिद्धि करने वाले ।

पुरुषों की ७२ कलाएँ :-

प्राचीन काल में राजकुमार आदि विशिष्ट पुण्यशाली बालक गुरुकुल में रहकर जिन विषयों में पारंगत बनते थे, उन्हें आगमों में ७२ कला के रूप में सूचित किया गया है । इन कलाओं का वर्णन आगमों में अनेक जगह पुण्यशाली पुरुषों के सांसारिक गुण ऋद्धि योग्यता के रूप में किया जाता है अर्थात् ये लौकिक अध्ययन रूप है । लौकिक अध्ययन की पूर्णता में सामाजिकता, नैतिकता, धर्मप्रियता, शूरवीरता आदि गुणों का स्वतः समावेश हो जाता है । जिससे इन ७२ कलाओं

में प्रवीण बना व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में कर्तव्य करता हुआ सफलता प्राप्त कर सकता है ।

१. लेखन कला २. गणित ३. चित्र कला ४. नृत्य ५. गीत ६. वाद्य ७. स्वर-राग ८. मृदंग ज्ञान ९. समताल बजाना १०. द्यूत कला ११. किं वदंतिएँ जानना १२. शीघ्र कवित्व १३. शतरंज १४. जलशोधन १५. अन्नसंस्कार १६. जल संस्कार १७-१८. गृह निर्माण १९. आर्या छंद बनाना २०. पहेली ज्ञान २१. मागधिका छंद २२. गाथा २३. श्लोक २४. सुगंधित करने की कला २५. मोम प्रयोग कला २६. अलंकार बनाने पहनने की कला २७. तरुणी प्रसाधन कला २८. स्त्री लक्षण २९-४१. पुरुष, घोडा, हाथी, बैल, कुर्कुट, मेढा के लक्षण तथा चक्र, छत्र, दंड, तलवार, मणि, काकणि, चर्म(रत्नों) के लक्षण ४२-४५. चंद्र,सूर्य,राहु ग्रह का विज्ञान ४६. सौभाग्य ४७. दुर्भाग्य जानने का ज्ञान ४८. रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि विद्या ४९. मंत्र विज्ञान ५०. गुप्त वस्तुओं को जानने की कला ५१. प्रत्यक्ष वस्तुओं को जानने की कला ५२. ज्योतिष चक्रगति ५३. चिकित्सा विज्ञान ५४. व्यूह रचने की कला ५५. प्रतिव्यूह ५६. सैन्य माप ५७. नगर माप ५८. मकान माप ५९-६१. सेना, नगर, मकान को बनाने की कला ६२. दिव्यास्त्र ज्ञान ६३. खड्ग शास्त्र ६४. अश्व शिक्षा ६५. हस्ति शिक्षा ६६. धनुर्वेद ६७. चांदी, सोना, मणि, धातु की सिद्धि की कला ६८. बाहु, दंड, मुष्टि, अस्थि आदि युद्ध कला ६९. क्रीडा, पासा, नालिका खेल ७०. पत्रछेद कला ७१. धातु को सजीव-निर्जीव करने की कला और पुनः मौलिक रूप में लाना ७२. शकुन शास्त्र ।

निबंध-५१

राणियों की संख्या एवं स्त्री की ६४ कलाएँ

राणियाँ :- अर्धभरत क्षेत्र में १६ हजार देश होते है और संपूर्ण भरत क्षेत्र में ३२ हजार देश होते हैं । वासुदेव के वर्णन में यहाँ पर स्पष्ट १६ हजार राणियाँ कही है । अंतगड़ सूत्र में भी १६००० राणियाँ मूलपाठ में कही है। चक्रवर्ती के ३२००० देश की अपेक्षा ३२००० राणिया होती है किंतु उनके वर्णन में यहाँ और अन्यत्र ६४ हजार राणियाँ कही गई

है । उसमें ३२ हजार ऋतु-कल्याणिका और ३२ हजार जनपद कल्याणिका राणियाँ कही जाती है । जिससे कुल ६४ हजार की संख्या सर्वत्र एक समान मिलती है । अन्य विशेष स्पष्टीकरण कहीं देखने में नहीं आया है । ये ऋद्धिसंपन्न पुरुष चक्रवर्ती आदि वैक्रिय लब्धिसंपन्न होते हैं और महा पुण्यशाली होते हैं । उस पुण्य उदय के कारण और भोगावली कर्म उदय के कारण लब्धिसंपन्न इन पुरुषों के इतनी राणियों का होना कोई असंगत जैसा नहीं होता है । चौथे आरे में अन्य भी अनेक पुण्यशाली मनुष्य वैक्रिय लब्धि युक्त हो सकते हैं । उसी कारण ३२,५०,५०० आदि कन्याओं के साथ पाणिग्रहण होने का प्रसंग-वर्णन योग्य बनता है । कथा वर्णनों में कृष्ण वासुदेव के पिता वसुदेवजी के स्त्रीवल्लभ होने का नियाणा और अखूट पुण्य संचय होने से चक्रवती से भी अधिक राणियाँ(७२०००)होने का कहा जाता है । ज्ञातासूत्र में कृष्ण वासुदेव के रुक्मणी प्रमुख ३२००० राणिया स्पष्ट कही गई है जो चक्रवर्ती की राणियों से आधी संख्या रूप समझी जा सकती है ।

कलाएँ :- आगमों में पुरुष की ७२ कलाएँ और स्त्री की ६४ कलाओं का कथन अनेक जगह आता है । पुरुष की ७२ कलाएँ समवायांग सूत्र के ७२वें समवाय में प्रश्नोत्तर में दी गई है, स्त्री की ६४कलाएँ इस प्रकार है-(१) नृत्यकला (२) औचित्यकला (३) चित्रकला (४) वादिंत्र (५) मंत्र (६) तंत्र (७) ज्ञान (८) विज्ञान (९) दंड़ (१०) जलस्तंभन (११) गीतगान (१२) तालमान (१३) मेघवृष्टि (१४) फलवृष्टि (१५) आरामरोपण (१६) आकारगोपन (१७) धर्मविचार (१८) शकुनविचार (१९) क्रियाकल्पन (२०) संस्कृतभाषण (२१) प्रसादनीति (२२) धर्मनीति (२३) वाणीवृद्धि (२४) सुवर्णसिद्धि (२५) सुरभितैल (२६) लीलासंचरण (२७) हाथी-घोड़ा परीक्षण (२८) स्त्री-पुरुष लक्षण (२९) सुवर्ण-रत्नभेद (३०) अष्टादशलिपि ज्ञान (३१) तत्काल बुद्धि (३२) वस्तुसिद्धि (३३) वैद्यकक्रिया (३४) कामक्रिया (३५) घटभ्रम (३६) सारपरिश्रम (३७) अंजनयोग (३८) चूर्णयोग (३९) हस्तलाघव (४०) वचनपटुता (४१) भोज्य विधि (४२) वाणिज्यविधि (४३) मुखमंड़न (४४) शालिखंड़न (४५) कथा कथन (४६) पुष्पग्रथन (४७) वक्रोक्ति जल्पन (४८)

काव्यशक्ति (४९) स्फारवेश (५०) सकल भाषाविशेष (५१) अभिधानज्ञान (५२) आभरण परिधान (५३) नृत्य उपचार (५४) गृहआचार (५५) शाठ्यकरण (५६) पर- निराकरण (५७) धान्य रंधन (५८) केशबंधन (५९) वीणादिनाद (६०) वितंड़ावाद (६१) अंकविचार (६२) लोकव्यवहार (६३) अंत्याक्षरी (६४) प्रश्न प्रहेलिका ।

नोट-स्त्री की ६४ कलाएँ बतीस शास्त्र में नहीं मिलने से "समुत्थान सूत्र" से ली गई है। समुत्थान सूत्र का नाम नंदीसूत्र की आगम सुची में कालिक श्रुत में दिया गया है । यह सूत्र प्रकाशित उपलब्ध है । यह स्थानकवासी मुहपत्ति परंपरा का मूल पाठ में पुष्टि करने वाला शास्त्र है । इसका प्रकाशन करीबन ५० वर्ष पूर्व पंजाब एवं गुजरात से हुआ है ।

निबंध-५२

शरीर वर्णन : शरीर के लक्षण ३२ आदि

शरीर वर्णन पद्धति :- तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के शरीर का वर्णन औपपातिक सूत्र में हैं । वहाँ वह वर्णन मस्तक से प्रारंभ करके क्रमशः पाँव तक पूर्ण किया है । प्रश्नव्याकरण सूत्र के अध्ययन-४ में युगलिक मनुष्य- मनुष्याणी के शरीर का वर्णन है, वह पाँव से प्रारंभ करके मस्तक तक पूर्ण किया गया है । इससे यह परिज्ञान होता है कि समस्त संसारी जीवो के शरीर वर्णन की पद्धति से तीर्थंकर के शरीर वर्णन की पद्धति भिन्न-अलग होती है । मूर्तियों का वर्णन भी पाँव से प्रारंभ होकर मस्तक तक पूर्ण होता है । जीवाभिगम सूत्र में विजय देव की राजधानी के वर्णन में जिनपड़िमा का वर्णन है वहाँ पाँव से प्रारंभ कर मस्तक तक वर्णन पूर्ण किया है । उससे भी स्पष्ट होता है कि वह जिनपड़िमा तीर्थंकर की नहीं किंतु जिन शब्द के अनेक अर्थ होने से अन्य किसी की हो सकती है क्यों कि तीर्थंकर का वर्णन मस्तक से प्रारंभ करने की पद्धति शास्त्र में स्वीकारी गई है।

विविध प्रकार के शरीर लक्षण :-

सामान्यतया मनुष्य ३२ लक्षण वाला योग्य कहा जाता है ।

प्रस्तुत शास्त्र में युगलिक स्त्री, पुरुष दोनों के ३२-३२ लक्षण युक्त शरीर कहा है । श्री औपपातिक सूत्र में तीर्थंकरों के शरीर को १००८ लक्षणों से युक्त कहा गया है । चक्रवर्ती के १०८ लक्षण युक्त शरीर कहा जाता है । प्रस्तुत शास्त्र में चक्रवर्ती के लक्षण खुलासेवार कहे है परंतु गिनने पर वे १०८ नहीं होकर ८५ होते हैं । संभवतः लिपि दोष से कम हो गये हो ऐसी संभावना की जा सकती है । युगलिक स्त्री के वर्णन में ३२ लक्षणों के नाम स्पष्ट दिये हैं । तीर्थंकर के १००८ लक्षण मूलपाठ में कहे जाते हैं किंतु उनका खुलासा कहीं देखने में नहीं आता है । कुछेक लक्षण मूलपाठ में होते हैं ।

शरीर के ३२ लक्षण :- (१) छत्र (२) ध्वजा (३) यज्ञस्तंभ (४) स्तूप (५) दामिनी-माला (६) कमंड़लु (७) कलश (८) वापी (९) स्वस्तिक (१०) पताका (११) यव (१२) मत्स्य (१३) कच्छप (१४) प्रधान रथ (१५) मकरध्वज(कामदेव) (१६) वज्र (१७) थाल (१८) अंकुश (१९) अष्टापद-जुगार खेलने का पट या वस्त्र (२०) स्थापनिका-ठवणी (२१) देव (२२) लक्ष्मी का अभिषेक (२३) तोरण (२४) पृथ्वी (२५) समुद्र (२६) श्रेष्ठ भवन (२७) श्रेष्ठ पर्वत (२८) उत्तम दर्पण (२९) क्रीड़ारत हाथी (३०) वृषभ (३१) सिंह (३२) चामर । ये लक्षण हाथ में या पाँव में अथवा अन्य किसी शरीरावयव में रेखा आदि रूप में हो सकते हैं ।

निबंध-५३

नव निधि का परिचय

नौ निधियाँ- नौ निधियाँ चक्रवर्ती के श्री घर में अर्थात् लक्ष्मी भण्ड़ार में उत्पन्न होती है। छ खंड़ साधन के बाद निधियों का मुख लक्ष्मी भंड़ार में हो जाता है। वह मुख सुरंग के समान होता है जो निधियों और लक्ष्मी भंड़ार का मिलान करता है। ये निधियाँ शाश्वत है। पेटी के आकार की है। इनकी लम्बाई १२ योजन, चौड़ाई ९ योजन एवं ऊँचाई आठ योजन की है। यह माप प्रत्येक निधि का है। ये निधियाँ चक्रवर्ती द्वारा तेले की आराधना करने पर अपने अधिष्ठाता देवों क साथ वहाँ चक्रवर्ती की सेवा में उपस्थित हो जाती है। इन शाश्वत

निधियों का स्थान गंगामुख समुद्री किनारे पर है। निधियों के नाम अनुसार ही इनके मालिक देवों के नाम होते हैं और वे एक पल्योपम की उम्र वाले होते हैं। ये निधियाँ बाहर से भी अर्थात् इनकी बाह्य भित्तियाँ भी विविध वर्णों के रत्नों से जड़ित है।

(१) **नैसर्प निधि**–ग्राम नगर आदि के बसाने की विधियों एवं सामग्री युक्त होती है।

(२) **पाँडुक निधि**– नारियल आदि, धान्य आदि, शक्कर गुड़ आदि उत्तम शालि आदि के उत्पादन की विधियों, सामग्रियों एवं बीजों से युक्त होती है। इन पदार्थों का इसमें संग्रह एव संरक्षण भी हो सकता है।

(३) **पिंगलक निधि**– पुरुषों, स्त्रियों, हाथी, घोड़ों आदि के विविध आभूषणों के भंड़ार युक्त एवं इनके बनाने, उपयोग लेने की विधियों से युक्त होती है।

(४) **सर्वरत्न निधि**– सभी प्रकार के रत्नों का भंड़ार रूप यह निधि है।

(५) **महापद्म निधि**–सभी प्रकार के वस्त्रों का भंड़ार रूप एवं उनको उत्पन्न करने की, रंगने, धोने, उपयोग में लेने की विधियों से युक्त होती है एवं तत्संबंधी अनेक प्रकार के साधन सामग्री से युक्त होती है।

(६) **काल निधि**–ज्योतिषशास्त्र ज्ञान, वंशों की उत्पत्ति आदि ऐतिहासिक ज्ञान, सौ प्रकार के शिल्प का ज्ञान एवं विविध कर्मों का ज्ञान देने वाली एवं इनके संबंधी विविध साधनों, चित्रों आदि से युक्त होती है।

(७) **महाकाल निधि**–लोहा, सोना, चांदी, मणि, मुक्ता आदि के खानों की जानकारी से युक्त एवं इन पदार्थों के भंड़ार रूप होती है।

(८) **माणवक निधि**– युद्ध नीतियों के, राजनीतियों के, ज्ञान को देने वाली एवं विविध शस्त्रास्त्र कवच आदि के भंड़ार रूप यह निधि है।

(९) **शंख निधि**– नाटक, नृत्य आदि कलाओं का भंड़ार रूप एवं अनेक उपयोगी सामग्री आदि से युक्त यह निधि होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रतिपादक काव्यों एवं अन्य अनेक काव्यों, संगीतों, वाद्यों को देने वाली और इन कलाओं का ज्ञान कराने वाली, विविध भाषाओं, श्रृंगारों का ज्ञान कराने वाली यह निधि है।

ये सभी निधियाँ स्वर्णमय भित्तियों वाली एवं रत्नों जड़ित होती है, वे भित्तियाँ भी अनेक चित्रों आकारों से परिमंड़ित होती है। ये

निधियाँ आठ चक्रों पर(पहियों पर) अवस्थित रहती है।सभी चक्रवर्तीओं के उपयोग में आने वाली होने से शास्वत होते हुए भी ये निधियाँ देव यान विमानों के संकोच विस्तार के समान स्वभाव वाली होती है । जैसे देव विमान देवलोक से चलते समय लाख योजन का होता है और अपने उत्पात पर्वत पर उसका संकोच कर दिया जाता है वैसे ही नगरी में एवं लक्ष्मीगृह के अंदर मुख जोडने के समय संकोच करके छोटा बना दिया जाता है ।निधियाँ देवाधिष्ठित तो होती ही है अतः ऐसा होने में देवकृत समझना ।

निबंध-५४

चक्रवर्ती के १४ रत्नों का विशेष परिचय

(१) **चक्ररत्न**-चक्रवर्ती का यह सबसे प्रधान रत्न है, इसका नाम सुदर्शन चक्र रत्न है। यह १२ प्रकार के वाद्यों के घोष से युक्त होता है। मणियों एवं छोटी छोटी घंटियों के समूह से व्याप्त होता है । इसके आरे, लाल रत्नों से युक्त होते हैं। आरों का जोड़ वज्रमय होता है । नेमि पीले स्वर्णमय होती है। मध्यान्ह काल के सूर्य के समान तेजयुक्त होता है। एक हजार यक्षों से(व्यंतर देवों से) परिवृत होता है। आकाश में गमन करता है एवं ठहर जाता है। चक्रवर्ती की शस्त्रागार शाला में उत्पन्न होता है एवं उसी में रहता है। खंड़ साधन विजय यात्रा में कृत्रिम शस्त्रागार शाला में अर्थात् तंबू से बनाई गई शाला में रहता है। इसी चक्र की प्रमुखता से ही वह राजा चक्रवर्ती कहा जाता है। वह रत्न विजय यात्रा में महान घोष नाद के साथ आकाश में चल कर ६ खंड़ साधन का मार्ग प्रदर्शित करता है। सर्व ऋतुओं के फूलों की मालाओं से वह चक्ररत्न परिवेष्टित रहता है ।

(२) **दंड़रत्न**-गुफा का द्वार खोलने में इसका उपयोग होता है। यह एक धनुष प्रमाण होता है। विषम पथरीली भूमि को सम करने के काम आता है। यह वज्रसार का बना होता है। शत्रु सेना का विनाशक, मनोरथ पूरक, शांतिकर शुभंकर होता है।

(३) **असिरत्न**-५० अंगुल लम्बी, १६ अंगुल चौड़ी, आधा अंगुल जाड़ी एवं चमकीली तीक्ष्ण धार वाली तलवार होती है। यह स्वर्णमय मूठ

एवं रत्नों से निर्मित होती है। विविध प्रकार के मणियों से चित्रित बेलों आदि के चित्रों से युक्त होती है। शत्रुओं का विनाश करने वाली दुर्भेद्य वस्तुओं का भी भेदन करने वाली होती है। इसे असिरत्न कहा गया है।

(४) **छत्ररत्न**–यह चक्रवर्ती के धनुष प्रमाण जितना स्वाभाविक लम्बाचौड़ा होता है। ९९ हजार स्वर्णमय ताड़ियों से युक्त होता है। ये शलाकाएँ दंड़ से जुड़ी हुई होती है। इनके कारण फैलाया हुआ छत्र पींजरे के सदृश प्रतीत होता है। छिद्र रहित होता है। स्वर्णमय सुदृढ़ दंड़ मध्य में होता है। विविध चित्रकारी से मणिरत्नों से अंकित होता है। चक्रवर्ती की सम्पूर्ण सेना की धूप आँधी वर्षा आदि से सुरक्षा कर सकता है। उसकी पीठ भाग अर्जुन नामक़ सफेद सोने से आच्छादित होता है। सर्व ऋतुओं में सुखप्रद होता है।

(५) **चर्मरत्न**–चर्म निर्मित वस्तुओं में यह सर्वोत्कृष्ट होता है। चक्रवर्ती के एक धनुष प्रमाण स्वाभाविक होता है। फैलाये जाने पर चर्मरत्न और छत्ररत्न १२ योजन लम्बे एवं ९ योजन चौड़े विस्तृत हो जाते हैं। यह जल के ऊपर तैरता है। सम्पूर्ण चक्रवर्ती की सेना परिवार इसमें बैठकर नदी आदि पार कर सकता है। ये दोनों चर्म और छत्ररत्न चक्रवर्ती के स्पर्श करते ही विस्तृत हो जाते हैं। यह कवच की तरह अभेद्य होता है। १७ प्रकार के धान्य की खेती इसमें तत्काल होती है। हिलस्टेशन (आबू पर्वत आदि)पर अभी भी मामूली वर्षा में चूने की भित्तियों पर एवं टीण कवेलु के तिरछे छतों पर कितने ही प्रकार की लम्बी वनस्पतियाँ स्वतः उग जाती है। उसी प्रकार इस चर्मरत्न में कुशल गाथापति रत्न एक दिन में धान्य निपजा सकता है। यह अचल अकंप होता है स्वस्तिक जैसा इसका स्वाभाविक आकार होता है। यह अनेक प्रकार के चित्रों से युक्त मनोहर होता है। छत्ररत्न को इसके साथ जोड़कर ड़िब्बी रूप बनाने योग्य इसके किनारो पर जोड़ स्थान होते हैं।

(६) **मणिरत्न**–यह मणिरत्न अमूल्य(मूल्य नहीं किया जा सके ऐसा) होता है। चार अंगुल प्रमाण, त्रिकोण, छ किनारों वाला होता है एवं यह पाँचतला होता है। मणिरत्नों में श्रेष्ठतम एवं वैडूर्यमणि की जाति का होता है। सर्व कष्टनिवारक, आरोग्यप्रद, उपसर्ग व विघ्नहारक होता

है। इसको धारण करने वाला संग्राम में शस्त्र से नहीं मारा जाता है यौवन सदा स्थिर रहता एवं नख बाल नहीं बढ़ते। द्युतियुक्त एवं प्रकाश करने वाला, मन को लुभावित करने वाला, अनुपम मनोहर होता है। इसे हस्तीरत्न के मस्तक के दाहिनी ओर बाँध कर चक्रवर्ती गुफा में प्रवेश करता है जिससे आगे का एवं आसपास का मार्ग प्रकाशित होता है।

(७) **काकणीरत्न**–इस रत्न का संस्थान अधिकरणी और समचतुरस्र दोनों विशेषणों वाला होता है अर्थात् यह एक तरफ कम चौड़ा और दूसरी तरफ अधिक चौड़ा होता है। ६ तले ८ कोने(कर्णिका) १२ किनारे वाला होता है। चार अंगुल प्रमाण, आठ तोले के वजन वाला विष नाशक होता है। मानोन्मान की प्रामाणिकता का ज्ञान कराने वाला गुफा के अंधकार को सूर्य से भी अधिक नाश करने वाला होता है। इसके द्वारा भित्ति पर चित्रित ५०० धनुष के ४९ मंड़लों चक्रों से ही वह सम्पूर्ण गुफा सूर्य के प्रकाश के समान दिवस भूत हो जाती है। चक्रवर्ती की छावनी में रखा हुआ यह रत्न रात्रि में दिवस जैसा प्रकाश कर देता है। ये सात एकेन्द्रिय रत्न है।

(८) **सेनापतिरत्न**–चक्रवर्ती के समान शरीर प्रमाण वाला, अत्यन्त बलशाली, पराक्रमी, गंभीर, ओजस्वी, तेजस्वी, यशस्वी, म्लेच्छ भाषा विशारद, मधुर भाषी, दुष्प्रवेश्य, दुर्गम स्थानों का एवं उसे पार करने का ज्ञाता, चक्रवर्ती की विशाल सेना का वह अधिनायक होता है। सदा अजेय होता है। अर्थशास्त्र-नीतिशास्त्र आदि में कुशल होता है। चक्रवर्ती की आज्ञाओं का यथेष्ट पालन करने वाला, भरतक्षेत्र के ६ खंड़ में से चार खंड़ को साधने वाला होता है। चक्रवर्ती के अनेक रत्नों का(अश्व, चर्म, छत्र दंड़ आदि का)उपयोग करने वाला होता है।

(९) **गाथापतिरत्न**–यह भी चक्रवर्ती के बराबर अवगाहना वाला होता है। यह चक्रवर्ती के सेठ, भंड़ारी, कोठारी आदि का कार्य करने वाला होता है। ग्रन्थों में इसे खेती करने में कुशल भी बताया गया है। जो कि एक दिन में चर्मरत्न पर खेती कर सकता है। मूलपाठ में गाथापति रत्न का परिचय अनुपलब्ध है।

(१०) **बढ़ईरत्न**–ग्राम, नगर, द्रोणमुख, सैन्यशिविर, गृह आदि के

निर्माण करने में कुशल होता है। ८१ प्रकार की वास्तुकला का अच्छा जानकार होता है। भवन निर्माण के सभी कार्य का पूर्ण अनुभवी होता है। काष्ट कार्य करने में कुशल होता है। शिल्प शास्त्र निरूपित ४५ देवताओं के स्थानादिक का विशेष ज्ञाता होता है। जलगत, स्थलगत, सुरंगों, खाइयों, घटिका यंत्र, हजारों खंभों से युक्त पुल आदि के निर्माण ज्ञान में प्रवीण होता है। व्याकरण ज्ञान में, शुद्ध नामादि चयन लेखन अंकन में, देव पूजागृह, भोजनगृह, विश्रामगृह आदि के संयोजन में प्रवीण होता है। यान वाहन आदि के निर्माण में समर्थ होता है। चक्रवर्ती के छ खंड साधन विजय यात्रा के समय प्रत्येक योजन पर यह बढ़ई रत्न ही शैन्य शिविर तम्बू एवं पोषधशाला आदि बनाता है। शरीर का मान चक्रवर्ती के समान होता है।

(११) **पुरोहितरत्न**–ज्योतिष विषय का ज्ञाता तिथिज्ञ मुहूर्त, हवन-विधि, शांत कर्म आदि का ज्ञाता होता है। अनेक धर्मशास्त्रों का ज्ञाता होता है। संस्कृत आदि अनेक भाषाओं का जानकार होता है। शरीर प्रमाण चक्रवर्ती के समान होता है।

(१२) **गजरत्न**–यह चक्रवर्ती का प्रधान हस्ति होता है। चक्रवर्ती प्रायः हाथी पर बैठकर ही विजय विहारयात्रा एवं भ्रमण आदि करता है।

(१३) **अश्वरत्न**–यह ८० अंगुल ऊँचा, ९९ अंगुल मध्य परिधि वाला, १०८ अंगुल लम्बा, ३२ अंगुल के मस्तक वाला, चार अंगुल कान वाला होता है। सुरवरेन्द्र के वाहन के योग्य, विशुद्ध जाति कुल वाला, अनेक उच्च लक्षणों से युक्त, मेधावी, भद्र विनीत होता है। अग्नि, पाषाण, पर्वत, खाई, विषम स्थान, नदियों, गुफाओं को अनायास ही लांघने वाला एवं संकेत के अनुसार चलने वाला होता है; कष्टों में नहीं घबराने वाला, मलमूत्र आदि योग्य स्थान देख कर करने वाला, सहिष्णु होता है। तोते के पंख के समान वर्ण वाला होता है। युद्धभूमि में निड़रता से एवं कुशलता से चलने वाला होता है।

(१४) **स्त्रीरत्न**–यह चक्रवर्ती की प्रमुख राणी होती है। वैताढ्य पर्वत के उत्तरी विद्याधर श्रेणी में प्रमुख राजा विनमि के यहाँ उत्पन्न होती है। स्त्री गुणों, सुलक्षणों से युक्त होती है। चक्रवर्ती के सदृश रूप लावण्यवान, ऊँचाई में कुछ कम, सदा सुखकर स्पर्श वाली, सर्व रोगों

का नाश करने वाली होती है। इसे **श्री देवी** भी कहा जाता है। भरत चक्रवर्ती की श्री देवी स्त्री रत्न का नाम **सुभद्रा** था।

ये सात(८ से १४) पंचेन्द्रिय रत्न हैं। इन १४ रत्नों के एक-एक हजार देव सेवक होते हैं अर्थात् ये १४ ही रत्न देवाधिष्ठित होते हैं।

निबंध–५५

चक्रवर्ती के खंड साधन के केन्द्र और १३ तेले

सेनापति केवल दो तेले दोनों गुफा के द्वार खोलने के समय करता है। चक्रवर्ती के १३ तेले इस प्रकार है– (१) मागधतीर्थ का (२) वरदामतीर्थ का (३) प्रभासतीर्थ का (४) सिंधुदेवी का (५) वैताढ्यगिरिकुमार देव का (६) गुफा के देव का (७) चुल्लहिमवंत कुमार देव का (८) विद्याधरों का (९) गंगादेवी का (१०) दूसरी गुफा के देव का (११) नौ निधि का (१२) विनीता प्रवेश का (१३) राज्याधिषेक का। ऋषभकूट पर नाम लिखने का तेला नहीं होता है । चुल्लहिमवंत पर्वत के तेले का पारणा किये बिना ही यहाँ नाम लिखा जाता है। फिर पड़ाव में आकर पारणा किया जाता है।

तेले से देव-देवी का आसन कंपायमान होता है अर्थात् अंगस्फुरण होता है जिससे वे अपने अवधिज्ञान में उपयोग लगाकर जान लेते हैं कि चक्रवर्ती राजा भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुआ है और हमारा जीताचार है कि उसकी आज्ञा स्वीकारना एवं सत्कार सन्मान कर उत्तम वस्तु समर्पण करना। चार जगह तेले से नहीं मालुम होता है, तीर जाने पर तीर पर लेखन को पढ़कर समझ जाते है और पहले तीर देखकर गुस्सा करते है फिर लेखन पढ़ने पर विनम्र बन जाते है जीताचार होने से। बाण पर क्या लिखा होता है इसका स्पष्टीकरण नहीं है किन्तु भाव यह है कि चक्रवती का संक्षिप्त परिचय एवं नाम लिखा होता है जिसे पढ ते ही देव को अपना जीताचार ध्यान में आ जाता है।

तीनों तीर्थों में बाण १२ योजन(शाश्वत) जाता है और देव के भवन में गिरता है । १२ योजन=१,४४,००० कि.मी: करीब समझना चाहिये। पुण्य प्रभाव से जो देवनामी शस्त्र आदि होते है व चक्रवर्ती के इच्छित स्थान पर पहुँच जाते है। चुल्लहिमवंत पर्वत पर

७२ योजन = ८,६४,००० कि.मी. बाण जाकर भवन में पड़ता है। (एक शाश्वत योजन=१२०००की.मी.माना गया है अपेक्षा से । यह मान्यता और गणित भी २-३ तरह से माना जाता है जिसमें करीब ८००० से १२००० तक की संख्या मानी जाती है ।) तात्पर्य यह है कि वर्तमान में समुद्रों में खोजने पर भी ये तीर्थ मिल नहीं सकते। क्यों कि इतने कि.मी. की गिनती वैज्ञानिकों के कल्पना से बाहर की बात हो जाती है।

निबंध-५६

भरत चक्रवर्ती को केवलज्ञान

इस संबंध में यहाँ आगम वर्णन इस प्रकार है-एक बार भरत चक्रवर्ती स्नान करके एवं विविध श्रृंगार करके सुसज्जित अलंकृत विभूषित होकर अपने काच महल में पहुँचा और सिंहासन पर बैठ कर अपने शरीर को देखते हुए विचारों में लीन बन गया। कांच महल हो या कला मंदिर हो, व्यक्ति के विचारों का प्रवाह सदा स्वतंत्र है वह किधर भी मोड़ ले सकता है। भरत चक्रवर्ती अपने विभूषित शरीर को देखते हुए चिंतनक्रम में बढ़ते बढ़ते वैराग्यभावों में पहुँच गये। शुभ एवं प्रशस्त अध्यवसायों की अभिवृद्धि होते होते, लेश्याओं के विशुद्ध विशुद्धतर होने से, उनके मोह कर्म एवं क्रमशः घातिकर्मों का क्षय हो गया । वहीं उन्हें केवलज्ञान केवलदर्शन उत्पन्न हो गया।

भरत चक्रवर्ती कांचमहल में ही भरत केवली बन गये। एक तरफ विचारों का वेग ध्यान में खड़े हुए मुनि को सातवीं नरक में जाने योग्य बना देते हैं तो दूसरी तरफ ये ही विचार प्रवाह व्यक्ति को राजभवन और कांचमहल में ही भावों से केवली सर्वज्ञ सर्वदर्शी बना सकते हैं। ऐसा भी वर्णन मिलता है कि भरत चक्रवर्ती की दादी भगवान ऋषभदेव की माता को तो हाथी पर बैठे हुए ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था।

भरत केवली ने अपने आभूषण आदि उतारे, पंचमुष्टि लोच किया और कांच महल से निकले। अंतःपुर में होते हुए विनीता नगरी से बाहर निकले और १० हजार राजाओं को अपने साथ दीक्षित कर उस

मध्यखंड़ में विचरण करने लगे। अंत में अष्टापद पर्वत पर संलेखना संथारा पादपोपगमन पंड़ित मरण स्वीकार किया। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती ७७ लाख पूर्व कुमारावस्था में रहे, एक हजार वर्ष मांड़लिक राजा रूप में, ६ लाख पूर्व में हजार वर्ष कम चक्रवर्ती रूप में रहे। कुल ८३ लाख पूर्व गृहस्थ जीवन में रहे। एक लाख पूर्व देशोन केवली पर्याय में रहे। एक महिने के संथारे से कुल ८४ लाख पूर्व की आयुष्य पूर्ण कर सम्पूर्ण कर्मों को क्षय किया एवं सिद्ध बुद्ध मुक्त हुएसब दुःखों का अंत किया।

निबंध-५७

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के ६-६ आरे

दस क्रोड़ा-क्रोड़ी सागरोपम जितने काल की उत्सर्पिणी और उतने ही काल की अवसर्पिणी होती है। दोनों मिलकर एक कालचक्र कहलाता है। यह कालचक्र भरत-ऐरवत क्षेत्रों में ही होता है, महाविदेह क्षेत्र में नहीं होता है। उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी दोनों में ६-६ विभाग होते है, उन्हें ६ आरे कहा जाता है। उत्सर्पिणी के पहले से छट्ठे आरे तक क्रमशः मनुष्यों की अवगाहना-आयुष्य बढ़ते हैं। पुद्गलों में वर्ण गंध रस स्पर्श शुभ रूप में बढ़ते हैं और अवसर्पिणी में ये सभी क्रमशः घटते रहते हैं। महाविदेह क्षेत्र में ऐसा उतार-चढ़ाव नहीं होता है, सदा एक सरीखा समय वर्तता है। इसलिये वहाँ ६ आरे नहीं होकर सदा एक सा अवसर्पिणी का चौथा आरा वर्तता है।

वर्तमान में हमारे भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल का पाँचवाँ आरा चल रहा है, अवसर्पिणी के छ आरों के नाम इस प्रकार है- (१) सुखमासुखमी (२) सुखमी (३) सुखमा दुखमी (४) दुःखमा सुखमी (५) दुःखमी (६) दुःखमादुःखमी। उत्सर्पिणी में पहला आरा दुःखमा दुःखमी होता है और फिर उलटे क्रम से कहना, इसका छट्ठा आरा सुखमा सुखमी होता है।

अवसर्पिणी काल के ६ आरे :-

प्रथम सुखमासुखमी आरे में मनुष्य अत्यंत सुखी होते है, इसलिये

इस आरे का नाम सुखमासुखमी है। यह आरा ४ क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम का होता है। इस काल में भरत क्षेत्र के पृथ्वी, पानी एवं वायुमंड़ल का तथा प्रत्येक प्राकृतिक पदार्थों का स्वभाव अति उत्तम, सुखकारी एवं स्वास्थ्य प्रद होता है। मनुष्यों की तथा पशु पक्षी की संख्या अल्प होती है। जलस्थानों की एवं दस प्रकार के विशिष्ट वृक्षों की बहुलता होती है। ये विशिष्ट वृक्ष १० जाति के होते हैं इन्हीं से मनुष्यों आदि के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इस काल में खेती व्यापार आदि कर्म नहीं होते हैं। नगर, मकान, वस्त्र, बर्तन आदि नहीं होते हैं। भोजन पकाना, संग्रह करना नहीं होता है। अग्नि भी इस काल में उत्पन्न नहीं होती है नहीं जलती है। इच्छित खाद्यपदार्थ वृक्षों से प्राप्त हो जाते हैं। निवास एवं वस्त्र का कार्य भी वृक्ष छाल पत्र *आदि से हो जाता है। पानी के लिए अनेक सुंदर स्थान सरोवर आदि* होते हैं।

युगल मनुष्य–इस समय में स्त्री पुरुष सुन्दर एवं पूर्ण स्वस्थ होते हैं। उन्हें जीवनभर औषध उपचार वैद्य आदि की आवश्यकता नहीं होती है। मानुषिक सुख भोगते हुए भी जीवन भर में उनके केवल एक ही युगल उत्पन्न होता है अर्थात् उनके एक साथ एक पुत्र और एक पुत्री जन्मती है। **हम दो हमारे दो** का आधुनिक सरकारी सिद्धांत उस समय स्वाभाविक प्रवहमान होता है। उस युगल पुत्र पुत्री की ४९ दिन पालना माता पिता द्वारा की जाती है फिर वे स्वनिर्भर स्वावलंबी हो जाते हैं। ६ महिने के होने पर उनके माता पिता छींक एवं उबासी के निमित्त से लगभग एक साथ मर जाते हैं। फिर वह युगल भाईबहिन के रूप में साथ-साथ विचरण करता है और योवन वय प्राप्त होने पर स्वतः पति-पत्नि का रूप धारण कर लेता है।

युगल शरीर–उस समय के मनुष्यों की उम्र ३ पल्योपम की होती है और क्रमिक घटते घटते प्रथम आरे की समाप्ति तक २ पल्योपम की हो जाती है। उन मनुष्यों के शरीर की अवगाहना ३ कोस की होती है। स्त्रियाँ पुरुष से २-४ अंगुल छोटी होती है। यह अवगाहना भी घटते-घटते पहले आरे के अंत में २ कोस हो जाती है। इन युगल मनुष्यों के शरीर का वज्रऋषभनाराच संहनन होता है, सुंदर सुड़ौल

समचौरस संस्थान होता है। उनके शरीर में २५६ पसलियाँ होती है । उन युगल मनुष्यों को तीन दिन से आहार की इच्छा उत्पन्न होती है। उनका आहार पृथ्वी, पुष्प और फल स्वरूप होता है। उन पदार्थों का आस्वाद चक्रवर्ती के भोजन से अधिक स्वादिष्ट होता है। वे मनुष्य जीवन में किसी भी प्रकार का कष्ट दुःख नहीं देखते। सहज शुभ परिणामों से मर कर वे देवगति में ही जाते हैं। देवगति में भवनपति से लेकर पहले दूसरे देवलोक तक जन्मते हैं, आगे नहीं जाते। अपनी स्थिति से कम स्थिति के देव बन सकते हैं, अधिक स्थिति के नहीं अर्थात् ये युगल मनुष्य तीन पल से अधिक स्थिति के देव नहीं बन सकते। १००००वर्ष से लेकर ३ पल तक की कोई भी उम्र प्राप्त कर सकते हैं। अन्य किसी भी गति में ये नहीं जाते हैं। तिर्यंच युगलिक भी इसी तरह जीवन जीते हैं और देवलोक में जाते हैं। उनकी उत्कृष्ट अवगाहना मनुष्य से दुगुनी होती हैं और जघन्य अनेक धनुष की होती हैं। मनुष्य की जघन्य अवगाहना तीन कोस में किंचित(२-४ अंगुल) कम होती है, उत्कृष्ट उस समयकी परिपूर्ण अवगाहना होती है । ऐसा तीनों आरों में समझ लेना। सामान्य तिर्यंच भी अनेक जाति के होते हैं। यह पहले आरे का वर्णन पूरा हुआ । यह काल ४ क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम तक चलता है।

पहला आरा पूर्ण होने पर **दूसरा आरा** प्रारम्भ होता है। सभी रूपी पदार्थों के गुणों में अनंतगुणी हानि होती है । इस आरे के प्रारम्भ में मनुष्य की उम्र २ पल्योपम और अंत में एक पल्योपम की होती है। अवगाहना प्रारम्भ में २ कोस और अंत में एक कोस होती है। उनके शरीर में **१२८** पसलियाँ होती है । दो दिन से आहारेच्छा उत्पन्न होती है। माता-पिता पुत्र पुत्री की पालना ६४ दिन करते हैं। ये सभी परिवर्तन भी क्रमिक होते हैं ऐसा समझना चाहिये। शेष वर्णन प्रथम आरे के समान है। तिर्यंच का वर्णन भी प्रथम आरे के समान जानना। यह आरा तीन क्रोड़ा-क्रोड़ सागरोपम तक चलता है।

तीसरा आरा :- इस आरे के दो तिहाई भाग तक मानव पूर्ण सुखी होते है, पिछले एक तिहाई भाग में कल्पवृक्ष कम होने लगते हैं और मानव स्वभाव में अंतर आता है। तब कुछ दुःख होने से इस आरे का नाम

सुखमा-दुःखमी हैं। दूसरा आरा पूर्ण होने पर तीसरा आरा प्रारम्भ होता है। सभी पदार्थों के गुणों में अनंत गुणी हानि होती है। प्रारम्भ में मनुष्यों की उम्र एक पल्योपम होती है। अंत में एक करोड़ पूर्व की होती है। अवगाहना प्रारंभ में एक कोस की होती है। अंत में ५०० धनुष की होती है। शरीर में **पसलियाँ ६४** होती है। एक दिन से आहार की इच्छा होती है एवं पुत्र-पुत्री की पालना ७९ दिन की जाती है। शेष वर्णन प्रथम आरे के समान है।

इस आरे के दो तिहाई भाग तक उक्त व्यवस्था में क्रमिक हानि होते हुए वर्णन समझना किन्तु पिछले एक तिहाई भाग में भी पल्योपम का आठवाँ भाग शेष रहने पर फिर अक्रमिक हानि वृद्धि का मिश्रण काल चलता है। दस विशिष्ट वृक्षों की संख्या कम होने लग जाती है। युगल व्यवस्था में भी अंतर आने लग जाता है। इस तरह मिश्रण काल चलते चलते ८४ लाख पूर्व का जितना समय इस आरे का रहता हैं तब लगभग पूर्ण परिवर्तन हो जाता है अर्थात् युगल काल से कर्मभूमि काल आ जाता है। तब खान-पान, रहन-सहन, कार्य-कलाप, सन्तानोत्पत्ति, शांति, स्वभाव, परलोक गमन आदि में अंतर आ जाता है। चारों गति और मोक्ष गति में जाना चालू हो जाता है। शरीर की अवगाहना एवं उम्र का भी कोई ध्रुव कायदा नहीं रहता है। सहनन संस्थान सभी(छहों) तरह के हो जाते हैं।

पिछले एक तिहाई भाग के भी अंत में और पूर्ण कर्मभूमि काल के कुछ पहले वृक्षों की कमी आदि के कारण एवं काल प्रभाव के कारण, कभी कहीं आपस में विवाद कलह पैदा होने लगते हैं। तब उन युगल पुरुषों में ही कोई न्याय करने वाले पंच कायम कर दिये जाते हैं। उन्हें **कुलकर** कहा गया है। इन कुलकरों की ५-७-१०-१५ पीढ़ी करीब चलती है। तब तक तो प्रथम तीर्थंकर उत्पन्न हो जाते है। कुलकरों को कठोर दंड नीति नहीं चलानी पड़ती है। सामान्य उपालंभ मात्र से ही अथवा अल्प समझाइस से ही उनकी समस्या हल हो जाती है। इन कुलकरों की ३ नीतियाँ कही गई हैं- हकार, मकार, धिक्कार। ऐसे शब्दों के प्रयोग से ही वे युगल मनुष्य लज्जित भयभीत और विनयोवनत होकर शांत हो जाते हैं। इस वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में हुए १४

कुलकरों के नाम ये है- (१) सुमति (२) प्रतिश्रुति (३) सीमंकर (४) सीमंधर (५) क्षेमंकर (६) क्षेमंधर (७) विमलवाहन (८) चक्षुष्मान (९) यशोवान (१०) अभिचन्द्र (११) चन्द्राभ (१२) प्रसेनजीत (१३) मरुदेव (१४) नाभि। इसके बाद प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान भी पहले कुछ समय कुलकर अवस्था में रहे। कुल ८३ लाख पूर्व संसारावस्था में रहे। इस प्रकार प्रत्येक अवसर्पिणी के तीसरे आरे की मिश्रण काल की अवस्था समझनी चाहिये।

नाभी और मरुदेवी भी युगल पुरुष और स्त्री ही थे किन्तु मिश्रण काल होने से उनकी अनेक वर्षों की उम्र अवशेष रहते हुए भी भगवान ऋषभदेव का इक्ष्वाकु भूमि में जन्म हुआ था। उस समय तक नगर आदि का निर्माण नहीं हुआ था। ६४ इन्द्र आदि आये, जन्माभिषेक किया। बाल्यकाल के बाद भगवान ने योवन अवस्था में प्रवेश किया, कुलकर बने, फिर राजा बने। बीस लाख पूर्व की उम्र में राजा बने, ६३ लाख पूर्व तक राजा रूप में रहे। कुल ८३ लाख पूर्व संसारावस्था में रहे। लोगों को कर्म भूमि की योग्यता के अनेक कर्तव्यों कार्यकलापों *का बोध दिया। पुरुषों की ७२ कला, स्त्रियों की ६४ कला, शिल्प,* व्यापार, राजनीति आदि का, विविध नैतिक सामाजिक व्यवस्थाओं एवं संसार व्यवहारों का ज्ञान विज्ञान प्रदान किया। शक्रेन्द्र ने वैश्रमण देव के द्वारा दक्षिण भरत के मध्य स्थान में विनिता नगरी का निर्माण कराया और भगवान का राज्याभिषेक किया। अन्य भी गाँव नगरों का निर्माण हुआ । राज्यों का विभाजन हुआ। भगवान ऋषभदेव के १०० पुत्र हुए थे। उन सभी को अलग अलग १०० राज्य बांट कर राजा बना दिया। भगवान के दो पुत्रियाँ हुई- ब्राह्मी और सुंदरी। जिनका भरत और बाहुबली के साथ युगल रूप में जन्म हुआ था।

भगवान ऋषभदेव के विवाह विधि का वर्णन सूत्र में नहीं है, व्याख्याग्रंथों में बताया गया है कि मिश्रण काल के कारण सुनंदा और सुमंगला नामक दो कुंवारी कन्याओं के साथ युगल रूप में उत्पन्न बालकों के मृत्यु प्राप्त हो जाने पर वे कन्याएँ कुलकर नाभि के संरक्षण में पहुँचा दी गई थी। वे दोनों ऋषभदेव भगवान के साथ में ही संचरण करती थी। योग्य वय में आने पर शक्रेन्द्र ने अपना जीताचार

जानकर कि "अंवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर का पाणिग्रहण करना मेरा कर्तव्य है" भरत क्षेत्र में आकर देव देवियों के सहयोग से सुमंगला और सुनंदा कुँवारी कन्याओं के साथ भगवान की विवाहविधि सम्पन्न की।

भगवान ऋषभ देव की दीक्षा–८३ लाख पूर्व(२०+६३)कुमारावस्था एवं राज्यकाल के व्यतीत होने पर चैत्र वदी ९ (ग्रीष्म ऋतु के पहले महीने पहले पक्ष चैत्र वदी नवमी) के दिन भगवान ने विनीता नगरी के बाहर सिद्धार्थ वन नामक उद्यान में दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा महोत्सव ६४ इन्द्रों ने किया। साथ में ४००० व्यक्तियों ने भी संयम अंगीकार किया। एक वर्ष पर्यन्त भगवान ने देवदूष्य वस्त्र धारण किया–कंधे पर रखा। एक वर्ष तक मौन एवं तप अभिग्रह धारण किया। प्रथम पारणा **एक वर्ष से** (३६० दिन से) राजा श्रेयाँश कुमार के हाथ से हुआ एवं भ्रमित प्रवाह से उसी को ४०० दिन कहे जाने लगे हैं। १००० वर्ष तक तप संयम से आत्मा को भावित करते हुए भगवान ने विचरण किया। १ हजार वर्ष व्यतीत होने पर पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख उद्यान में ध्यानावस्था में तेले की तपस्या में फागुण वदी ११ को केवलज्ञान केवलदर्शन उत्पन्न हुआ।

भगवान ने उपदेश देना प्रारम्भ किया, चार तीर्थ की स्थापना की। ८४ गण ८४ गणधर ऋषभसेन प्रमुख ८४००० श्रमण, ब्राह्मी सुन्दरी प्रमुख ३ लाख श्रमणियाँ, श्रेयाँस प्रमुख तीन लाख पाँच हजार श्रावक, एवं सुभद्रा प्रमुख ५ लाख ५४ हजार श्राविकाएँ हुई। भगवान के असंख्य पाट तक केवलज्ञान प्राप्त होता रहा, इसे युगान्तर कृत भूमि कहा गया है एवं भगवान के केवलज्ञान उत्पत्ति के अंतर्मुहूर्त बाद मोक्ष जाना प्रारम्भ हुआ, इसे पर्यायान्तरकृत भूमि कहा गया है।

इस प्रकार भगवान ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के प्रथम राजा, प्रथम श्रमण, प्रथम तीर्थंकर केवली हुए। पाँच सौ धनुष का उनका शरीरमान था। एक लाख पूर्व संयम पर्याय, ८३ लाख पूर्व गृहस्थ जीवन, यों ८४ लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर के माघ वदी १३ के दिन, १० हजार साधुओं के साथ ६ दिन की तपस्या में अष्टापद पर्वत पर भगवान ऋषभदेव ने परम निर्वाण को प्राप्त किया। देवों ने भगवान

एवं श्रमणों के शरीर का अग्नि संस्कार किया। निर्वाण महोत्सव और दाह संस्कार का शास्त्र में विस्तृत वर्णन है । उस दिन से तीसरे आरे के ८९ पक्ष(३ वर्ष ८-१/२ महीना)अवशेष रहे थे। यह ऋषभदेव भगवान का वर्णन कहा गया है। सभी अवसर्पिणी के तीसरे आरे के अंतिम भाग का वर्णन एवं प्रथम तीर्थंकर का वर्णन यथायोग्य नाम परिवर्तन आदि के साथ उक्त प्रकार से समझ लेना चाहिए। यह तीसरा आरा दो क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम का होता है ।

इस तीसरे आरे में शारीरिक, मानसिक और आपसी अनेक दुःख क्लेश चलते रहते हैं तथापि क्षेत्रस्वभाव, कालस्वभाव बहुत अनुकूल होता है। सुख सामग्री की बहुलता होती है। अतः इस आरे का नाम दुःखमा सुखमी है।

चौथा आरा :–प्रथम तीर्थंकर के मोक्ष जाने के ३ वर्ष, साढ़े आठ मास बाद चौथा दुखमा सुखमी आरा प्रारम्भ होता है। पूर्वापेक्षया पदार्थों के गुणधर्म में अनंतगुणी हानि होती है। इस आरे में मनुष्यों की अवगाहना अनेक धनुष की अर्थात् २ से ५०० धनुष की होती है। उम्र आरे के प्रारम्भ में जघन्य अंतर्मुहूर्त की, उत्कृष्ट करोड़ पूर्व की होती है और आरे के अंत में जघन्य अंतर्मुहूर्त की उत्कृष्ट साधिक सौ वर्ष अर्थात् २०० वर्ष से कुछ कम होती है। ६ संहनन, ६ संस्थान एवं आरे के प्रारम्भ में **३२**, अंत में **१६ पसलियें** मनुष्यों के शरीर में होती है। ७२ कला, खेती, व्यापार, शिल्प, कर्म, मोहभाव, वैर, विरोध, युद्ध-संग्राम, रोग, उपद्रव आदि अनेक कर्मभूमिज अवस्थाएँ होती है। इस आरे में २३ तीर्थंकर ११ चक्रवर्ती होते हैं। एक तीर्थंकर और एक चक्रवर्ती तीसरे आरे में हो जाते हैं। ९ बलदेव ९ वासुदेव ९ प्रतिवासुदेव आदि विशिष्ट पुरुष होते हैं। इस काल में जन्मे हुए मनुष्य चारों गति में और मोक्ष गति में जाते हैं। इस समय युगल काल नहीं होता है। अतः हिंसक जानवर एवं डांस मच्छर आदि क्षुद्र जीवजन्तु मनुष्यों के लिए कष्टप्रद होते हैं। राजा, प्रजा, सेठ, मालिक, नौकर, दास आदि उच्च-निम्न अवस्थाएँ होती है। काका, मामा, दादा, दादी, पौत्र, प्रपौत्र, मौसी, भूआ आदि कई सम्बन्ध होते हैं। और भी जिन-जिन भावों का प्रथम आरे में निषेध किया गया है वे सभी भाव इस आरे

में पाये जाते हैं। इस आरे के ७५ वर्ष साढ़े आठ मास अवशेष रहने पर २४वें तीर्थंकर का जन्म होता है एवं ३ वर्ष साढ़े आठ महिने शेष रहने पर २४वें तीर्थंकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। यह आरा एक क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम में ४२००० वर्ष कम का होता है।

२४वें तीर्थंकर के मोक्ष जाने के ३ वर्ष साढ़े आठ महीने बीतने पर पाँचवाँ **दुःखमी** आरा प्रारम्भ हो जाता है। इन आरों के नाम से सुख दुःख का स्वभाव भी स्पष्ट होता है। पहला दूसरा आरा सुखमय होता है, दुःख की कोई गिनती वहाँ नहीं है। तीसरे में अल्प दुःख है अर्थात् अंत में मिश्रणकाल और कर्मभूमिज काल में दुःख, क्लेश, कषाय, रोग, चिन्ता आदि होते हैं। चौथे आरे में सुख और दुःख दोनों हैं अर्थात् कई मनुष्य संपूर्ण जीवनभर मानुषिक सुख भोगते हैं। पुण्य से प्राप्त धनराशि में ही संतुष्ट रहते हैं और फिर दीक्षा लेकर आत्म कल्याण करते हैं। अधिक मानव संसार प्रपंच, जीवन व्यवस्था, कषाय क्लेश में पड़े रहते हैं। उसके अनंतर पाँचवाँ आरा दुःखमय है, इस काल में सुख की कोई गिनती नहीं है, मात्र दुःख चौतरफ घेरे रहता है। सुखी दिखने वाले भी दिखने मात्र के होते हैं। वास्तव में वे भी पग-पग पर तन-मन-धन-जन के दुःखों से व्याप्त होते हैं।

पूर्व की अपेक्षा इस पाँचवें आरे में पुद्गल स्वभाव में अनंतगुणी हानि होती है। मनुष्यों की संख्या अधिक होती है। उपभोग परिभोग की सामग्री हीनाधिक होती रहती है। दुष्काल दुर्भिक्ष होते रहते हैं। रोग, शोक, बुढ़ापा, मरीमारी, जन-संहार, वैर-विरोध, युद्ध-संग्राम होते रहते हैं। जनस्वभाव भी क्रमशः अनैतिक हिंसक क्रूर बनता जाता है। राजा नेता भी प्रायः अनैतिक एवं कर्तव्यच्युत अधिक होते हैं। प्रजा के पालन की अपेक्षा शोषण अधिक करते हैं। चोर ड़ाकू लुटेरे दुर्व्यसनी आदि लोग ज्यादा होते हैं, धार्मिक स्वभाव के लोग कम होते हैं। धर्म के नाम से ढ़ोंग ठगाई करने वाले कई होते हैं।

इस आरे में **जन्मने वाले** चारों गति में जाते हैं, मोक्ष गति में नहीं जाते हैं। ६ संघयण ६ संस्थान वाले होते है एवं इस आरे के प्रारम्भ में १६ और अंत में ८ पसलियें मानव शरीर में होती है। अवगाहना अंत में उत्कृष्ट दो हाथ और प्रारम्भ में मध्य में अनेक हाथ होती है।

(अनेक हाथ से ७ या १० हाथ भी हो सकती है।) एक हाथ करीब १ फुट का माना गया है। उम्र प्रारम्भ में मध्य में उत्कृष्ट २०० वर्ष से कुछ कम हो सकती है। अंत में उत्कृष्ट २० वर्ष होती है। इस काल में मनुष्यों में विनय, शील, क्षमा, लज्जा, दया, दान, न्याय, नैतिकता, सत्यता आदि गुणों की अधिकतम हानि होती है और इसके विपरीत अवगुणों की अधिकतम वृद्धि होती है। गुरु और शिष्य अविनीत अयोग्य अल्पज्ञ होते हैं। चारित्रनिष्ठ क्रमशः कम होते जाते हैं। चारित्रहीन अधिक होते जाते हैं। धार्मिक, सामाजिक और राजकीय मर्यादा लोपक बढ़ते जाते हैं और मर्यादा पालक घटते जाते हैं एवं ***इस आरे में दस बोलों का विच्छेद*** होता है। भगवान महावीर स्वामी अंतिम तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद गौतम स्वामी, सुधर्मास्वामी, जम्बू स्वामी तक १२+८+४४= ६४ वर्ष तक केवलज्ञान रहा, उसके बाद इस आरे के अंतिम दिन तक साधु साध्वी श्रावक श्राविका धर्म की आराधना करने वाले एवं देवलोक में जाने वाले होते हैं।

विच्छेद के दस बोल :- (१) परम अवधिज्ञान (२) मनःपर्यवज्ञान (३) केवलज्ञान (४-६) तीन चारित्र (७) पुलाकलब्धि (८) आहारकशरीर (९) जिनकल्प (१०) दो श्रेणी उपशम और क्षायिक ।

कई लोग भिक्षुपड़िमा, एकल विहार, संहनन आदि का भी विच्छेद कहते हैं किन्तु उसके लिये कोई आगम प्रमाण नहीं है अपितु आगम से विपरीत भी होता है। भगवान महावीर के शासन में १००० वर्ष बाद संपूर्ण पूर्व ज्ञान का मौलिक रूप में विच्छेद हुआ, आंशिक रूपांतरित अवस्था में अब भी उपांग, छेद आदि में विद्यमान है। २१ हजार वर्ष तक यह भगवान महावीर का शासन उतार-चढ़ाव के झोले खाता हुआ भी चलेगा। सर्वथा(आत्यंतिक) विच्छेद भगवान के शासन का इस मध्यावधि में नहीं होगा। किन्तु छट्ठा आरा लगने पर पाँचवें आरे के अंतिम दिन ही होगा। प्रथम प्रहर में जैन धर्म, दूसरे प्रहर में अन्य धर्म, तीसरे प्रहर में राजधर्म, चौथे प्रहर में अग्नि का विच्छेद होगा। इसी प्रकार का वर्णन सभी अवसर्पिणी के पाँचवें आरे का समझना। यह आरा २१००० वर्ष का होता है।

छट्ठा आरा :- यह आरा भी २१ हजार वर्ष का होता है। महान

दुःखपूर्ण यह काल होता है। इस समय में दिखने मात्र का भी सुख नहीं रहता है। वह घोर दुःख वर्णन नरक के दुःखों की स्मृति कराने वाला होता है। इस आरे का वर्णन भगवती सूत्र, श०७, उद्दे०६ में है ।

उत्सर्पिणी काल :-

प्रथम आरा :- उत्सर्पिणी के पहले आरे का वर्णन अवसर्पिणी के छट्ठे आरे के अंतिम स्वभाव के समान है अर्थात् छट्ठे आरे के प्रारम्भ में जो प्रलय का वर्णन है वह यहाँ नहीं समझना किन्तु उस आरे के मध्य और अंत में जो क्षेत्र एवं जीवों की दशा है वही यहाँ भी समझना। यह आरा २१००० वर्ष का होता है।

उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ श्रावण वदी एकम को होता है। शेष आरे किसी भी दिन महिने में प्रारम्भ हो सकते हैं। उसका कोई नियम नहीं है क्यों कि आगम में वैसा कथन नहीं है अपितु ऐसा नियम मानने पर आगम विरोध भी होता है। यथा- ऋषभदेव भगवान माघ महीने में मोक्ष पधारे उसके तीन वर्ष साढ़े आठ महिने बाद श्रावण वदी एकम किसी भी गणित से नहीं आ सकती। अतः चौथा आरा किसी भी दिन प्रारम्भ हो सकता है। उसी तरह अन्य आरे भी समझ लेना। मूलपाठ में केवल उत्सर्पिणी का प्रारम्भ श्रावण वदी एकम से कहा गया है। अन्य आरों के लिये मनकल्पित नहीं मानना ही श्रेयस्कर है।

दूसरा आरा :- २१+२१=४२ हजार वर्ष का (छट्ठा और पहला आरा) महान दुःखमय समय व्यतीत होने पर उत्सर्पिणी का दूसरा आरा प्रारम्भ होता है। इसके प्रारंभ होते ही (१) सात दिन पुष्कर संवर्तक महामेघ मूसलधार जलवृष्टि करेगा। जिससे भरतक्षेत्र की दाहकता ताप आदि समाप्त होकर भूमि शीतल हो जायेगी। (२) फिर सात दिन तक क्षीर मेघ वर्षा करेगा। जिससे अशुभ भूमि में शुभ वर्ण गंध रस आदि उत्पन्न होंगे। (३) फिर सात दिन निरंतर घृत मेघ वृष्टि करेगा जिससे भूमि में स्नेह स्निग्धता उत्पन्न होगी। (४) इसके अनंतर फिर अमृत मेघ प्रकट होगा, वह भी सात दिन रात निरंतर वर्षा करेगा। जिससे भूमि में वनस्पति को उगाने की बीजशक्ति उत्पन्न होगी। (५) इसके अनंतर रस मेघ प्रकट होगा, वह भी सात दिन

मूसलधार वृष्टि करेगा जिससे कि भूमि में वनस्पति के लिये तिक्त कटुक मधुर आदि रस उत्पन्न करने की शक्ति का संचार होगा।

इस प्रकार पाँच सप्ताह की निरंतर वृष्टि के बाद आकाश बादलों से साफ हो जायेगा। तब भरतक्षेत्र में वृक्ष लता गुच्छ तृण औषधि हरियाली आदि उगने लगेंगे एवं क्रमशः वनस्पति विकास हो जाने पर यह भूमि मनुष्यों के सुखपूर्वक विचरण करने योग्य हो जायेगी। अर्थात् कुछ ही महीनों एवं वर्षों में भरत क्षेत्र का भूमि भाग वृक्ष लता, फल, फूल आदि से युक्त हो जायेगा।

वर्षा के बाद बिलवासी मानव प्रसन्न होंगे और धीरे-धीरे बाहर विचरने लगेंगे। कालांतर से जब पृथ्वी, वृक्ष, लता, फल, फूल आदि से परिपूर्ण युक्त हो जायेगी तब मानव देखेंगे कि अब हमारे लिये क्षेत्र सुखपूर्वक रहने विचरने योग्य हो गया है, इस क्षेत्र में जीवन निर्वाह करने योग्य अनेक वृक्ष, लता, पौधे, बेलें और उनके फल-फूल आदि विपुल मात्रा में उपलब्ध होने लग गये है। तब उनमें से कई सभ्य संस्कार के मानव कभी आपस में इकट्ठे होकर मंत्रणा करेंगे कि "अब विविध प्रकार के खाद्यपदार्थ उपलब्ध होने लगे हैं, अब हम में से कोई मानव मांसाहार नहीं करेगा और जो कोई इस नियम को भंग करेगा उसे हमारे समाज से निष्कासित माना जायेगा और कोई व्यक्ति उस मांसाहारी की संगति नहीं करेगा, उसके निकट भी नहीं जायेगा, सभी उससे घृणा नफरत करेंगे, उसकी छाया के स्पर्श का भी वर्जन करेंगे।" इस प्रकार की एक व्यवस्था वे मानव कायम कर जीवन यापन करते है। शेष वर्णन अवसर्पिणी के पाँचवें आरे के समान है। धर्म प्रवर्तन इस आरे म नहीं होता है। फिर भी मानव चारों गति में जाने वाले होते हैं। जब कि इसके पूर्व के ४२ हजार वर्षों में मानव प्रायः नरक तिर्यंच में ही जाते हैं। इस दूसरे आरे में धर्म प्रवर्तन नहीं होते हुए भी मनुष्यों में नैतिक गुणों का क्रमिक विकास होता है, अवगुणों का ह्रास होता है। इस प्रकार यह २१ हजार वर्ष के काल का दूसरा आरा व्यतीत होता है।

तीसरा आरा :-अवसर्पिणी काल के चौथे आरे के समान यह तीसरा आरा होता है। इसके तीन वर्ष साढ़े आठ महिने बीतने पर प्रथम

तीर्थंकर माता के गर्भ में आते हैं। नौ महीने साढ़े सात दिन से जन्म होता है। फ़िर यथा समय दीक्षा धारण करते हैं एवं केवलज्ञान होता है। चार तीर्थ की स्थापना करते है। धर्म प्रवर्तन करते हैं। तब ८४ हजार वर्ष से विच्छेद हुआ जिन धर्म पुनः प्रारम्भ होता है। उपदेश श्रवण करके कई जीव श्रमण बनते हैं। कोई गृहस्थ धर्म अंगीकार करते हैं। शेष सम्पूर्ण वर्णन पूर्व वर्णित चौथे आरे के समान समझना चाहिये। यह आरा एक क्रोड़ा क्रोड़ सागर में ४२००० वर्ष कम होता है। इसमें पुद्गल-स्वभाव, क्षेत्र स्वभाव में क्रमिक गुणवर्धन होता है।

चौथा सुखमा दुःखमी आरा– इस आरे के तीन वर्ष साढ़े आठ महिना व्यतीत होने पर अंतिम २४ वें तीर्थंकर का जन्म होता है, उनकी उम्र ८४ लाख पूर्व होती है, ८३ लाख पूर्व गृहस्थ जीवन में रहते हैं, एक लाख पूर्व संयम पालन करते हैं। सम्पूर्ण वर्णन ऋषभदेव भगवान के समान जानना। किन्तु व्यवहारिक ज्ञान सिखाना, ७२ कला सिखाना, आदि वर्णन यहाँ नहीं है। क्यों कि यहाँ कर्मभूमि काल तो पहले से ही है। अंतिम तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद क्रमशः शीघ्र ही (५-२५ वर्ष में)साधु-साध्वी श्रावक श्राविका एवं धर्म का और अग्नि का विच्छेद हो जाता है। १० प्रकार के विशिष्ट वृक्ष उत्पन्न हो जाते हैं। मानव अपने कर्म, शिल्प, व्यापार आदि से मुक्त हो जाते हैं। यों क्रमिक युगल काल रूप में परिवर्तन होता जाता है। पल्योपम के आठवें भाग तक कुलकर व्यवस्था और मिश्रणकाल चलता है। फिर कुलकरों की आवश्यकता भी नहीं रहती है। धीरे-धीरे मिश्रण काल से परिवर्तन हो कर शुद्ध युगल काल हो जाता है। पूर्ण सुखमय शान्तिमय जीवन हो जाता है। शेष वर्णन अवसर्पिणी के तीसरे दूसरे और पहले आरे के समान ही उत्सर्पिणी के चौथे पाँचवें छट्ठे आरे का है एवं कालमान भी उसी प्रकार है अर्थात् यह चौथा आरा दो क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम का होता है फिर पाँचवाँ आरा तीन क्रोड़ा सागरोपम का और छट्ठा आरा चार क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम का होता है। पाँचवें आरे का नाम **सुखमी** आरा एवं छट्ठे आरे का नाम **सुखमा सुखमी** है।

अढ़ाईद्वीप के कर्मभूमि क्षेत्रों में से आरों रूप उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल, ५ भरत और ५ एरवत इन दस क्षेत्रों में ही होता है, शेष ५

कर्मभूमि रूप पाँच महाविदेह क्षेत्र में, ३० अकर्मभूमि में और ५६ अंतरद्वीपों में यह काल परिवर्तन नहीं होता है। उन ९१ क्षेत्रों में सदा एक सरीखा काल प्रवर्तमान होता है । यथा–

५ महाविदेह में– अवसर्पिणी के चौथे आरे का प्रारम्भकाल

१० देवकुरू उत्तरकुरू में– अवसर्पिणी के प्रथम आरे का प्रारम्भकाल

१० हरिवर्ष रम्यक वर्ष में– दूसरे आरे का प्रारम्भकाल

१० हेमवय हेरण्यवय में– तीसरे आरे का प्रारम्भकाल

५६ अंतर द्वीपों में– तीसरे आरे के अंतिम त्रिभाग का शुद्ध युगल काल अर्थात् मिश्रण काल के पूर्ववर्ती काल।

उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी मिलकर एक **कालचक्र** २० क्रोड़ाक्रोड़ी सागर का होता है। चक्र शब्द को ध्यान में रखा गया है। चक्र में गाड़ी के पहियें जैसे आरे होते हैं। अतः इस कालचक्र का चक्राकार चित्र कल्पित करके उसमें १२ आरें पूरे गोलाई में बीच की धुरी से लेकर किनारे की पट्टी तक जुड़े होते हैं। गाड़ी के पहियें में आरों की संख्या निश्चित नहीं होती है। बैलगाड़ी के पहियें में ६ आरे प्रायः होते हैं परंतु घोड़ागाड़ी(बग्धी) के बड़े पहियें होते हैं, उसमें १२ आरे होते हैं। इस प्रकार मूल शब्द कालचक्र होने से एवं चक्र में आरे होने से यहाँ उस उपमा को लक्ष्य में रखकर **आरा** शब्द से कहा गया है।

चक्र(पहिंये) के किनारे के पाटियों के स्थान पर दो सर्प की कल्पना की जाती है। जिनका मुख ऊपर होता है और पूँछ नीचे होती है। अवसर्पिणी के सर्प के मुख स्थान से पहला आरा प्रारंभ होता है वह ४ क्रोड़ा क्रोड़ी सागर का होता है। फिर सांप नीचे की तरफ पतला होता जाता है वैसे वैसे तीसरे आदि आरे छोटे होते है। पाँचवाँ छट्ठा आरा पूँछ के स्थान में आता है वे दोनों बहुत छोटे हैं। उसके बाद दूसरे सांप की पूछ से उत्सर्पिणी का पहला दूसरा आरा प्रारम्भ होकर सांप के मुख स्थान की जगह उत्सर्पिणी का छट्ठा आरा ४ क्रोड़ाक्रोड़ी सागर का आता है। सर्प की उपमा और उतार चढ़ाव और छोटे बड़े आरे समझे जाते है। इस प्रकार पहले उतरते सर्प से **अवसर्पिणी** काल होता है फिर पूँछ से ऊपर चढ़ते सर्प से **उत्सर्पिणी** काल होता है। इसलिये दोनों नाम उपमा की अपेक्षा सार्थक होते हैं।

निबंध–५८

दूसरे आरे से संवत्सरी की कल्पना

यहाँ कई लोग ऐसे भ्रमित अर्थ की कल्पना भी कर बैठते है कि मानों वृष्टि खुलते ही भूमि वृक्षादि से युक्त हो जाती है, ऐसा कथन अनुपयुक्त है। क्यों कि वृक्षों से युक्त होने में वर्षों लगते हैं और अन्य वनस्पति गुच्छ गुल्म लता आदि के फल फूल लगने में भी महिनों लगते हैं । क्यों कि वे प्राकृतिक होते हैं, देवकृत नहीं होते ।

इस दूसरे आरे की आगमिक स्पष्ट वर्णन वाली निरंतर पाँच साप्ताहिक वृष्टि के लिये जबरन सात साप्ताहिक मान कर एवं कालांतर से मानव द्वारा की जाने वाली मासांहार निषेध की प्रतिज्ञा को लेकर कई एकतरफा दृष्टि वाले अर्द्धचिंतक लोग इसी को संवत्सरी का उद्‌गम कह बैठते है। कहाँ तो श्रमण वर्ग के द्वारा निराहार मनाई जाने वाली धार्मिक पर्व रूप संवत्सरी और कहाँ सचित्त वनस्पति, कंद, मूलादि खाने वाले संयतधर्म रहित काल वाले मानवों का जीवन। संवत्सरी का सुमेल किंचित भी नहीं होते हुए भी अपने आपको विद्वान मान कर जबरन शास्त्र के नाम से उन अव्रती सचितभक्षी मानवों द्वारा चलाई गई सामाजिक सामान्य व्यवस्था को संवत्सरी मान कर उसका अनुसरण स्वयं करना, साथ ही तीर्थंकर भगवान को, गणधरों को और व्रती श्रमणों को उनका अनुसरण करने वाला बताकर विद्वान लोग मात्र बुद्धि की हंसी करवाने का ही कार्य करते हैं। ऋषि पंचमी का उद्‌गम तो ऋषि महिर्षियों द्वारा धर्म प्रवर्तन के साथ होता है। उसे भुला कर पाँच सप्ताह के सात सप्ताह करके और वर्षा बंद होते ही वृक्षों की, बेलों की, फलों की, धान्यों की, असंगत कल्पना करके अव्रती सचित्तभक्षी लोगों की नकल से संवत्सरी को खींचतान कर तीर्थंकर धर्म प्रणेताओं से जोड़ करके इस प्रकार की आत्म संतुष्टी करते हैं कि मानो हमने आगमों से संवत्सरी पर्व का बहुत बड़ा प्रमाण ४९ दिन का खोज निकाला है। ऐसे बुद्धिमानों की बुद्धि पर बड़ा ही आश्चय एवं अनुकंपा उत्पन्न होती है किन्तु इस पंचमकाल के प्रभाव से ऐसी कई

कल्पनाएँ भेड़चाल से प्रवाहित होती रहती है और होती रहेगी। सही चिंतन और ज्ञान का संयोग महान भाग्यशालियों को ही प्राप्त होगा।

सार- ***धर्म का प्रवर्तन तीसरे आरे में प्रथम तीर्थंकर द्वारा होता है। अतः दूसरे आरे से संवत्सरी का संबंध नहीं हो सकता।***

निबंध-५९

मनःपर्यव आदि ज्ञान विषयक समीक्षा

(१) जैसे वचन या भाषा के द्रव्य और भाव ऐसे विकल्प नहीं होते हैं वैसे ही मन के भी द्रव्य और भाव विकल्प आगम में नहीं कहे गये हैं। इसकी प्रक्रिया पूर्ण भाषा परिणमन के समान ही है। जैसे भाषा के रूपी अरूपी विकल्प नहीं होते हैं, वैसे मन के भी रूपी अरूपी विकल्प नहीं होते हैं। वे दोनों रूपी ही होते हैं। ग्रंथों में मन के द्रव्य और भाव विकल्प किए गये हैं किन्तु उनकी कोई आवश्यकता या उपयोगिता नहीं है।

(२) यह मनःपर्यवज्ञान दो तरह का होता है। १. ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान २. विपुल मति मनःपर्यवज्ञान। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को विशुद्ध विपुल और निर्मल रूप से जानता देखता है एवं क्षेत्र में ढ़ाई अंगुल क्षेत्र इसका अधिक होता है।

मनःपर्याय ज्ञान का विषय- (१) द्रव्य से मनःपर्यव ज्ञानी सन्नी जीवों (देव मनुष्य तिर्यंच) के मन के(मन रूप में परिणत पुद्गलों के) अनंत अनंत प्रदेशी स्कंधों को जानता देखता है।

(२) क्षेत्र से मनः पर्यवज्ञानी जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग जानता देखता है उत्कृष्ट नीचे १००० योजन, ऊपर ९०० योजन, चारों दिशाओं में ४५ लाख ४५ लाख योजन क्षेत्र में रहे हुए सन्नी देव, मनुष्य, तिर्यंचों के व्यक्तमन को जानता देखता है। (जिस प्रकार अस्पष्ट शब्द नहीं सुने जाते हैं, वैसे ही अस्पष्ट मन नहीं जाने देखे जाते हैं।)

(३) काल से- जघन्य पल्योपम का असंख्यातवा भाग जितनें समय के भूत भविष्य मन को जान देख सकता है और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने समय के भूत भविष्य मन को जान देख

सकता है। जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही कथन की अपेक्षा तो एक है, किन्तु जघन्य से उत्कृष्ट अधिक है, ऐसा समझ लेना चाहिए। ***(यदि जघन्य उत्कृष्ट वास्तव में समान ही होता है तो उसे जघन्य उत्कृष्ट न कहकर अजघन्य अनुत्कृष्ट कहा जाता है)*** भाव से- मनःपर्यव ज्ञानी अनंत भावों को जानता देखता है ।

जैसे दो छात्रों ने एक ही विषय में परीक्षा दी। एक ने प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त किए, दूसरे ने द्वितीय श्रेणी के, स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी प्राप्त करने वाले का ज्ञान विशेष रहा, उसकी श्रेणी भी अलग है और आगे कहीं प्रवेश में भी प्रथम श्रेणि वाले को प्राथमिकता मिलेगी। ठीक इसी तरह ऋजुमति और विपुलमति को समझना। ऋजुमति उसी भव में विनष्ट हो सकता है किन्तु विपुल मति पूरे भव तक रहता है, यह इसकी विशेषता है। किसी धारणा से विपुल मति उसी भव में मोक्ष जाता है, किन्तु ऋजुमति मनःपर्यव ज्ञानी तो भविष्य में अनन्त भव भी कर सकता है। सामान्य अन्तर भी कभी महत्वशील अन्तर हो जाता है यथा कोई चुनाव में एक मत(वोट) कम हो गया तो पाँच साल का नम्बर चला जाता है। ऐसी ही विशेषता दोनों प्रकार के मनःपर्यव ज्ञान में है, अतः दो प्रकार कहे गये हैं ।

अवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञान में परस्पर तुलना :-

अवधिज्ञानी भी कोई मन की बात जान सकते हैं । इसे दृष्टांत द्वारा समझें- एक ड़ाक घर में अनेक व्यक्ति हैं कोई तार का अनुभवी है कोई उस विषय का अनुभवी नहीं है। जो तार का अनुभवी नहीं है उसके श्रोतेन्द्रिय तो है ही। आने वाले तार की टिक टिक की आवज वह भी सुन लेता है किन्तु सुनने मात्र से वह उसके आशय को नहीं समझ सकता। ठीक वैसा ही अंतर अवधिज्ञानी और मनःपर्यव ज्ञानी के देखने का समझ सकते है। अथवा एक ड़ाक्टर चक्षुरोग का विशेषज्ञ है और दूसरा संपूर्ण शरीर का चिकित्सक है उसमें आँख की चिकित्सा भी वह करता है किन्तु आँख के विषय में उसके अनुभव चिकित्सा में और चक्षु विशेषज्ञ के अनुभव चिकित्सा में अन्तर होना स्पष्ट है। वैसे ही अवधिज्ञानी के द्वारा मन के पुद्‌गल ज़ानने में और मनःपर्यव ज्ञानी के द्वारा मन को जानने देखने में अन्तर है, ऐसा समझना चाहिए।

(१) अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्यव ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। (२) अवधिज्ञान सभी प्रकार के रूपी द्रव्यों को विषय करता है, मनःपर्यव ज्ञान केवल मनोद्रव्यों को विषय करता है। (३) अवधि ज्ञान चारों गति में होता है, मनःपर्यव ज्ञान मनुष्य गति में ही होता है। (४) अवधिज्ञान मिथ्यात्व आने पर नष्ट नहीं होता है परिवर्तित होकर विभंग ज्ञान कहलाता है, मनःपर्यव ज्ञान मिथ्यात्व आते ही समाप्त हो जाता है। (५) अवधिज्ञान के साथ अवधि दर्शन होता है, मनःपर्यव ज्ञान के साथ कोई दर्शन नहीं होता है। (६) अवधिज्ञान आगामी भव में साथ जाता है, मनःपर्यवज्ञान परभव में साथ नहीं जाता है। (७) मनःपर्यव ज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विषय अल्प है, अवधिज्ञान का विषय अत्यन्त विशाल है अर्थात् अवधिज्ञानी संपूर्ण शरीर के चिकित्सक के समान है, तो मनःपर्यव ज्ञानी किसी एक अंग के विशेषज्ञ के समान है।

केवलज्ञान और चार ज्ञान :-

मति आदि चार ज्ञान एक साथ एक व्यक्ति में हो सकते है। केवल ज्ञान अकेला ही रहता है। शेष चारों ज्ञान उसी में विलीन हो जाते है। जिस प्रकार किसी मकान की एक दिशा में चार दरवाजे हैं, उन्हें हटाकर पूरी दिशा खुली करके जब एक ही चौड़ा मार्ग बना दिया जाता है, तब उसमें प्रवेश द्वार ४ या ५ नहीं होकर एक ही मार्ग कहा जाता है। चार दरवाजों के चार मार्ग भी उसी में समाविष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार एक केवल ज्ञान में ही चारों ज्ञान समाविष्ट हो जाते हैं। केवल ज्ञान से बढ़कर और कोई ज्ञान नहीं होता है। यही सर्वोपरी ज्ञान है और आत्मा की सर्वश्रेष्ठ निज स्वभाव अवस्था है । इसी को प्राप्त करने के लिए ही संपूर्ण तप संयम की साधना स्वीकार की जाती है।

भगवती सूत्र और नंदी सूत्र में मतिज्ञान का विषय :-

मतिज्ञान के अतिरिक्त चार ज्ञान का विषय उक्त दोनों सूत्रों में समान है। किंतु मतिज्ञान के विषय में नंदी में अपेक्षा से सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव को जानने का विधान किया किंतु देखने का निषेध किया है। भगवती सूत्र में अपेक्षा से जानने देखने दोनों का विधान

किया है। जब अपेक्षा शब्द का उपयोग कर दिया गया है तो देखने का भी विधान करना ही उपयुक्त है अतः भगवती का पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है। अपेक्षा शब्द लगाकर के भी नहीं देखना कहना और फिर टीकाकार उसका स्पष्टीकरण करे कि अमुक अपेक्षा से देखता है और अमुक अपेक्षा से नहीं देखता है यह अनुपयुक्त होता है। अतः नंदी सूत्र में कभी भी लिपि प्रमाद से या समझ भ्रम से 'नो' शब्द लगा दिया गया है ऐसा समझना चाहिये ।

क्यों कि अपेक्षा शब्द कहने के बाद बहुत गुंजाइस स्वतः रह जाती है। तभी सूत्र में सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानना कह दिया गया है। श्रुत ज्ञान में भी अपेक्षा से उपयोग हो तो सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव जानने देखने की उत्कृष्ट क्षमता दोनों सूत्रों में कही गई है। अतः भगवती सूत्र के समान नंदी में भी मतिज्ञान का विषय समझना चाहिये । टीकाकारों के पूर्व से ही यह लिपि दोष प्रतियों में आ चुका था। किंतु भगवती सूत्र के प्रमाण से इसे सुधारने में ही सही निराबाध तत्त्व सिद्ध होता है।

सार– मतिज्ञान अपेक्षा से सर्व द्रव्य,क्षेत्र,काल,भाव जाने और देखे।

निबंध–६०

द्वादशांगी परिचय के तीन सूत्रों में तुलना

समवायांग सूत्र में १२ अंगसूत्रों के परिचय संबंधी वर्णन कुछ कुछ अधिक एवं विस्तृत दिया गया है, और नंदी सूत्र में कुछ कम दिया गया है । इसके अतिरिक्त परिचय लगभग समान दिया गया है। नंदी में **भगवती** सूत्र की पद संख्या २ लाख ८८ हजार है, समवायांग में ८४ हजार है। नंदी में **अंतगड़** सूत्र के आठ वर्ग, आठ उद्देशन काल कह हैं और अध्ययन का कथन नहीं है। समवायांग में १० अध्ययन और दस उद्देशन काल कहे हैं, वर्ग सात कहे हैं। नंदी में **अणुत्तरोपपातिक** सूत्र के तीन वर्ग तीन उद्देशन काल कहे हैं समवायांग में १० अध्ययन १० उद्देशन काल कहे हैं और वर्ग ३ कहे हैं। शेष विषय वर्णन एक सा है।

(१) उपासक दशा, (२) अंतगड़ दशा, (३) अणुत्तरोपपातिक दशा, (४) प्रश्न व्याकरण, (५) विपाक सूत्र के अध्ययनों की संख्या

और नाम ठाणांग सूत्र के दसवें ठाणे में दिये गये हैं। नंदी और समवायांग के द्वादशांगी सूत्र परिचय में किसी भी सूत्र के अध्ययनों के नाम नहीं दिये गये हैं। वर्तमान में उपलब्ध इन आगमों के अध्ययनों में और ठाणांग सूचित अध्ययनों के नामों में विभिन्नता है।

उक्त पाँच ही सूत्रों की अध्ययन संख्या ठाणांग में १०-१० ही कही है। समवायांग में उक्त चार सूत्रों के १०-१० अध्ययन कहे हैं किन्तु प्रश्नव्याकरण के **४५ अध्ययन** कहे हैं। नंदी में उक्त पाँच में अंतगड़ और अणुत्तरोपपातिक की अध्ययन संख्या नहीं कही है। प्रश्न-व्याकरण के ४५ अध्ययन कहे हैं। केवल विपाक और उपासक दशा के ही दस अध्ययन कहे हैं। वर्तमान में उपलब्ध अंतगड़ में कुल ९० अध्ययन है। अणुत्तरोपपातिक में कुल ३३ अध्ययन है, शेष तीनों में दस दस अध्ययन है।

उपासकदशा और विपाक इन दो सूत्रों के अध्ययन संख्या में विभिन्नता नहीं है किन्तु विपाक के नामों में विभिन्नता है। प्रश्नव्याकरण के अध्ययनों की संख्या १० उपलब्ध है किन्तु वे दसों ही भिन्न है। अणुत्तरोपपातिक के १० नामों में भी भिन्नता है। इन विभिन्नता के कारणों की कई प्रकार से कल्पना-विचारणा की जाती है। आगमों में कोई भी कारण का संकेत नहीं है।

सार- उक्त पाँच सूत्रों में उपासक दशा पूर्ण निर्दोष और एक मत है। अंतगड़, अणुत्तरोपपातिक और प्रश्न व्याकरण ये तीन सूत्र उपलब्ध कुछ और है एवं परिचय या अध्ययनों के नाम उससे अलग ही है। विपाक भी निर्दोष एकमत है किन्तु कुछ अध्ययन के नामों में कुछ-कुछ अंतर है जिसका अपेक्षा से समाधान शक्य है।

इससे फलित यह है कि तीन अंग आगमों का पूर्णतः परिवर्तित रूप उपलब्ध है एवं विपाक सूत्र के कुछ अध्ययनों में परिवर्तन दिखता है। शेष सात अंग सूत्रों की किसी भी प्रकार की विभिन्नता इन परिचय सूत्रों में चर्चित नहीं है।

आचारांग सूत्र के पिछले दो अध्ययन भावना और विमुक्ति नंदी की आगम सूचि में कहे **'बंधदशासूत्र'** के सातवें, आठवें अध्ययन है, ऐसा ठाणांग सूत्र से ज्ञात होता है। निशीथ अध्ययन को आचारांग

से अलग करने पर वह परिवर्तन हुआ है और अध्ययन संख्या की पूर्ति की गई है।

आगमों में इन परिवर्तनों के संबंध में कोई संकेत नहीं होने से किसी भी परिवर्तन के लिए आगम आधार से तटस्थ चिंतन किया है किन्तु निर्णित निश्चित कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। विद्वान एवं मनीषी पाठकों को जिस पर अनाग्रह समीक्षा का पूर्ण अधिकार रहता है ।

निबंध-६१

भगवान महावीर का शरीर सौष्ठव

उववाई सूत्र में ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए भगवान के चंपानगरी में पधारने का वर्णन है। उसी प्रसंग से भगवान के णमोत्थुणं वर्णित गुणों का तथा अन्य भी अनेक गुणों का एवं शरीर शौष्ठव का वर्णन मस्तक के बालों से प्रारंभ करके पाँव के नखों तक क्रमशः समस्त अंगोपांगो का स्पष्ट वर्णन किया गया है। वह इस प्रकार है-

श्रमण भगवान महावीर स्वामी धर्म की आदि करने वाले, स्वयं संबुद्ध तीर्थंकर थे, पुरुषोत्तम आदि णमोत्थुणं पठित गुणों से युक्त थे । अरहा-पूज्यनीय, रागादि विजेता, केवलज्ञान युक्त, सात हाथ की ऊँचाई से युक्त, समचौरस संस्थान एवं वज्र-ऋषभनाराच संहनन से युक्त, शरीर के अंतर्वर्ती पवन के उचित वेग से युक्त, निर्दोष गुदाशय युक्त, कबूतर के समान पाचन शक्ति वाले थे। पेट और पीठ के नीचे के दोनो पार्श्व तथा जंघाएँ सुंदर सुगठित थी। उनका मुख कमल सुरभिमय निश्वास से युक्त था। उत्तम त्वचा से युक्त, निरोग प्रशस्त श्वेत मांस युक्त, जल्ल, मल एवं दाग आदि से वर्जित शरीर था। अतएव निरुपलेप, स्वच्छ, दीप्ति से उद्योतित प्रत्येक अंगोपांग थे।

शरीर का क्रमिक वर्णन :-उत्तम लक्षणमय उन्नत मस्तक था। मुलायम काले चमकीले घुंघराले घने **मस्तक** पर केश थे। छत्राकार मस्तक का शिखर, फोड़े फुँसी घाव के चिन्हों से रहित, अर्द्ध चन्द्र सम **ललाट**, पूर्ण चन्द्र सम **मुख**, सुहावने **कान**, पुष्ट कपोल, कुछ खींचे हुए धनुष के समान सुंदर टेढ़ी **भौंहे**, पुंड़रीक कमल के समान सफेद **नयन**,

पद्मकमल के समान विकसित **आँखे**, गरूड़ की चोंच की तरह लंबी सीधी उन्नत **नासिका**, बिम्बफल के सदृश **ओठ** एवं **दांतों** की श्रेणी गाय के दूध जैसी सफेद थी। दात अखंड़ परिपूर्ण सुंदराकार थे। **जिह्वा** और **ताल** तप्त स्वर्ण सम लाल थे। **दाढ़ी मूँछ के बाल** अवस्थित (मर्यादित) रहते थे। **ठुड्डी** मांसल सुगठित थी। **गर्दन** चार अंगुल चौड़ी उत्तम शंख के समान त्रिवली युक्त थी। उत्तम हाथी सम कंधे, गोल लंबी **भुजाए**, ठोस **स्नायु**, नागराज के समान विस्तीर्ण दीर्घ **बाहु**, ललाई युक्त **हथेलियाँ**, उन्नत कोमल सुगठित **हाथ**, निश्छिद्र **अंगुलियाँ** थी। उनकी हथेली में चन्द्र, सूर्य, चक्र, दक्षिणावर्त, स्वस्तिक आदि की संसूचक शुभ **रेखाएँ** थी। उनका **वक्षस्थल-सीना** स्वर्ण शिला के तल के समान स्वच्छ प्रशस्त, समतल विशाल था एवं स्वस्तिक चिन्ह युक्त था, मांसलता के कारण **रीड़ की हड्डी** दिखाई नहीं देती थी। **शरीर** स्वर्ण के समान दीप्त, सुंदर, रोग रहित, सुनिष्पन्न एवं **उत्तम पुरुष के १००८** लक्षण युक्त था। **पसवाड़े** नीचे की तरफ क्रमशः संकड़े थे। **छाती** एवं **पेट** पर रोम राजी थी। उदर के नीचे के दोनों पार्श्व सुनिष्पन्न थे। मत्स्य जैसा **उदर** था। उनकी **नाभि** गोल, सुंदर एवं विकसित थी। उत्तम सिंह की कमर के समान गोल घेराव लिए उनकी **कमर** थी। उत्तम घोड़े के सुनिष्पन्न गुप्तांग की तरह **गुह्य भाग** था। उनका **शरीर** मलमूत्र विसर्जन की अपेक्षा से **निर्लेप** था। हाथी की सूँढ़ की तरह गठित **जंघाएँ** थी। **घुटने** अति सुंदर ड़िब्बे के ढ़कने के समान थे। हिरणी की पिंड़लियों के समान उतार सहित गोल **पिंड़लियाँ** थी। उनके **पाँव के टखने** सुंदर सुगठित निगूढ़ थे। **पाँव** मनोज्ञ बने हुए थे। **पैरों की अंगुलियां** क्रमशः आनुपातिक रूप में सुन्दर थी। **नख** तांबे के समान लाल थे। **पगथलियाँ** लाल कमल के पत्ते के समान सुकुमाल कोमल थी। उसमें **रेखाओं** से पर्वत, नगर, मगर, सागर तथा चंद्र रूप उत्तम चिन्ह एवं स्वस्तिक आदि मंगल चिन्ह अंकित थे। उनका **रूप** असाधारण था, उनका **तेज** निर्धूम अग्नि के समान था। वे प्राणातिपात आदि **आश्रव** रहित, ममता रहित, अकिंचन थे। **निरुपलेप**-कर्मबंध से रहित थे। निर्ग्रंथ प्रवचन के **उपदेष्टा**, धर्मशासन के **नायक**, **चौतीस अतिशयों**, **पेंतीस सत्यवचनातिशयों** से युक्त थे। आकाशगत **चक्र**, **छत्र**, **चँवर**,

स्वच्छ स्फटिक से बने **पादपीठ** युक्त **सिंहासन** और **धर्म ध्वज**, ये उनक आगे चल रहे थे ।इस प्रकार वे श्रमण भगवान महावीर १४००० साधु, ३६००० साध्वियों के परिवार से युक्त आगे से आगे चलते हुए सुखशांति पूर्वक एक गाँव से दूसरे गाँव विहार करते हुए चंपानगर के बाहरी उपनगर में पहुँचे ।

निबंध-६२

संख्यात असंख्यात अनंत की भेद युक्त व्याख्या

श्री अनुयोगद्वार सूत्र में इनका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है-

गणणा संख्या- इसके तीन भेद है- १. संख्यात, २. असंख्यात, ३. अनंत । संख्यात के तीन भेद है- १. जघन्य, २. मध्यम, ३. उत्कृष्ट ।

असंख्यात के ९ भेद है- (१-३) जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट परित्त असंख्यात (४-६) जघन्य मध्यम उत्कृष्ट-युक्तअसंख्यात (७-९) जघन्य मध्यम उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात ।

अनंत के आठ भेद-(१-३) जघन्य मध्यम उत्कृष्ट परित्तानंत (४-६) जघन्य मध्यम उत्कृष्ट युक्तानंत (७-८) जघन्य और मध्यम अनंतानंत।

संख्याता- जघन्य संख्याता दो का अंक है। मध्य में सभी संख्याएँ है अर्थात् शीर्ष प्रहेलिका तक तो है ही, आगे भी असत्कल्पना से उपमा द्वारा बताई जाने वाली समस्त संख्या भी मध्यम संख्यात है। अर्थात् जब तक उत्कृष्ट संख्यात की संख्या न आवे वहाँ तक सब मध्यम संख्यात है। उत्कृष्ट संख्यात को उपमा द्वारा समझाया गया है, वह इस प्रकार है-

उत्कृष्ट संख्याता- उत्कृष्ट संख्याता को उपमा द्वारा समझाने के लिये चार पल्य की कल्पना की गई है। यथा- १. अनवस्थित पल्य २. शलाका पल्य ३. प्रतिशलाका पल्य ४. महाशलाका पल्य। चारों पल्य की लम्बाई चौड़ाई जम्बूद्वीप प्रमाण होती है। ऊँचाई १००८-१/२ योजन (एक हजार साढ़े आठ योजन)होती है । तीन पल्य माप में स्थित रहते हैं। प्रथम अनवस्थित पल्य की लम्बाई चौड़ाई बदलती है, ऊँचाई वही रहती है ।

शलाका पल्य भरना– मान लो सरसों के दानों का एक महा ढेर है उसमें से अनवस्थित पल्य में सरसों के दाने सिखा पर्यन्त भर कर असत्कल्पना से कोई देव पल्य को उठाकर चले और एक एक दाना एक–एक द्वीप समुद्र में ड़ालें। जहाँ अनवस्थित पल्य खाली हो जावे, उस द्वीप समुद्र जितना लम्बा चौड़ा अनवस्थित पल्य बनाया जाय और उसे भरकर फिर वहाँ से आगे के द्वीप समुद्रों में एक–एक सरसों का दाना ड़ालें जहाँ वह पल्य खाली हो जाय, वहाँ उस द्वीप समुद्र जितना लम्बा चौड़ा अनवस्थित पल्य को बना लेना। प्रत्येक अनवस्थित पल्य खाली होने की साक्षी रूप एक दाना सरसों के ढेर में से 'शलाका पल्य' में ड़ालना। इसी क्रम से अनवस्थित पल्य बनाते रहना और आगे आगे के द्वीप समुद्रों में एक–एक दाना ड़ालते रहना। अनवस्थित पल्य खाली होवे ज्यों ही एक दाना 'शलाका पल्य' में ड़ालते रहना।

प्रतिशलाका पल्य भरना– यों साक्षी रूप एक–एक दाना डालते डालते जहाँ शलाका पल्य पूरा भर जाय वहाँ अनवस्थित पल्य अंतिम द्वीप समुद्र जितना लम्बा चौड़ा बनाकर सरसों के दानों से भर कर रख देना। फिर भरे हुए शलाका पल्य को उठाकर आगे के द्वीप समुद्रों में एक–एक दाना ड़ाल कर खाली करना और अन्त में साक्षी रूप एक दाना ढेर मे से प्रतिशलाका पल्य में ड़ालना। 'शलाका पल्य' को खाली करके रख देना। अब पुनः उस भरे हुए अनवस्थित पल्य को उठाना और आगे के नये द्वीप समुद्र से दाना ड़ालना प्रारंभ करना। खाली होने पर एक दाना 'शलाका पल्य' में ड़ालना फिर उस द्वीप समुद्र जितना बड़ा अनवस्थित पल्य बनाना, भरना और खाली करना और एक दाना 'शलाका पल्य' में ड़ालना। यों करते–करते जब शलाका पल्य भर जाएगा तब उसे भी अगले द्वीप समुद्रों में एक–एक दाना ड़ाल कर खाली करना और साक्षी रूप एक दाना फिर 'प्रति शलाका पल्य' में ड़ालना। इसी विधि से करते हुए एक समय 'प्रतिशलाका पल्य' भी भर जाएगा।

महाशलाका पल्य भरना– संपूर्ण भरे उस 'प्रतिशलाका पल्य' को उठाकर आगे के द्वीप समुद्रों में एक–एक दाना ड़ालना और खाली होने पर उसे खाली रख देना एक दाना उसके साक्षी रुप 'महाशलाका

पल्य' में ड़ाल देना। इस विधि वे अनवस्थित पल्य से शलाका पल्य भरना, शलाका पल्य से प्रतिशलाका पल्य भरना, फिर उसे खाली करके एक दाना 'महाशलाका पल्य' में ड़ालना। यों करते-करते एक समय 'महाशलाका पल्य' भी भर जाएगा। फिर क्रमशः यों करते करते प्रतिशलाका और शलाका पल्य भी अर्थात् तीनों अवस्थित पल्य पूर्ण भर जाय वहाँ उस द्वीप समुद्र जितना अनवस्थित पल्य को बना कर सरसों के दाने से भर लेना। इस तरह अब चारों पल्य भरे है। चारों पल्य में भरे हुए दानों को और अभी तक द्वीप समुद्रों में ड़ाले गये सारे दानों को गिनने से जो संख्या बनती है उसमें से एक कम करने पर जो संख्या आती है उसे ही उत्कृष्ट संख्याता समझना चाहिए।

उत्कृष्ट संख्याता का परिमाण संपूर्ण हुआ। प्रचलित भाषा से यह 'ड़ाला-पाला का अधिकार' पूर्ण हुआ। ***(उत्कृष्ट संख्याता को समझने के लिये द्वीप समुद्रों में सरसों के दाने डालने रूप डालापाला का वर्णन किया गया है। द्वीपसमुद्र तो असंख्य है और असंख्य में भी मध्यम असंख्याता ढाई उद्धार सागरोपम के समय जितने है अर्थात् इस उत्कृष्ट संख्याता से द्वीपसमुद्रों की संख्या का कोई संबंध नहीं है क्यों कि वे तो उत्कृष्ट संख्याता से असंख्यगुणे हैं।)***

असंख्याता का प्रमाण- (१) जघन्य परित्ता असंख्याता=उत्कृष्ट संख्याता से एक अधिक।

(२) मध्यम परित्ता असंख्याता=जघन्य परित्ता असंख्याता एवं उत्कृष्ट परित्ता असंख्याता के बीच की सभी संख्या।

(३) उत्कृष्ट परित्ता असंख्याता=जघन्य परित्ता असंख्यात की संख्या को उसी संख्या से और उतने ही बार गुणा करने पर जो संख्या आवे उसमें एक कम करने पर उत्कृष्ट परित्ता असंख्यात होता है। यथा- पाँच को पाँच से पाँच बार गुणा करके एक घटाने से ३१२४ संख्या आती है। (५ × ५ × ५ × ५ × ५=३१२५-१=३१२४)।

(४) जघन्य युक्ता असंख्याता=उत्कृष्ट परित्ता असंख्याता में एक जोड़ने पर।

(५) मध्यम युक्ता असंख्याता=जघन्य और उत्कृष्ट युक्ता असंख्याता के बीच की सभी संख्या।

(६) उत्कृष्ट युक्ता असंख्याता=जघन्य युक्ता असंख्याता की संख्या को, उसी संख्या से, उतनी बार गुणा करके एक घटाने पर जो राशि आवे, वह उत्कृष्ट युक्ता असंख्यात है।

(७) जघन्य असंख्याता असंख्यात=उत्कृष्ट युक्ता असंख्यात में एक जोड़ने पर ।

(८) मध्यम असंख्याता असंख्यात=जघन्य और उत्कृष्ट असंख्याता असंख्यात के बीच की सभी संख्या।

(९) उत्कृष्ट असंख्याता असंख्यात=जघन्य असंख्याता असंख्यात की संख्या को उसी संख्या से उतनी ही बार गुणा करके एक घटाने पर जो राशि आवे वह उत्कृष्ट असंख्याता असंख्यात है ।

अनंत का प्रमाण– १. जघन्य परित्ता अनंत– उत्कृष्ट असंख्याता असंख्यात से एक अधिक। इस प्रकार असंख्यात के ९ भेद जो ऊपर बताए गये हैं उसी के अनुसार अनंत के भी आठ भेद समझ लेने चाहिए । उनके नाम २. मध्यम परित्ता अनंत ३. उत्कृष्ट परित्ता अनंत ४. जघन्य युक्ता अनंत ५. मध्यम युक्ता अनंत ६. उत्कृष्ट युक्ता अनंत ७. जघन्य अनंता अनंत ८. मध्यम अनंता अनंत ।अनंत का नौवाँ भेद नहीं होता है अर्थात् लोक की अधिकतम द्रव्य, गुण या पर्याय की समस्त संख्या आठवें अनंत में ही समाविष्ट हो जाती है। अतः नौवें भेद की आवश्यकता भी नहीं है ।

निबंध–६३

पल्योपम का भेद-प्रभेद युक्त विश्लेषण

काल प्रमाण– काल की जघन्य इकाई 'समय' यह अति सूक्ष्म एवं अविभाज्य है। आँख के पलक पड़ने जितने समय में भी असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं। ऐसे असंख्य समयों की एक आवलिका होती है। संख्याता आवलिका का एक श्वासोश्वास होता है। वृद्धावस्था एवं व्याधिरहित स्वस्थ पुरुष का श्वासोश्वास यहाँ प्रमाणभूत माना गया है। श्वासोश्वास को 'प्राण' कहा गया है।

७ प्राण=एक स्तोक। सात स्तोक=एक लव। ७७ लव=एक मुहूर्त । १ मुहूर्त=३७७३ श्वासोश्वास=प्राण होते हैं। १ मुहूर्त=

१,६७,७७,२१६ आवलिका। १ प्राण=४४४६ साधिक आवलिका। १ सेकंड़=५८२५-१९/४५ आवलिका। १ प्राण=२८८०/३७७३ सेकंड़ होते हैं अर्थात् एक सेकंड से कम । १ मुहूर्त=२८८० सेकंड़ ।१ मुहूर्त=४८ मिनिट। एक मिनिट=६० सैकंड़ ।३० मुहूर्त=एक दिन। ८४ लाख वर्ष=एक पूर्वांग ।

८४ लाख पूर्वांग=एक पूर्व। आगे की प्रत्येक काल संज्ञा एक दूसरे से ८४ लाख गुणी होती है। अंत में शीर्ष प्रहेलिकांग से शीर्ष प्रहेलिका ८४ लाख गुणी होती है। इतनी संख्या तक गणित का विषय माना गया है। इसके आगे की संख्या उपमा द्वारा कही जाती है। उत्कृष्ट संख्याता की संख्या उपमा द्वारा पूर्ण होती है। उस उत्कृष्ट संख्याता में एक अधिक होते ही जघन्य असंख्याता होता है।

उपमा द्वारा काल गणना प्रमाण- पल्योपम और सागरोपम रूप दो प्रकार की उपमा से काल गणना की जाती है। पल्योपम के गणना की उपमा समझ लेने के बाद सागरोपम की गणना सहज समझ में आ जाती है। क्यों कि किसी भी प्रकार के पल्योपम से उसका सागरोपम दस क्रोड़ाक्रोड़ गुना होता है। अतः सर्व प्रथम केवल पल्योपम का वर्णन भेद-प्रभेद के विस्तार से किया जाता है।

उपमा गणना का पल्योपम तीन प्रकार का होता है। १.उद्धार पल्योपम २.अद्धा पल्योपम ३.क्षेत्र पल्योपम। इन तीनों के पुनः सूक्ष्म और व्यवहार(बादर) दो-दो भेद होते हैं। **उद्धार पल्योपम** की उपमा में बालाग्र एक एक समय में निकाले जाते हैं **अद्धा पल्योपम** की उपमा में बालाग्र १०० वर्ष से निकाले जाते हैं और **क्षेत्र पल्योपम** में बालाग्रों के आकाश प्रदेश का हिसाब होता है अर्थात् गिनती की जाती है ।

(१)**'उद्धार बादर पल्योपम'** में एक दिन से सात दिन के युगलियों के बाल अंखड़ भरे जाते और निकाले जाते हैं जबकि 'सूक्ष्म' में उस एक एक बाल के असंख्य खंड़ करके भरे जाते हैं और **बालखंड** निकाले जाते हैं। सूक्ष्म पनक जीवों की अवगाहना से असंख्यगुणे बडे और निर्मल आँखों से जो छोटी से छोटी वस्तु देखी जा सकती है उससे असंख्यातवाँ भाग हो, ऐसे असंख्य खंड़ बालाग्र के समझने चाहिए। (२) ऐसा ही अंतर **बादर 'अद्धा पल्योपम'** और सूक्ष्म अद्धा पल्योपम

में समझ लेना चाहिए। (३) बादर 'क्षेत्र पल्योपम' में अखंड़ बालाग्रों के अवगाहन किए आकाश प्रदेशों का हिसाब होता है और सूक्ष्म में असंख्य खंड़ किए गये बालाग्रों के अवगाढ(अवगाहन किए) और अनवगाढ़ दोनों प्रकार के अर्थात् पल्य क्षेत्र के समस्त आकाश प्रदेश गिने जाते हैं ।

तीनों प्रकार के बादर(व्यवहार) पल्योपम केवल सूक्ष्म को समझने मात्र के लिए है और लोक में उसका कोई उपयोग नहीं होता है । (१) सूक्ष्म उद्धार पल्योपम से द्वीप समुद्रों का माप होता हैं अर्थात् ढ़ाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम के जितने समय होते हैं उतने ही लोक में द्वीप समुद्र हैं। (२) सूक्ष्म अद्धा पल्योपम, सागरोपम से चारों गति के जीवों की उम्र का कथन किया जाता है। (३) सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम से दृष्टिवाद अंग सूत्र में वर्णित द्रव्यों का माप किया जाता है ।

पल्य की उपमा– लम्बाई चोड़ाई ऊँचाई इन तीनों में समान, धान्य आदि मापने का एक पात्र होता है उसे पल्य कहा जाता है । यहाँ स्वीकार किए जाने वाले विशाल पात्र को भी तीनों क्री समानता के कारण पल्य कहा गया है ।

स्पष्टीकरण :–उत्सेधांगुल से एक योजन लम्बा, चौड़ा गहरा गोलाकार पल्य हो जिसकी साधिक तीन योजन की परिधि हो। उसमें उत्कृष्ट सात दिन के नवजात शिशुओं के बाल ठूंस ठूंस कर–खचाखच सघन ऐसे भर दिये जाय कि रंच मात्र भी रिक्त स्थान (स्थूल दृष्टि की अपेक्षा) न रहने पावे। ऐसे भरे उन बालों को समय समय में या सौ–सौ वर्षो में इत्यादि उपरोक्त भिन्न–भिन्न प्रकारों से निकाला जाता है और जितने समय में वह पल्य खाली होता है उतना समय पल्योपम कहलाता है । वह पल्योपम तीनों तरह से भरा जाने से तीन प्रकार का उपर कहे अनुसार उद्धार, अद्धा एवं क्षेत्र पल्योपम रूप होता है । इन प्रत्येक पल्योपम का सागरोपम उससे १० क्रोडाक्रोड गुणा होता है अर्थात् १० क्रोडाक्रोड पल्योपम=१ सागरोपम। इस प्रकार तीनों प्रकार के सागरोपम को अपने अपने माप में १० क्रोडाक्रोडा गुणा समझ लेना ।

एक विशेष बात यह ध्यान रखने की है कि इन बालाग्रों से

ठूँस-ठूँस कर भरे पल्यों में भी बालाग्रों के बीच में आकाश प्रदेश कुछ खाली रह जाते हैं । उसे एक दृष्टांत द्वारा समझना चाहिए। यथा- एक बड़े प्रकोष्ठ में कुष्मांड़ फल(कोल्हा फल) खचाखच भर दिए। फिर इसे हिला हिला कर उसमें बिजोरा फल भर दिए, फिर हिलाहिला कर बिल्व फल, यों क्रमशः छोटे फल आंवला, बोर, चणा, मूंग, सरसों भरे गये तो वे भी उसमें कुछ कुछ मात्रा में समा गये। उसके बाद भी जगह खाली रह जाती है। फिर भी उसमें हिला हिला कर कुछ बालू रेत भरी जाय तो उसका भी समावेश हो जायेगा, उसके बाद उसमें कुछ पानी भरा जाय तो उसका भी समावेश हो जायेगा। **दूसरा दृष्टांत**- सघन सागौन की लकड़ी पूर्ण ठोस है, हमें उसमें कहीं पोल नहीं दिखती है, फिर भी बारीक कील उसमें लगाई जाय तो उसको जगह मिल जाती है। इस प्रकार जैसे इनमें सघन दिखते हुए भी आकाश प्रदेश अनवगाढ़ रहते हैं, तभी अन्य वस्तु को जगह मिलती है वैसे ही एक योजन के उस पल्य में बालों से अनवगाढ़ आकाश प्रदेश रह जाते हैं । यह बात सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के वर्णन से फलित होती है ।

निबंध-६४

सात स्वरों का ज्ञान

अनुयोगद्वार सूत्र में सात स्वरों का वर्णन इस प्रकार है-

१-षड्ज स्वर- कंठ, वक्षस्थल, तालु, जीव्हा, दंत, नासिका इन छः स्थानों के संयोग से यह स्वर उत्पन्न होता है, जीव्हाग्र से उच्चारित होता है। यथा- मयूर का शब्द, मृदंग का शब्द। इस स्वर वाला मनुष्य आजीविका; पुत्र, मित्र आदि से संपन्न सुखी होता है । **२-वृषभ स्वर**- बैल की गर्जना के समान यह स्वर वक्षस्थल से उच्चारित होता है। यथा-कुकड़े का स्वर, गोमुखी वादिंत्र का स्वर। इस स्वर वाला मनुष्य ऐश्वर्यशाली होता है। सेनापतित्व एवं धनधान्य आदि भोग सामग्री को प्राप्त करता है। **३-गांधार स्वर**- यह कंठ से उच्चारित होता है। यथा-हंस का स्वर, शंख की आवाज। इस स्वर वाला मनुष्य-श्रेष्ठ आजीविका प्राप्त करता है। कलाकोविद होता है।

कवि बुद्धिमान एवं अनेक शास्त्रों में पारंगत होता है। **४-मध्यम स्वर**- उच्चनाद रूप होता है। जीव्हा के मध्य भाग से उच्चारित होता है। यथा- भेड़ का स्वर, झालर का स्वर। इस स्वर वाले सुखैषी सुख जीवी होते हैं, मनोज्ञ खाते पीते एवं अन्यों को खिलाते- पिलाते दान करते हैं। **५-पंचम स्वर**- नाभि, वक्षस्थल, हृदय, कंठ और मस्तक इन पाँच स्थानों के संयोग से एवं नासिका से उच्चारित होता है यथा- बसंत ऋतु में कोयल का शब्द, गोधिका वादिंत्र का स्वर। इस स्वर वाला राजा, शूरवीर, संग्राहक और अनेक मनुष्यों का नायक होता है। **६-धैवतस्वर**- पूर्वोक्त सभी स्वरों का अनुसंधान(अनुसरण) करने वाला यह स्वर दंत ओष्ठ के संयोग से उच्चारित होता है। यथा- क्रौंच पक्षी का स्वर, नगाड़ा की आवाज। इस स्वर वाला मनुष्य कलह प्रिय एवं हिंसक, निर्दयी होता है। **७-निषाद स्वर**- यह सभी स्वरों का पराभव करने वाला है। भृकुटि ताने हुए शिर से इसका उच्चारण होता है। यथा- हाथी की आवाज, महा भेरी की आवाज। इस स्वर वाला मनुष्य चांड़ाल, गोघातक, मुक्केबाज, चोर एवं ऐसे ही बड़े पाप करन वाला होता है। ये सात स्वर पूर्ण हुए।

निबंध-६५

तीन प्रकार के अंगुल एवं उत्सेधांगुल का ज्ञान

अनुयोगद्वार सूत्र में उपक्रमद्वार के तीसरे प्रमाण उपक्रम के द्रव्य, क्षेत्र आदि ४ भेद है। उसके दूसरे क्षेत्रप्रमाण में अंगुल आदि माप का कथन है।

क्षेत्र प्रमाण :- इसकी जघन्य इकाई 'अंगुल' है। अंगुल तीन प्रकार के होते हैं यथा-**१. आत्मांगुल**- जिस काल में जो मनुष्य होते हैं, उनमें जो प्रमाण युक्त पुरूष होते हैं, उनके अंगुल को आत्मांगुल कहा जाता है। प्रमाण युक्त पुरूष वह होता है जो अपने अंगुल से १०८ एक सौ आठ अंगुल अथवा ९ मुख प्रमाण होता है। एक द्रोण जितना जिनके शरीर का आयतन होता है और अर्द्ध भार प्रमाण जिनका वजन होता है। द्रौण और अर्द्धभार में करीब ६४ सेर का परिमाण होता है।

२. उत्सेधांगुल :- ८ बालाग्र=एक लीख। आठ लीख=एक जूँ।

आठ जूँ= एक जौ मध्य। आठ जौ मध्य=एक उत्सेधांगुल अर्थात्–८ × ८ × ८×८=४०९६ बाल(केश) का गोल भारा बनाने पर उसका जितना विस्तार (चोड़ाई–व्यास) होता है, उसे एक उत्सेधांगुल कहते हैं। यह अंगुल आधा इंच के करीब होता है ऐसा अनुमान किया जाता है । जिससे १२ इंच =२४अंगुल = १हाथ = १ फुट होता है ।

३. प्रमाणांगुल :– चक्रवर्ती के कांकणी रत्न के ६ तले और १२ किनारे होते हैं उसके प्रत्येक किनारे एक उत्सेधांगुल प्रमाण होते हैं। उत्सेधांगुल से हजार गुणा प्रमाणांगुल होता है। श्रमण भगवान महावीर का अंगुल उत्सेधांगुल से दुगुना होता है अर्थात् ८१९२ बाल (केश) का गोल भारा बनाने पर जितना विस्तार हो उतना भगवान महावीर स्वामी का अंगुल होता है। एवं ४०९६००० बाल के गोल बनाये गये भारे का जितना विस्तार होता है उतना एक प्रमाणांगुल अर्थात् अवसर्पिणी के प्रथम चक्रवर्ती का अंगुल होता है।

योजन का माप :–– १२ अंगुल=एक बिहस्ती(बेंत)। दो बेंत=हाथ। चार हाथ=धनुष। दो हजार धनुष=एक कोस। चार कोस=एक योजन। यह माप तीनों प्रकार के अंगुल में समझना चाहिए। इस प्रकार योजन पर्यंत सभी माप तीन तीन प्रकार के होते हैं। इसमें आत्मांगुल से उस काल के क्षेत्र ग्राम नगर घर आदि का माप किया जाता है। उत्सेधांगुल से चारों गति के जीवों की अवगाहना का माप कहा जाता है। प्रमाणांगुल से शास्वत पदार्थो का अर्थात् द्वीप, समुद्र, पृथ्वीपिंड, विमान, पर्वत, कूट आदि की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई कही जाती है।

अपेक्षा से लोक में तीन प्रकर के रूपी पदार्थ है (१) मनुष्य कृत ग्राम नगर मकानादि (२) कर्म कृत–शरीर आदि (३) शाश्वत स्थान। इन तीनों का माप करने के लिए ये उपरोक्त तीन प्रकार के अंगुल से लेकर योजन पर्यंत के मापों का उपयोग होता है ।

परमाणु से अंगुल का माप :– सूक्ष्म परमाणु और व्यवहारिक परमाणु के भेद से परमाणु दो तरह के हैं। सूक्ष्म परमाणु अवर्ण्य है, वह अति सूक्ष्म अविभाज्य पुद्‌गल का अंतिम एक प्रदेश होता है । उसका आदि मध्य अंत वह स्वयं ही है। ऐसे अनंतानंत परमाणु का एक व्यवहारिक परमाणु होता है। वह भी इतना सूक्ष्म होता है कि तलवार

आदि से अविच्छेद्य होता है, अग्नि उसे जला नहीं सकती, हवा उसे उड़ा नहीं सकती है। ऐसे अनंत व्यवहारिक परमाणु से माप की गणना इस प्रकार होती है–

अनंत व्यवहार परमाणु	= १ उत्‌श्लक्षण–श्लक्षणिका होती है।
८ उत्‌श्लक्षणश्लक्षणिका	= १ श्लक्षणश्लक्षणिका
८ श्लक्षणश्लक्षणिका	= १ ऊर्ध्व रेणु
८ ऊर्ध्व रेणु	= १ त्रस रेणु
८ त्रस रेणु	= १ रथ रेणु
८ रथ रेणु	= १ बाल (देवकुरू मनुष्य का)
८ बाल (देवकुरु)	= १ बाल (हरिवर्ष मनुष्य का)
८ बाल (हरिवर्ष)	= १ बाल (हेमवत मनुष्य का)
८ बाल (हेमवत)	= १ बाल(महाविदेह क्षेत्र के मनुष्य का)
८ बाल (महाविदेह)	= १ बाल (भरत क्षेत्र के मनुष्य का)
८ बाल	= १ लीख
८ लीख	= १ जूँ
८ जूँ	= १ जौ मध्य
८ जौ मध्य	= १ उत्सेधांगुल

उत्सेधांगुल के १२ अंगुल=१ बेंत, २ बेंत=हाथ, २ हाथ=१ कुक्षी, २ कुक्षी=१धनुष।

परंपरा से पाँचवे आरे के आधा बीतने पर जो प्रमाणोपेत मनुष्य होंगे उनके अंगुल माप को उत्सेधांगुल कहा जाता है। आत्मांगुल प्रत्येक जमाने में अलग अलग माप वाला होता है। प्रमाणांगुल, भरत चक्रवर्ती के अंगुल प्रमाण होता है।

निबंध–६६

चार निक्षेपों का रहस्य एवं व्यवहार

चार निक्षेपों का वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र में है उनका परिशीलन इस प्रकार है– निक्षेपद्वार में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार द्वारों से वस्तु का कथन किया जाता है। फिर भी नाम स्थापना केवल

ज्ञेय है, उससे वस्तु की पूर्ति नहीं होती है। तीसरे द्रव्य निक्षेप में उस वस्तु का कुछ अंश अस्तित्व में होता है किन्तु उससे भी उस वस्तु की पूर्ण प्रयोजनसिद्धि नहीं होती है। भावनिक्षेप में कहा गया पदार्थ वास्तव में परिपूर्ण अस्तित्व वाला होता है, उसी से उस पदार्थ संबंधी प्रयोजन की सिद्धि होती है। यथा- (१) किसी का नाम घेवर या रोटी रख दिया है तो उससे क्षुधा पूर्ति आदि नहीं होती (२) किसी वस्तु में घेवर या रोटी जैसा आकार कल्पित कर उसे "यह घेवर है" या "यह रोटी है" ऐसी कल्पना-स्थापना कर दी तो भी क्षुधा शांति आदि उससे भी संभव नहीं है। (३) जो रोटी या घेवर बनने वाला गेहुँ का आटा या मैदा पड़ा है अथवा जो एक रोटी या घेवर एक किलो पानी में घोल कर विनष्ट कर दिये गये हैं उस आटे से और पानी के घोल से भी रोटी या घेवर जैसी तृप्ति नहीं हो सकती है (४) शुद्ध परिपूर्ण बनी हुई रोटी, घेवर ही वास्तविक रोटी एवं घेवर है। उसी से क्षुधा शांति एवं तृप्ति संभव है। इसलिये चारों निक्षेप में कहे गये सभी पदार्थ को एक सरीखा करने की नासमझ नहीं करके, भाव निक्षेप का महत्व अलग ही समझना चाहिये एवं द्रव्य निक्षेप का किंचित अंश में महत्व होता है और नाम स्थापना निक्षेप प्रायः आरोपित कल्पित ही होते हैं। उन्हें भाव निक्षेप के तुल्य नहीं करना चाहिये । इससे यह स्पष्ट है कि किसी भी व्यक्ति या महान आत्मा का फोटू, तस्वीर, मूर्ति आदि में उस गुणवान व्यक्ति के योग्य वस्त्राभूषण, स्नान, श्रृंगार, आहार एव सत्कार सम्मान आदि का व्यवहार करना, निक्षेप की अवहेलना एवं दुरूपयोग करना ही समझना चाहिये तथा ऐसा करने की प्रेरणा या प्ररूपण करना भी सूत्र विरुद्ध प्ररूपण करना समझना चाहिये ।

निबंध-६७

सात नयों का स्वरूप एवं दृष्टांत

वस्तु को विभिन्न दृष्टियों से समझने के लिये या उसके तह तक प्रवेश करने के लिये उस वस्तु की नय द्वारा विचारणा की जाती है। अपेक्षा से नय के विविध प्रकार होते हैं अथवा तो जितने वचन

मार्ग होते हैं, जितने आशयों से वस्तु का कथन किया जा सकता है उतने ही नय होते हैं अर्थात् प्रत्येक वस्तु में अनंतधर्म(गुण)रहे हुए होते हैं, उनमें से एक समय में अपेक्षित किसी एक धर्म का कथन किया जाता है। उस एक धर्म के कहने के उस अपेक्षा वचन को "नय" कहते हैं। अतः अनंत धर्मात्मक वस्तुओं की अपेक्षा नयों की संख्या भी अनंत है। फिर भी किसी वस्तु को सुगमता से समझने के लिये उन अनेक भेदों को संग्रहित कर सीमित भेदों में समाविष्ट करके कथन करना भी आवश्यक होता है। अतः उक्त अनेकों भेदों का समावेश करके अनुयोगद्वार सूत्र में सात नयों का कथन किया गया है। इसके अतिरिक्त संक्षिप्त अपेक्षा से नय के दो-दो भेद भी किये जाते हैं। यथा- द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय अथवा निश्चय नय और व्यवहार नय अथवा ज्ञान नय एवं क्रिया नय । अति संक्षेप विधि से उन सात भेदों को इन दो-दो में समाविष्ट करके भी कथन कर दिया जाता है । सूत्रोक्त सात नय इस प्रकार है- १. नैगम नय २. संग्रह नय ३. व्यवहार नय ४. ऋजु सूत्र नय ५. शब्द नय ६. समभिरूढ नय ७. एवंभूत नय ।

नैगमनय-इस नय में वस्तु के सामान्य और विशेष उभयधर्मों का अलग अलग अस्तित्व स्वीकार किया जाता है अर्थात् किसी वस्तु में अंशमात्र भी अपना वाच्य गुण हो तो भी उसे सत्य रूप में स्वीकार किया जाता है। भूत भविष्य वर्तमान काल को भी अलग-अलग स्वीकार किया जाता है अर्थात् जो हो गया है, हो रहा है, होने वाला है उसे भी सत्य रूप में यह नय स्वीकार करता है। न+एक+गम=नैगम-जिसके विचार करने का केवल एक ही प्रकार नहीं है, अनेक प्रकारों से वस्तु के धर्मों का अलग-अलग अस्तित्व स्वीकार करने वाला यह "नय" है। तीर्थंकर आदि महापुरुषों का जो जन्म दिन स्वीकार कर मनाया जाता है, वह भी नैगम नय से ही स्वीकार किया जाता है। यह नय चारों निक्षेपों को स्वीकार करता है ।अर्थात् अपने अपने अलग-अलग महत्व रूप में; न कि सब निक्षेपों को समान रूप में। तात्पर्य यह है कि चारों निक्षेप को अपनी अपेक्षा में सत्य स्वीकारता है। किसी को भी नकारता नहीं है ।

संग्रह नय– इस नय में वस्तु के सामान्य धर्म को स्वीकार किया जाता है। अलग अलग भेदों से वस्तु को भिन्न भिन्न स्वीकार नहीं करके सामान्य धर्म से, जाति वाचक रूप से वस्तु को संग्रह करके, उसे एक वस्तु रूप स्वीकार करके कथन किया जाता है। उनकी विभिन्नताओं एवं विशेषताओं से अलग अलग स्वीकार नहीं करते हुए यह नय कथन करता है। अर्थात् इस नय के कथन में सामान्य धर्म के विवक्षा की प्रमुखता रहती है, विशेष धर्म गौण होता जाता है। यह नय भेद प्रभेदों को गौण करता रहता है और सामान्य सामान्य को ग्रहण करता है। ऐसा करने में यह क्रमशः विशेष को भी ग्रहण तो कर लेता है, किन्तु उस विशेष के साथ जो भेद प्रभेद रूप अन्य विशेष धर्म है, उन्हें गौण करके अपने अपेक्षित विशेष धर्म को सामान्य धर्म रूप में स्वीकार कर उसी में अनेक वस्तुओं को संग्रहित कर लेता है। यथा– घड़ा द्रव्य का कथन करके सभी घड़ों को इसी में स्वीकार कर लेता, फिर भेद-प्रभेदऔर अलग अलग वस्तु को स्वीकार नहीं करता है। चाहे छोटा बड़ा घड़ा हो या उनमें रंगभेद हो अथवा गुणभेद हो और चाहे मूल्य भेद हो और जब बर्तन द्रव्य से वस्तु का बोध करना होगा तो सभी तरह के बर्तनों को एक में समाबिष्ट करके ही कहेगा अलग अलग जाति या अलग-अलग पदार्थों की भिन्नता की अपेक्षा नहीं रखेगा। इस नय वाला विशेष का ग्राहक न होते हुए भी तीन काल की अवस्था को एवं चारों निक्षेपों को स्वीकार करता है ।

व्यवहार नय– व्यवहार में उपयुक्त जो भी वस्तु का विशेष विशेषतर गुणधर्म है, उसे स्वीकार करने वाला यह व्यवहार नय है। यह वस्तु के सामान्य सामान्यतर धर्म की अपेक्षा नहीं रखता है। अपने लक्षित व्यवहारोपयुक्त विशेष धर्म को स्वीकार करने की अपेक्षा रखता है। यह तीन ही काल की बात को एवं चारों निक्षेपों को स्वीकार करता है। संग्रह नय वाला जीवों को जीव शब्द से कहेगा तो यह नय उन्हें नारकी, देवता आदि विशेष भेदों से कहेगा।

ऋजुसूत्र नय– यह नय भूत भविष्य को स्वीकार न करके केवल वर्तमान गुण धर्म को स्वीकार करता है। अर्थात् वर्तमान में जो पदार्थ का स्वरूप, अवस्था या गुण है, उसे यह नय मानेगा और कहेगा, शेष अवस्था की

अपेक्षा नहीं करेगा। यह नय केवल भाव निक्षेप ही स्वीकार करता है।

शब्द नय– काल कारक लिंग वचन संख्या पुरुष उपसर्ग आदि से शब्दों का जो भी अर्थ प्रसिद्ध हो उसे स्वीकार करने वाला नय शब्द नय है। एक पदार्थ को कहने वाले पर्यायवाची शब्दों को एकार्थक एक रूप में स्वीकार कर लेता है अर्थात् शब्दों को व्युत्पत्ति अर्थ से, रूढ़ प्रचलन से और पर्यायवाची रूप में भी स्वीकार करता है ।

समभिरुढ़ नय– पर्यायवाची शब्दों में निरूक्ति भेद से जो भिन्न अर्थ होता है उन्हें अलग अलग स्वीकार करने वाला यह एवंभूत नय है। शब्द नय तो शब्दों की अपेक्षा रखता है अर्थात् सभी शब्दों को और उनके प्रचलन को मानता है, किन्तु यह नय उन शब्दों के अर्थ की अपेक्षा रखता है। पर्याय शब्दों के वाच्यार्थ वाले पदार्थों को भिन्न भिन्न मानता है। यह नय विशेष को स्वीकार करता है। सामान्य को नहीं मानता। वर्तमानकाल को मानता है एवं एक भाव निक्षेप को ही स्वीकार करता है ।

एवंभूत नय– अन्य किसी भी अपेक्षा या शब्द अथवा शब्दार्थ आदि को स्वीकार नहीं करके उस अर्थ में प्रयुक्त अवस्था में ही उस वस्तु को स्वीकार करता है, अन्य अवस्था में उस वस्तु को यह नय स्वीकार नहीं करता है। समभिरूढ़ नय तो अर्थ घटित होने से उस वस्तु को अलग स्वीकार कर लेता है किन्तु यह नय तो अर्थ की जो क्रिया है उसमें वर्तमान वस्तु को ही वह वस्तु स्वीकार करता है अर्थात् क्रियान्वित रूप में ही शब्द और वाच्यार्थ वाली वस्तु को स्वीकार करता है। इस प्रकार यह नय शब्द अर्थ और क्रिया तीनों देखता है। वस्तु का जो नाम और अर्थ है वैसी ही क्रिया एवं परिणाम की धारा हो, वस्तु अपने गुणधर्म में पूर्ण हो और प्रत्यक्ष देखने समझने में आवे, उसे ही वस्तु रूप में स्वीकार करना एवंभूत नय है। एक अंश भी कम हो तो यह नय उसे स्वीकार नहीं करता है। इस प्रकार यह नय सामान्य को नहीं स्वीकारता है विशेष को स्वीकार करता है। वर्तमानकाल को एवं भावनिक्षेप को स्वीकार करता है ।

दृष्टांतों द्वारा सातों नयों के स्वरूप का स्पष्टीकरण :-

नैगम नय– इस नय में वस्तु स्वरूप को समझने में या कहने में उसके

सामान्य धर्म एवं विशेष धर्म दोनों की प्रधानता को स्वीकार किया जाता है। भूत-भविष्य, वर्तमान सभी अवस्था को प्रधानता देकर स्वीकार कर लिया जाता है। वस्तु के विशाल रूप से भी उस वस्तु को स्वीकार किया जाता है एवं वस्तु के अंश से भी उस वस्तु को स्वीकार किया जाता है। इस नय के अपेक्षा स्वरूप को समझने के लिये तीन दृष्टांत दिये जाते हैं, यथा- १. निवास का २. प्रस्थक नाम के काष्ठ पात्र का ३. गाँव का ।

(१) एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से पूछा- आप कहाँ रहते हैं ? तो इसके उत्तर में वह कहें कि मैं लोक में रहता हूँ या तिर्छा लोक में रहता हूँ या जंबूद्वीप, भरतक्षेत्र, हिन्दुस्तान, राजस्थान, जयपुर, चौड़ा रास्ता, लाल भवन, दूसरी मंजिल इत्यादि कोई भी उत्तर दे, नैगम नय उन सभी (अनेकों) अपेक्षाओं को सत्य या प्रमुखता से स्वीकार करता है।

(२) काष्ठपात्र बनाने हेतु लकड़ी काटने जंगल में जाते समय भी किसी के पूछने पर वह व्यक्ति कहे कि प्रस्थक(काष्ठ पात्र)लाने जा रहा हूँ, वृक्ष काटते समय, वापिस आते समय, छीलते समय, सुधारते समय एवं पात्र बनाते समय, इस प्रकार सभी अवस्थाओं में उसका प्रस्थक बनाने का कहना नैगम नय सत्य स्वीकार करता है ।

(३) जयपुर जाने वाला व्यक्ति जयपुर की सीमा में प्रवेश करने पर कहे जयपुर आ गया, नगर के बगीचे आदि आने पर कहे जयपुर आ गया, उपनगर में पहुँचने पर कहे जयपुर आ गया, शहर में पहुँचने पर, चौड़ा रास्ता में पहुँचने पर एवं लाल भवन में बैठने पर साथी से कहे हम जयपुर में बैठे है, इन सभी अवस्थाओं के वाक्य प्रयोगों को नैगम नय बिना किसी संकोच के सत्य स्वीकार कर लेता है ।

यह नैगम नय की अपेक्षा है। इस प्रकार द्रव्य पर्याय सामान्य विशेष और तीनों काल को सत्य स्वीकार करने वाला नैगम नय है।

संग्रह नय- नैगम नय सामान्य और विशेष दोनों की उपयोगिता को स्वीकार करता है। संग्रह नय केवल सामान्य को ही स्वीकार करता है। विशेष को गौण करता है। सामान्य धर्म से अनेक वस्तुओं को एक में ही स्वीकार करने वाला यह संग्रह नय है । यथा- "भोजन लावो" इस कथन से रोटी, साग, मिठाई, दहीं, नमकीन आदि सभी पदार्थ को

ग्रहण कर उनका आदेश कर देना यह संग्रह नय वचन है। इसी प्रकार यहाँ वनस्पतियाँ है, ऐसा कहने से हरी घास, पौधे, लता, आम्रवृक्ष आदि अनेकों का समावेश युक्त कथन संग्रह नय की अपेक्षा है। उसी प्रकार द्रव्य से ६ द्रव्यों का, जीव से चार गति के जीवों का कथन संग्रह नय की अपेक्षा है। इस प्रकार यह नय एक शब्द से अनेकों पदार्थों का संग्रह करता है। किन्तु विशेष विशेषतर भेदप्रभेदों की अपेक्षा नहीं रखता है।

व्यवहार नय– सामान्य धर्मों को छोड़ते हुए विशेष धर्मों को ग्रहण कर वस्तु का कथन करने वाला एवं भेदप्रभेद करके वस्तु का कथन करने वाला यह व्यवहार नय है। यथा-द्रव्य को ६ भेद से, उसमें भी जीवद्रव्य को चार गति से, फिर जाति से, काया से, फिर देश से, कथन करता है। जैसे संग्रह नय मनुष्य, जानवर आदि को या उनके समूह को ये जीव है ऐसा सामान्य धर्म की प्रमुखता से कथन करेगा तो व्यवहार नय यह मनुष्य भारत वर्ष में, राजस्थान प्रांत के जयपुर नगर का ब्राह्मण जाति का तीसवर्षीय जवान पुरुष है ऐसा कहेगा। इस तरह विशेष धर्म के कथन एवं आशय को व्यवहार नय प्रमुख करता है। (१) नैगमनय सामान्य विशेष दोनों को उपयोगी स्वीकार करता है। (२) संग्रह नय सामान्य को उपयोगी स्वीकार करता है। (३) व्यवहार नय विशेष (व्यवहारिक)अवस्था स्वीकार कर कथन करता है। इन तीनों नयों को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। ये नय तीनों काल को स्वीकार करते हैं।

ऋजु सूत्र नय– केवल वर्तमान काल को प्रमुखता देकर स्वीकार करने वाला यह ऋजु सूत्र नय है। यह वर्तमान की ही उपयोगिता स्वीकार करता है। भूत और भावी के धर्मों अवस्थाओं की अपेक्षा नहीं रखता है। कोई व्यक्ति पहले दुःखी था, फिर भविष्य में भी दुःखी होगा, किन्तु यदि वर्तमान में सुखी है और सुख का अनुभव कर रहा है तो पूर्व और भावी दुःख का उसे अभी क्या वास्ता। अतः उस व्यक्ति को सुखी कहा जायेगा। कोई पहले राजा था, अभी भिखारी बन गया है, फिर कभी राजा बन जायेगा, तो भी उसे अभी तो भिखारीपन का ही अनुभव करना है, अतः भूत और राजापन से उसे अभी सुख कुछ भी नहीं है, न राजापन है, अतः वह भिखारी कहा जायेगा। पहले कोई मुनि बना, अभी गृहस्थ बना हुआ है, फिर मुनि बन जायेगा, तो भी वर्तमान में

वह गृहस्थ रूप है पूर्व और भावी मुनिपन का उसे कोई आत्मानन्द नहीं है, अतः यह नय वर्तमान अवस्था से वस्तु स्वरूप को देखता, जानता और कथन करता है ।

शब्द नय- शब्द से ही पदार्थों का ज्ञान होता है इसलिये यह नय पदार्थों के किसी भी प्रकार से बोध कराने वाले शब्दों को स्वीकार करता है। वह शब्द जिस पदार्थ को कहता है, उसे यह नय प्रधानता देकर स्वीकार करता है। यह नय वर्तमान को ही स्वीकार करता है। यथा- "जिन" शब्द से जो वर्तमान में रागद्वेष विजेता है, उसे ग्रहण करता है। किन्तु भविष्य में कोई जिन होगा उस द्रव्य **जिन** को स्वीकार नहीं करता है। वैसे किसी का नाम जिन है, उस नाम जिन को भी यह स्वीकार नहीं करता है। प्रतिमा या चित्र पर कोई जिन की स्थापना कर दी है, वह स्थापना ज़िन भी यह नय स्वीकार नहीं करता है। इस प्रकार यह नय केवल भाव निक्षेप को स्वीकार करता है नाम, स्थापना एवं द्रव्य को यह नय स्वीकार नहीं करता है ।

जो शब्द जिस वस्तु के कथन करने की अर्थ योग्यता या बोधकता रखता है उसके लिये उस शब्द का प्रयोग करना शब्द नय है। शब्द-यौगिक, रूढ़ एवं यौगिक-रूढ़(मिश्र)भी होते हैं। वे जिस जिस अर्थ के बोधक होते हैं, उन्हे यह नय उपयोगी स्वीकार करता है। यथा- (१) पाचक यह यौगिक निरूक्त शब्द है इसका अर्थ रसोइया, रसोइ करने वाला होता है। (२) गौ यह रूढ़ शब्द है इसका अर्थ तो है-जाने की क्रिया करने वाला। किन्तु बैल या गाय जाति के लिये यह रूढ़ है, अतः शब्द नय इसे भी स्वीकार करता है। (३) पंकज, यौगिक भी है रूढ़ भी है। इसका अर्थ है कीचड़ में उत्पन्न होने वाला कमल। किन्तु कीचड़ में तो काई, मेंढ़क, शेवाल आदि कई चीजें उत्पन्न होती है, उन्हें नहीं समझ कर केवल **कमल** को ही समझा जाता है। अतः यह पंकज यौगिक रूढ़ शब्द है, इससे जो कमल का बोध माना जाता है, शब्द नय इसे भी स्वीकार करता है। इस प्रकार विभिन्न तरह से अर्थ के बोधक सभी शब्दों को उपयोगी स्वीकार करने वाला यह **शब्द नय** है।

समभिरूढ़ नय- यह नय भी एक प्रकार का शब्द नय ही है। इसका स्वरूप भी संपूर्ण शब्द नय के समान समझना चाहिये। विशेषता केवल

यह है कि यह रूढ़ शब्द आदि को पदार्थ का अर्थ बोधक स्वीकार नहीं करता है, केवल यौगिक, निरूक्त शब्द जिस अर्थ को कहते हैं उस पदार्थ को ही यह नय स्वीकार करता है। अर्थात् रूढ़ शब्द को भी स्वीकार नहीं करता है, साथ ही जो पर्यायवाची शब्द है उन्हें भी एक रूप में स्वीकार नहीं करके भिन्न भिन्न रूप में स्वीकार करता है अर्थात् उन पर्यायवाची शब्दों का जो निरूक्त अर्थ होता है उस शब्द से उसी पदार्थ को स्वीकार करता है और दूसरे पर्यायवाची शब्द के वाच्य पदार्थ से उसे अलग स्वीकार करता है। यथा- जिन, केवली, तीर्थंकर, ये जिनेश्वर के ही बोधक शब्द है एवं एकार्थक रूप में भी है तो भी यह नय इन्हें अलग अलग अर्थ से अलग अलग ही स्वीकार करेगा। इस प्रकार यह नय निरूक्त अर्थ की प्रधानता से ही शब्द का प्रयोग उस पदार्थ के लिये करता है एवं ऐसा प्रयोग करना उपयोगी मानता है। उन पर्याय शब्द को अलग अलग पदार्थ का बोधक मानता है जिन, अर्हंत, तीर्थंकर ये भिन्न शब्द भिन्न भिन्न गुण वाले पदार्थ के बोधक है ।

एवंभूत नय- जिस शब्द का जो अर्थ है और वह अर्थ जिस पदार्थ का बोधक है वह पदार्थ उस समय उसी अर्थ का अनुभव करता हो, उसी अर्थ की क्रियाशील अवस्था में हो, तभी उसके लिये उस शब्द का प्रयोग करना, यह इस एवंभूत नय का आशय है। अर्थात् जिस दिन जिस समय तीर्थ की स्थापना करते हो उस समय तीर्थंकर शब्द का प्रयोग करना। जिस समय सुरासुर से पूजा की जाती हो उस समय अर्हंत कहना, कलम से जब लिखने का कार्य किया जा रहा हो तभी उसके लिये **लेखनी** शब्द का प्रयोग करना ।

समभिरूढ़ नय निरूक्त अर्थ वाले शब्द को स्वीकार करता है और एवंभूत नय भी उसे ही स्वीकार करता है किन्तु उस भाव या क्रिया में परिणत वस्तु के लिये ही उस शब्द का प्रयोग करना स्वीकार करता है। यह इसकी विशेषता है। इस प्रकार यह नय केवल शुद्ध भाव निक्षेप को ही स्वीकार कर के कथन करता है।

नय, दुर्नय और श्याद्वाद तीनों का स्वरूप :-

ये सातों नय अपनी अपनी अपेक्षा से वचन प्रयोग एवं व्यवहार करते हैं, उस अपेक्षा से ही ये नय कहलाते हैं। दूसरी अपेक्षा का स्पर्श

नहीं करते हैं, उपेक्षा रखते हैं, इसलिये भी नय कहलाते हैं। यदि दूसरी अपेक्षा का खंड़न, विरोध करते हैं तो ये नय वचन नय की सीमा का उल्लंघन करके **दुर्नय** बन जाते हैं अर्थात् इनकी नयरूपता कुनयता में बदल जाती है। ऐसे कुनयों के कारण ही अनेक विवाद एवं मत मतांतर या निन्हव आदि पैदा होते हैं। नय में क्लेश उत्पादकता नहीं है। दुर्नय में क्लेशोत्पादकता है। यथा- दो व्यक्तियों ने एक ढ़ाल देखी, दोनों अलग अलग दिशा में दूर खड़े थे। ढ़ाल एक तरफ स्वर्ण रस युक्त थी दूसरी तरफ चांदी के रस से युक्त बनाई हुई थी। यदि वे दोनों व्यक्ति नय से बोले तो एक व्यक्ति ढ़ाल स्वर्णमय है ऐसा कहेगा। दूसरा उसे चांदी की कह देगा। दोनों अपने कथन में अनुभव में शांत रहे तो नय है। एक दूसरे की हीलना निन्दा करे कि अरे तू पागल हो गया है क्या दिखता नहीं है, साफ पीली सोने की दीख रही है। दूसरा कहे तेरी आंखों में पीलिया है। दुर्नय में झगड़ा है। यहाँ यदि स्याद्वाद अनेकांतवाद आ जाय तो कहेगा कि सफेद भी है, पीली भी है, सोना रूप भी है चांदी रूप भी है, तो शांति हो जाती है। इस प्रकार नय एवं दुर्नय को जानकर या तो नय तक सीमित रहना चाहिये या फिर सभी अपेक्षा से चिंतन कर अनेकांतवाद में आ जाना चाहिये किन्तु एकांतवाद एवं दुर्नय का आश्रय कभी भी नहीं लेना चाहिये। दुर्नय-एकांतवाद से मिथ्यात्व क्लेश एवं दुःख की प्राप्ति होती है एवं नयवाद अनेकांतवाद से शांति आनन्द की प्राप्ति होती है। एक व्यक्ति किसी का पिता है तो पुत्र की अपेक्षा उसे पिता कहना नय है। किन्तु यह पिता ही है किसी का भी भाई, पुत्र, मामा आदि है ही नहीं, ऐसा कथन करने वाला दुर्नय हो जाता है।

मोक्षमार्ग में श्रद्धा का स्थान अति महत्त्वशील बताना नय है, किन्तु अन्य ज्ञान या क्रिया का खंड़न निषेध कर देना दुर्नय हो जाता है। इसी प्रकार कभी ज्ञान का महत्त्व बताते हुए कथन विस्तार करना भी नय है, किन्तु क्रिया का निषेध नहीं होना चाहिये। क्रिया का निषेध यदि ज्ञान के महत्त्व कथन के साथ आ जाता है, तो वह भी दुर्नय हो जाता है। कभी क्रिया का महात्म्य बताते हुए विस्तृत कथन किया जा सकता किन्तु ज्ञान का निषेध या उसे निरर्थक बताने रूप कथन होता हो तो वह भी दुर्नय हो जाता है। अतः अपनी अपेक्षित किसी भी

अपेक्षा से कथन करना नय है। दूसरी अपेक्षाओं को विषयभूत नहीं बनाना भी नय है किन्तु दूसरी अपेक्षा को लेकर विवाद कर उन सभी अपेक्षाओं या किसी अपेक्षा को गलत निरर्थक कह देना दुर्नय है।

स्याद्वाद-अनेकांतवाद जैन धर्म की समन्वय मूलकता का बोधक है। वह नयों का समन्वय करता है। प्रत्येक विषय या वस्तु को अनेक धर्मों से, अनेक अपेक्षाओं से, देखकर उसका चिन्तन करना एवं निर्णय लेना, यही सम्यग् अनेकांत सिद्धांत है और इसी से समभाव सामायिक की प्राप्ति होती है। अनेकांतवाद, नय से अपनी भिन्न विशेषता रखता है। इन दोनों को एक नहीं समझ लेना चाहिये। नय अपनी अपेक्षा दृष्टि को मुख्य कर अन्य दृष्टि को गौण करके वस्तु का प्रतिपादन करता है, दूसरी दृष्टि की उपेक्षा रखता है। जब कि स्याद्वाद अनेकांतवाद सभी दृष्टियों को सम्मुख रख कर उन सभी सत्य आशयों को, वस्तु के विभिन्न धर्मों को, उन अपेक्षा से देखता है, किसी को गोण और मुख्य अपनी दृष्टि से नहीं करता है।

नय मानों अपने हाल में मस्त है, दूसरों की अपेक्षा नहीं रखता है तो तिरस्कार भी नहीं करता है और अनेकांतवाद सभी की अपेक्षा रख कर उन्हें साथ लेकर उदारता से चलता है। जबकि दुर्नय स्वयं को ही सब कुछ समझ कर अन्य का तिरस्कार करता है। इस प्रकार नय, दुर्नय एवं अनेकांतवाद को समझ कर समन्वय दृष्टि प्राप्त कर समभावों रूप सामायिक को प्राप्त करना चाहिये। यह अनुयोगद्वार सूत्र के कथित चार द्वारों में चौथा नय द्वार सम्पूर्ण हुआ। इसके पूर्ण होने पर अनुयोगद्वार सूत्र पूर्ण होता है।

निबंध-६८

श्रावक की ११ पडिमाओं का विश्लेषण

सामान्य रूप से कोई भी सम्यग्दृष्टि आत्मा व्रत धारण करने पर व्रतधारी श्रावक कहा जाता है। वह एक व्रतधारी भी हो सकता है या बारह व्रतधारी भी हो सकता है। प्रतिमाओं में भी अनेक प्रकार के व्रत प्रत्याख्यान ही धारण किये जाते हैं, किन्तु विशेषता यह है कि इसमें जो भी प्रतिज्ञा की जाती है उनमें कोई आगार नहीं रखा जाता

है और नियत समय में अतिचार रहित नियम का दृढ़ता के साथ पालन किया जाता है ।

जिस प्रकार भिक्षुप्रतिमा धारण करने वाले को विशुद्ध संयम पर्याय और विशिष्ट श्रुत का ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार उपासक प्रतिमा धारण करने वाले को भी बारह व्रतों के पालन का अभ्यास होना और कुछ श्रुतज्ञान होना भी आवश्यक है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक को सांसारिक जिम्मेदारियों से निवृत्त होना तो आवश्यक है ही तथापि सातवीं प्रतिमा तक अनेक छोटे बड़े गृहकार्यो का त्याग आवश्यक नहीं होता है, किन्तु प्रतिमा के नियमों का शुद्ध पालन करना अत्यावश्यक होता है। आठवीं प्रतिमा से अनेक गृहकार्यो का त्याग प्रारंभ हो जाता है एवं ग्यारहवीं प्रतिमा में सम्पूर्ण गृह कार्यों का त्याग करके वह श्रमण के समान आचार का पालन करता है ।

ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी भी प्रतिमा को धारण करने वाले को आगे की प्रतिमा के नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं होता है। स्वेच्छा से वह पालन कर सकता है अर्थात् पहली प्रतिमा में सचित्त का त्याग या श्रमणभूत जीवन धारण करना, वह चाहे तो कर सकता है।

किन्तु आगे की प्रतिमा धारण करने वाले को उसके पूर्व की सभी प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करना नियमतः आवश्यक होता है अर्थात् सातवीं प्रतिमा धारण करने वाले को सचित्त का त्याग करने के साथ ही सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य, कायोत्सर्ग, पौषध आदि प्रतिमाओं का भी यथार्थ रूप से पालन करना आवश्यक होता है ।

(१) पहली दर्शनप्रतिमा धारण करने वाला श्रावक १२ व्रतों का पालन करता है किन्तु वह दृढ़प्रतिज्ञ सम्यक्त्वी होता है। मन, वचन व काया से वह सम्यक्त्व में किसी प्रकार का अतिचार नहीं लगाता है तथा देवता या राजा आदि किसी भी शक्ति से किंचित् मात्र भी सम्यक्त्व से विचलित नहीं होता है अर्थात् किसी भी आगार के बिना तीन करण, तीन योग से एक महीना तक शुद्ध सम्यक्त्व की आराधना करता है। इस प्रकार वह प्रथम दर्शनप्रतिमा वाला व्रतधारी श्रावक कहलाता है।

कुछ प्रतियों में **'से दंसणसावए भवइ'** ऐसा पाठ भी मिलता है उसका तात्पर्य भी यही है कि वह दर्शनप्रतिमाधारी व्रती श्रावक है क्यों कि जो एक भी व्रतधारी नहीं होता है उसे दर्शनश्रावक कहा जाता है। किन्तु प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक पहले १२ व्रतों का पालक तो होता ही है। अतः उसे केवल 'दर्शन श्रावक' ऐसा नहीं समझना चाहिए।

(२) दूसरी व्रत प्रतिमा धारण करने वाला यथेच्छ एक या अनेक, छोटे या बड़े कोई भी नियम प्रतिमा के रूप में धारण करता है जिनका उसे अतिचार रहित पालन करना आवश्यक होता है।

(३) तीसरी सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक सुबह, दोपहर व शाम को नियत समय पर ही सदा निरतिचार सामायिक करता है एवं देशावकाशिक(१४ नियम धारण) व्रत का आराधन करता है तथा पहली दूसरी प्रतिमा के नियमों का भी पूर्ण पालन करता है।

(४) चौथी पौषध प्रतिमाधारी श्रावक पूर्व की तीनों प्रतिमाओं के नियमों का पालन करते हुए महीने में पर्व-तिथियों के छह प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् प्रकार से आराधना करता है। इस प्रतिमा के धारण करने से पहले भी श्रावक पौषध व्रत का पालन तो करता ही है किन्त प्रतिमा के रूप में नहीं।

(५) पाँचवीं कायोत्सर्ग प्रतिमाधारी श्रावक पहले की चारों प्रतिमाओं का सम्यक् पालन करते हुए पौषध के दिन सम्पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करता है।

(६) छट्ठी ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक श्रावक पूर्व पाँच प्रतिमाओं का पालन करता हुआ सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। साथ ही इस ब्रह्मचर्य प्रतिमा में स्नान का और रात्रि भोजन का त्याग करता है तथा धोती की एक लांग खुली रखता है।

विशेष :- पाँचवीं-छट्ठी प्रतिमा के मूल पाठ में लिपि-दोष से कुछ पाठ विकृत हुआ है जो ध्यान देने पर स्पष्ट समझ में आ सकता है- प्रत्येक प्रतिमा के वर्णन मे आगे की प्रतिमा के नियमों के पालन का निषेध किया जाता है। पाँचवी प्रतिमा में छट्ठी प्रतिमा के विषय का निषेध पाठ विधि रूप में जुड़ जाने से और चूर्णिकार द्वारा सम्यक्

निर्णय न किये जाने के कारण मतिभ्रम से और भी पाठ विकृत हो गया है। ब्यावर से प्रकाशित छेद सूत्र के त्रीणि सूत्राणि में उसे शुद्ध करने का परिश्रम किया गया है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले का ही स्नान त्याग उचित है। क्यों कि पाँचवीं प्रतिमा में एक-एक मास में केवल ६ दिन ही स्नान का त्याग और दिन में कुशील सेवन का त्याग किया जाय तो सम्पूर्ण स्नान का त्याग कब होगा ? तथा केवल ६ दिन ही स्नान त्याग और दिन में ब्रह्मचर्य पालन का कथन प्रतिमाधारी के लिये महत्त्व नहीं रखता है। यदि पाँचवी प्रतिमा के पूरे पाँच मास ही स्नान का त्याग करने का अर्थ किया जाय तो भी असंगत है। क्यों कि पाँच मास तक रात्रि में ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करें और स्नान का पूर्ण त्याग रखें इन दोनों नियमों का सम्बन्ध अव्यवहारिक होता है। अतः आगम प्रकाशन समिति ब्यावर का स्वीकृत पाठ ही उचित ध्यान में आता है। उसी के अनुसार यहाँ पाँचवीं-छट्ठी प्रतिमा का स्वरूप दर्शाया है।

लिपिप्रमादादि के कारणों से ही इन दोनों प्रतिमाओं के नाम समवायांग आदि सूत्र में भिन्न है तथा ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में अनेक भिन्नताएं मिलती है।

(७) सातवीं सचित्तत्याग प्रतिमा का आराधक श्रावक पानी, नमक, फल, मेवे आदि सभी सचित्त पदार्थों के उपभोग का त्याग करता है। किन्तु उन पदार्थों को अचित्त बनाने के त्याग नहीं करता है।

(८) आठवीं आरम्भत्याग प्रतिमाधारी श्रावक स्वयं आरंभ करने का संपूर्ण त्याग करता है किन्तु दूसरों को आदेश देकर सावद्य कार्य कराने का उसके त्याग नहीं होता है।

(९) नौवीं प्रेष्यत्याग प्रतिमा में श्रावक आरंभ करने व कराने का त्यागी होता है किन्तु स्वतः ही कोई उसके लिए आहारादि बना दे या आरंभ कर दे तो वह उस पदार्थ का उपयोग कर सकता है।

(१०) दसवीं उद्दिष्टभक्तत्याग प्रतिमाधारी श्रावक दूसरे के निमित्त बने आहारादि का उपयोग कर सकता है। स्वयं के निमित्त बने हुए आहारादि का उपयोग नहीं कर सकता है। उसका व्यावहारिक

जीवन श्रमण जैसा होना जरूरी नहीं होता है। इसलिए उसे पारिवारिक व्यक्ति सांसारिक वार्ता पूछ सकता है। अतः किसी के पूछने पर- 'मैं जानता हूँ या मैं नहीं जानता हूँ' इतना ही उत्तर देना कल्पता है। इससे अधिक उत्तर देना नहीं कल्पता है। किसी वस्तु के यथा स्थान पर न मिलने पर इतना उत्तर देने से भी पारिवारिक लोगों को संतोष हो सकता है। इस प्रतिमा में श्रावक क्षुरमुंड़न कराता है अथवा बाल रखता है।

(११) ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमाधारी श्रावक शक्य संयमी जीवन की सभी मर्यादाएँ स्वीकार करता है। किन्तु यदि लोच न कर सके तो मुंड़न करवा सकता है। वह भिक्षु के समान गवेषणा के सभी नियमों का पालन करता है।इस प्रतिमा की अवधि समाप्त होने के बाद वह प्रतिमाधारी सामान्य श्रावक जैसा जीवन बिताता है। इसी कारण इस प्रतिमा- आराधनकाल में वह स्वयं को भिक्षु न कहकर 'मैं प्रतिमाधारी श्रावक हूँ' इस प्रकार कहता है।

पारिवारिक लोगों से प्रेम सम्बन्ध का आजीवन त्याग न होने के कारण वह ज्ञात कुलों में ही गोचरी के लिए जाता है। यहाँ ज्ञात कुल से पारिवारिक और अपारिवारिक ज्ञातिजन सूचित किये गये हैं। भिक्षा के लिये घर में प्रवेश करने पर वह इस प्रकार सूचित करे कि 'प्रतिमाधारी श्रावक को भिक्षा दो।'

श्रावक प्रतिमा सम्बन्धी भ्रम का निवारण

श्रावक प्रतिमा के सम्बन्ध में यह भी एक प्रचलित कल्पना है कि 'प्रथम प्रतिमा में एकान्तर उपवास, दूसरी प्रतिमा में निरंतर बेले, तीसरी में तेले यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा में ग्यारह-ग्यारह की तपश्चर्या निरन्तर की जाती है।' किन्तु इस विषय में कोई आगम प्रमाण उपलब्ध नहीं है तथा ऐसा मानना संगत भी नहीं है, क्यों कि इतनी तपस्या तो भिक्षु प्रतिमा में भी नहीं की जाती है। श्रावक की चौथी प्रतिमा में महीने के छः पौषध करने का विधान है यदि उपरोक्त कथन के अनुसार तपस्या की जाए तो चार मास में २४ चौले की तपस्या करनी आवश्यक होती है। प्रतिमाधारी द्वारा तपस्या तिविहार या बिना पौषध के करना भी उचित नहीं है। अतः २४ चौले पौषध

युक्त करना आवश्यक नियम होने पर महीने के छः पौषध का विधान निरर्थक हो जाता है। जबकि तीसरी प्रतिमा से चौथी प्रतिमा की विशेषता भी यही है कि महीने के छः पौषध किये जावें। अतः कल्पित तपस्या का क्रम सूत्र-सम्मत नहीं है। आनंद आदि श्रावकों के अंतिम साधना-काल में तथा प्रतिमा-आराधना के बाद शरीर की कृषता का जो वर्णन है वह व्यक्तिगत जीवन का वर्णन है उसमें भी इस प्रकार के तप का वर्णन नहीं है। अपनी इच्छा से साधक कभी भी कोई विशिष्ट तप भी कर सकता है। आनन्दादि ने भी कोई विशिष्ट तपश्चर्या साधना-काल में की होगी किन्तु ऐसा स्पष्ट वर्णन आगम में नहीं है। यदि उन्होंने कोई भी तप आगे की प्रतिमाओं म किया हो तो भी सब के लिए विधान मानना सूत्रोक्त प्रतिमावर्णन स असंगत होता है, ऐसा समझना चाहिए।

निबंध-६९

चैत्य शब्द के अर्थों का ज्ञान

व्यवहारसूत्र, उद्दे०१, सूत्र-३३ में 'सम्मं भावियाइं चेइयाइं' शब्द का प्रयोग किया गया है टीकाकार ने उसका अर्थ करते हुए 'जिन वचनों से भावित अन्तःकरण वाला' ऐसा अर्थ किया है। 'चेइय' शब्द के अनेक अर्थ शब्दकोश में बताये गए हैं उसमें ज्ञानवान और भिक्षु आदि अर्थ भी 'चेइय' शब्द के किये हैं। अनेक सूत्रों में तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के लिए 'चेइय' शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ उस शब्द से भगवान को 'ज्ञानवान' कहा है।

उपासकदशा सूत्र अ०१ में श्रमणोपासक की समकित सम्बन्धी प्रतिज्ञा का पाठ है। उसमें अन्यतीर्थिक से ग्रहण किये चैत्य को अर्थात् साधु को वन्दन नमस्कार एवं आलाप-संलाप करने का तथा आहार-पानी देने का निषेध है। वहाँ स्पष्ट रूप से 'चेइय' शब्द का भिक्षु अर्थ में प्रयोग किया गया है। वहाँ चैत्य से आलाप संलाप करने का आगम कथन विशेष मननीय है। क्यों कि मूर्ति से आलाप संलाप नहीं हो सकता।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'चेइय' शब्द का अर्थ मूर्तिपूजक

समुदाय वाले 'अरिहंत भगवान की मूर्ति' भी कहते हैं किन्तु वह टोकाकार के अर्थ से विपरीत है तथा पूर्वापर सूत्रों से विरुद्ध भी है। क्यों कि टीकाकार ने यहाँ अंतःकरण शब्द का प्रयोग किया हैं वह मूर्ति में नहीं हो सकता। सूत्र में सम्यक् भावित चैत्य का अभाव होने पर अरिहंत सिद्ध की साक्षी के लिए गाँव आदि के बाहर जाने का कहा है। यदि यहाँ चैत्य का अर्थ मन्दिर होता है तो मन्दिर में ही अरिहंत सिद्ध की साक्षी से आलोचना करने का कथन होता, गाँव के बाहर जाने के अलग विकल्प देने की आवश्यकता ही नहीं होती अर्थात् इस सूत्र में चेइय शब्द के वाक्य के साथ अरिहंत सिद्ध नहीं कहकर उसे आगे के विकल्प से गाँव के बाहर जाने के कथन वाले सूत्र में कहा है और वहाँ अरिहंत सिद्ध के विकल्प में चेइये शब्द भी नहीं कहा है ।

अतः 'चेइय' शब्द का प्रस्तुत प्रकरण में सम्यग् भावित अंतःकरण वाला 'ज्ञानी', सम्यग् दृष्टि अथवा समझदार पुरुष ऐसा अर्थ करना ही उपयुक्त है ।

समवायांग सूत्र में तीर्थंकरों को जिस वृक्ष के नीचे केवलज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'चैत्य वृक्ष'अर्थात् ज्ञानोत्पति स्थल का वृक्ष कहा है। तात्पर्य यह है कि मौलिक गणधर रचित आगमों में एवं विशाल शब्द कोशों में भी 'चैत्य' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' सूचित्त किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में भी 'ज्ञानी' सम्यग् दृष्टि अर्थ ही अपेक्षित हैं एवं उचित है।उससे जबरन मंदिर मूर्ति अर्थ कर अपने दुराग्रह का पोषण करके संतोष मानना अनुपयुक्त है ।

निबंध–७०

श्रावकों को जानने योग्य २५ क्रियाएँ

कायिकी आदि पाँच क्रिया :–

१. कायिकी– शरीर के आभ्यन्तर सूक्ष्म संचार से,

२. अधिकरणिकी– शरीर के बाह्य सूक्ष्म संचार से,

३. प्रादोषिकी– सूक्ष्म कषायों के अस्तित्व से,

४. परितापनिकी– शरीर से कष्ट पहुँचाने पर,

५. प्राणातिंपातिकी– जीव हिंसा हो जाने पर । –*भगवती सूत्र, ठाणांग सूत्र ।*

आरंभिकी आदि पाँच क्रिया :–

१. आरंभिकी– हिंसा की प्रवत्ति और संकल्प से,

२. परिग्रहिकी– किसी में भी मोह ममत्व रखने से,

३. माया प्रत्यया– क्रोध मान माया लोभ करने से या इनके उदय से,

४. अप्रत्याख्यानिकी– पदार्थों का या पापों का त्याग न करने से,

५. मिथ्यात्व– खोटी मान्यता, श्रद्धा, प्ररूपणा से ।–*भगवती सूत्र, ठाणांग सूत्र ।*

दृष्टिजा आदि आठ क्रिया :–

१. दृष्टिजा– किसी भी पदार्थ को देखने से,

२. स्पर्शजा– किसी भी चीज को छूने से,

३. नैमित्तिकी– किसी वस्तु या व्यक्ति के सम्बन्ध में सोचने, बोलने से अथवा सहयोग करने से,

४. सामन्तोपनिपातिकी– प्रशंसा की चाहना से या स्व प्रशंसा करने से,

५. स्वहस्तिकी– अपने हाथ से कार्य करने पर,

६. नैसष्टिकी– कोई भी वस्तु फेंकने से,

७. आज्ञापनिकी– कोई भी कार्य की आज्ञा देने से,

८. विदारिणी– किसी वस्तु को फाड़ने तोड़ने से,

अनाभोग आदि सात क्रिया :–

१. अनाभोग– अनजानपने से पाप प्रवति होने पर,

२. अनवकांक्षा– उपेक्षा से, लापरवाह वत्ति से,

३. प्रेम प्रत्यया– किसी पर राग भाव करने से,

४. द्वेष प्रत्यया– किसी पर द्वेष भाव करने से,

५. प्रयोग प्रत्यया– मन वचन काया की प्रवत्तियों से,

६. सामुदानिकी– सामुहिक प्रवत्तियों से एवं चिंतन से,

७. ईर्यापथिकी– वीतरागी को योग प्रवत्ति से,

इन पच्चीस क्रियाओं में सूक्ष्म अतिसूक्ष्म एवं विभिन्न प्रकार की

स्थूल क्रियाओं का समावेश किया गया है । वीतरागी मनुष्यों को अपनी समस्त प्रवत्तियों से केवल पच्चीसवीं क्रिया ही लगती है । शेष संसारी जीवों के उक्त २४ क्रियाओं में से कई क्रियाएँ लगती रहती है।

इन क्रियाओं से हीनाधिक विभिन्न मात्रा में जीव कर्म बन्ध करता है, यह जान कर जितना संभव हो इन क्रियाओं से बचने का मोक्षार्थी को पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए । रोजना तीन मनोरथ का चिंतन करना चाहिये एवं चौदह नियमों की मर्यादा धारण करनी चाहिये ऐसा करने से महान कर्मों की निर्जरा एवं आश्रव निरोध होता है ।

निबध-७१

भगवान की धर्मदेशना : औपपातिक सूत्र

भगवान महावीर ने राजा कूणिक, सुभद्रा आदि रानियों एवं देव, मनुष्यों की विशाल परिषद को धर्मोपदेश दिया । धर्मदेशना सुनने के लिए साधु-साध्वी एवं देवगण तथा सैकड़ों श्रोताओं के समूह उपस्थित थे । मधुर, गंभीर स्वर युक्त भगवान ने स्पष्ट उच्चारण युक्त अक्षरों में श्रोताओ की सभी भषाओं में परिणत होने वाली, एक योजन तक पहुंचने वाले स्वर में, अर्द्धमागधी भाषा में धर्म का कथन किया । उपस्थित सभी आर्य अनार्य जनों को अग्लान भाव से, बिना भेदभाव के धर्म का आख्यान किया । भगवान द्वारा फरमाई अर्द्धमागधी भाषा उन सभी आर्य अनार्य श्रोताओं के अपनी अपनी भाषाओं में बदल गई । धर्म देशना इस प्रकार है —

यह समस्त संसार एक लोक है, इसके बाहर अलोक का अस्तित्व है । इसी प्रकार जीव, अजीव, बंध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा आदि तत्व है । तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव नरक-नैरयिक, तिर्यंचयोनि, तिर्यंचयोनिक जीव, माता, पिता, ऋषि, देव, देवलोक, सिद्धि, सिद्ध, परिनिर्वाण, परमशांति, परिनिवति इन सब का लोक में अस्तित्व है । प्राणातिपात, मषावाद, चोरी, मैथुन और परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य (चुगलि) परपरिवाद, रति-अरति, माया-मषा, एवं मिथ्यादर्शन शल्य ये सभी १८ पाप है ।

प्राणातिपात विरमण, मषावाद विरमण, अदत्तादान विरमण, मैथुन विरमण, परिग्रह विरमण, क्रोध से विरत, मान से विरत, माया से विरत, लोभ से विरत, प्रेम से विरत, द्वेष से विरत, कलह से विरत, अभ्याख्यान से विरत, पैशुन्य से विरत, पर-परिवाद से विरत, अरति-रति से विरत, माया मषा से विरत एवं मिथ्या दर्शन शल्य विवेक, यों १८ पाप से निवत्ति भी लोक में होती है । सभी पदार्थों में अस्तिभाव अपने-अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से अस्तित्व को लिए हुए है, सभी नास्तिभाव पर-द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से नास्तित्व को लिए हए है । किन्तु वे भी अपने स्वरूप से है । दान, शील, तप आदि उत्तम कर्म उत्तम फल देने वाले हैं । पापमय कर्म दुःखमय फल देने वाले हैं । जीव पुण्य पाप का स्पर्श करता है, बंध करता है । जीव उत्पन्न होते हैं । संसारी जीवों का जन्म मरण होता है, शुभकर्म और अशुभकर्म दोनों फल युक्त है, निष्फल नहीं होते ।

निर्ग्रंथ प्रवचन का महात्म्य :- यह निर्ग्रंथ प्रवचन मय उपदेश सत्य है, अणुत्तर है, केवली द्वारा भाषित अद्वितीय है, सर्वथा निर्दोष है, प्रतिपूर्ण है, न्याय संगत है, प्रमाण से अबाधित है, माया आदि शल्यों का निवारक है, सिद्धि का मार्ग-उपाय है, मुक्ति-कर्म क्षय का हेतु हैं, निर्वाण-पारमार्थिक सुख प्राप्त करने का मार्ग है, निर्वाण-पद के लिए जन्म मरण के चक्र रूप संसार से प्रस्थान करने का मार्ग यही (आगम) है । वास्तविक, पूर्वापर विरोध से रहित अर्थात् कुतर्कों से अबाधित है । यह विच्छेद रहित है, सब दुःखों को क्षीण करने का सही उत्तम मार्ग है, इसमें स्थित जीव सिद्धि-सिद्धावस्था को प्राप्त करते हैं, केवल ज्ञानी होते हैं, जन्म मरण से मुक्त होते हैं । परम शांतिमय हो जाते हैं, सभी दुःखों का अन्त कर देते हैं । जिनके एक ही मनुष्य भव धारण करना बाकी रहा है ऐसे निर्गंथ प्रवचन के आराधक किन्ही देवलोकों में उत्पन्न होते हैं, वहाँ अत्यन्त विपुल ऋद्धियों से पूर्ण लम्बी आयु वाले देव होते हैं । वे असाधारण रूपवान होते हैं ।

जीव चार कारणों से नरक का बंध करते हैं- (१) महा आरंभ, (२) महा परिग्रह (३) पंचेन्द्रिय वध (४) मांस भक्षण ।

जीव चार कारणों से तिर्यंच योनि का बंध करते हैं- (१)

मायापूर्ण आचरण (२) असत्य भाषण युक्त मायाचरण (३) उत्कंचनता (धूर्तता) (४) वंचनता (ठगी) ।

जीव चार कारणों से देव योनि में उत्पन्न होते हैं- (१) सराग संयम (२) संयमासंयम (३) अकाम निर्जरा (४) बाल तप ।

नरक में जाने वाले नैरयिक विविध दुःखमय वेदना पाते हैं, तिर्यंच में शारीरिक मानसिक संताप प्राप्त करते हैं, मनुष्य जीवन अनित्य है । व्याधि, वद्धावस्था, मत्यु और वेदना आदि कष्टों से व्याप्त है । देव लोक में देव ऋद्धि और अनेक दैविक सुख प्राप्त करते हैं । इस प्रकार चार गति, सिद्ध और छज्जीवनिकाय के जीव अलग-अलग है । कई जीव कर्म बंध करते हैं, कई उससे मुक्त होते हैं, कई परिक्लेश पाते हैं । किन्तु अनासक्त रहने वाले कई व्यक्ति दुःखों का अन्त करते हैं । आर्तध्यान से पीडित चित्त वाले जीव दुःख प्राप्त करते हैं किन्तु वैराग्य को प्राप्त करने वाले जीव कर्मदल को ध्वस्त कर देते हैं । राग पूर्वक किये गये कर्मों का विपाक पाप पूर्ण होता है, धर्माचरण द्वारा कर्म से सर्वथा रहित होने पर ही जीव सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं । धर्माचरण दो प्रकार का है- (१) अगार धर्म (२) अणगार धर्म ।

अणगार धर्म में सम्पूर्ण रूप से सर्वात्म भाव से सावद्य कर्मों का परित्याग करता हुआ मानव मुंडित होकर मुनि अवस्था में प्रव्रजित होता है, सम्पूर्णतः प्राणातिपात, मषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रि भोजन से विरत होता है । यह अणगार सामायिक संयम धर्म है, इस धर्म की शिक्षा में उपस्थित होकर आगम प्रमाण की प्रमुखता से प्रवत्ति करने वाले साधु-साध्वी आज्ञा के आराधक होते हैं । आगार धर्म १२ प्रकार का है- ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत ।

पाँच अणुव्रत- स्थूल प्राणातिपात का त्याग, स्थूल मूषावाद का त्याग, स्थूल अदत्तादान का त्याग, स्वदार संतोष एवं इच्छा परिमाण।

तीन गुणव्रत- दिशाओं में जाने की मर्यादा, उपभोग परिभोग परिमाण, अनर्थदंड विरमण ।

चार शिक्षाव्रत- सामायिक, देशावकाशिक (नित्य प्रवत्तियों में निवत्तिभाव की वद्धि का अभ्यास), पोषध, अतिथिसंविभाग । अंतिम समय में संलेखना-आमरण अनशन की आराधनापूर्वक देह त्याग करना,

श्रावक जीवंन की साधना का पर्यवसान है । यह आगार सामायिक धर्म-गहस्थ धर्म है । इस धर्म के अनुसरण में प्रयत्नशील आगम आज्ञा को आगे रख कर प्रवत्ति करने वाले श्रावक श्राविका आज्ञा के आराधक होते हैं ।इस प्रकार सिद्धांतों का कथन, आचार धर्म, चार गति बंध, १८ पाप एवं उनका त्याग, श्रावक व्रत, साधु व्रत तथा उसकी आराधना और मुक्ति गमन तक का पूर्ण एवं व्यापक विश्लेषण युक्त यह भगवानं का एक प्रवचन-व्याख्यान सदा-सदा मननीय है ।

निबंध-७२

तप के १२ भेदों का विस्तार

तप के प्रकार :- उत्तराध्ययन सूत्र में ३०वाँ अध्ययन तप वर्णन का है । उसमें आभ्यन्तर बाह्य उभय तपों का वर्णन गाथाओं में किया गया है । औपपातिक सूत्र में गद्य पाठ के द्वारा अणगारों के तपगुणों के रूप में विस्तार से वर्णन किया गया है । ठाणांग में तप व भेदोपभेद के नाम कहे गये है और भगवती सूत्र में प्रश्नोत्तर रूप में सभी तपों का स्पष्टीकरण किया गया है । जिनका सारांश इस प्रकार है-

तप के मौलिक भेदं दो है- १ आभ्यंतर २ बाह्य । दोनों के ६-६ प्रकार है । दोनों प्रकार के तपो में शरीर और आध्यात्म दोनों का पूर्ण सहयोग रहा हुआ है । फिर भी अपेक्षा विशेष से बाह्य तप से बाह्य व्यवहार की प्रमुखता स्वीकार की गई है और आभ्यंतर तप से आध्यात्म भावों की प्रमुखता स्वीकार की गई है । तात्पर्य यह है कि ये सापेक्ष आभ्यंतर और बाह्य तप है किन्तु एकांतिक नहीं है अर्थात् काया के सहयोग बिना वैयावृत्य आदि आभ्यंतर तप नहीं हो सकते और भावों की उच्चता के बिना बाह्य तप में किया गया पराक्रम भी आगे नहीं बढ़ सकता है ।

१. अनसन :- नवकारसी, उपवास आदि ६ मासी तप तक की विविध तप साधनाएँ इत्वरिक(अल्पकालिक) तपस्याएँ हैं और आजीवन संथारा ग्रहण करना जीवन पर्यन्त का तप है । आजीवन अनशन के भक्त प्रत्याख्यान और पादपोपगमन ये दो भेद हैं ।

"भक्त प्रत्याख्यान" में तीन आहार या चार आहार का त्याग

किया जाता है । इसमें शरीर का परिकर्म सेवा आदि स्वयं किया जा सकता है, कराया जा सकता है । निहारिम- मत्यु के बाद शरीर का दाह संस्कार होता भी है और नहीं भी होता है । यह सागारी भी होता हैं । यथा- उपद्रव आने पर या रात्रि में ।

आचारांग आदि सूत्र में आजीवन अनसन का तीसरा प्रकार "इंगिनी मरण" कहा गया है यह मध्यम प्रकार का है अर्थात् पादपोपगमन अनसन की अपेक्षा इसमें कुछ सीमित छूटें है । यथा- मर्यादित क्षेत्र में हाथ पाँव का संकोच विस्तार करना, कुछ समय खड़े रहना या बैठना, चंक्रमण करना आदि ।

"पादपोपगमन" में निश्चेष्ट होकर ध्यान में लीन बने रहना होता है । हलन चलन भी नहीं किया जाता है । किन्तु लघुनीत, बड़ीनीत का प्रसंग आवे तो उठकर यथास्थान जाना आना किया जा सकता है । किन्तु संथारे के स्थान पर रहे हुए ही मल मूत्र नही किया जाता है । निहारिम अनिहारिम दोनों तरह का होता है । उपसर्ग आने पर भी पादपोपगमन संथारा किया जा सकता है ।

संलेखना का कालक्रम :- *(उत्तरा. अ. ३६)*

मुनि अनेक वर्षों तक संयम का पालन कर इस क्रमिक तप से अपनी आत्मा की संलेखना करे । यह संलेखना, संथारे के पूर्व की जाती है । संलेखना उत्कृष्ट बारह वर्ष, मध्यम एक वर्ष तथा जघन्य छह मास की होती है ।

बारह वर्ष की संलेखना करने वाला मुनि पहले चार वर्ष में विगयों का परित्याग करे । दूसरे चार वर्षों में फुटकर विचित्र तप का आचरण करे । फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप करे व पारणे के दिन आयंबिल करे । ग्यारहवें वर्ष के पहले छः महीनों में कठिन तप न करे ।

ग्यारहवें वर्ष के पिछले छः महीनों में कठिन तप करे । इस पूरे वर्ष में पारणे के दिन आयंबिल करे । बारहवें वर्ष में मुनि कोटि सहित आयंबिल करे फिर पक्ष या मास का अनशन तप करे ।

२-उणोदरी :- इच्छा व भूख से कम खाना, कम उपकरण रखना,

कम वस्तुओं का उपयोग करना **उणोदरी** तप है । आहार उणोदरी का विस्तृत वर्णन अन्यत्र देखें । १ पात्र १ वस्त्र (एक चादर) रखना उपकरण उणोदरी है । अथवा काम में आये हुए (गृहस्थ के उपयोग लिये) उपकरण ग्रहण करना भी उपकरण उणोदरी है । भाव उणोदरी के कथन में- कलह, कषाय बोलाबोली (वाग्‌युद्ध) आदि के प्रसंग में गम खाना, शांत रहना, मौन रखना, भाव उणोदरी कहा गया है । गुस्सा, घमण्ड, कपट, लोभ, लालच से आत्मा को अलग-सुरक्षित रख लेना भी, भाव उणोदरी तप कहा गया है ।

३-भिक्षाचरी :- गोचरी में विविध अभिग्रह करना, ७ पिंडेषणा, ७ पाणेषणा के संकल्प से गोचरी जाना। आठ प्रकार की पेटी, अर्द्ध पेटी इत्यादि आकार वाली भ्रमण विधि में से किसी विधि का संकल्प करना। द्रव्य क्षेत्र काल भाव सम्बन्धी अभिग्रह करना । द्रव्य से- खाद्य पदार्थों की संख्या, दत्ति संख्या आदि निर्धारित करना । क्षेत्र-भिक्षा के घरों की संख्या, क्षेत्र, दिशा आदि की सीमा करना । काल- समय की मर्यादा करना उतने समय में ही भिक्षा लाना खाना । भाव से- दाता सम्बन्धी, देय वस्तु से सम्बन्धी, रंग व्यवहार आदि से अभिग्रह करना । शुद्ध ऐषणा समिति से प्राप्त करने का दृढ संकल्प करके गौचरी करना भी भिक्षाचरी तप कहा गया है इस संकल्प में नया अभिग्रह तो नहीं होता है किन्तु ऐषणा नियमों में अपवाद का सेवन नहीं किया जा सकता । मौन पूर्वक गोचरी करना भी भिक्षाचरी तप कहा गया है । भिक्षाचरी तप को अभिग्रह तप या वत्ति-संक्षेप तप भी कहा जा सकता है ।

४-रस परित्याग :- विगयों का महाविगयों का त्याग करना, स्वादिष्ट मनोज्ञ पदार्थों का त्याग करना । विविध खाद्य पदार्थों का त्याग करना, खादिम स्वादिम का त्याग करना, अन्य भी मनोज्ञ इच्छित वस्तुओं के खाने का त्याग करना "रस परित्याग तप" है । यों भी संयम साधक रसास्वाद के लिये कोई भी आहार नहीं करता है । किन्तु संयम मर्यादा एवं जीवन निर्वाह के हेतु ही मर्यादित आहार करता है । फिर भी विशिष्ट त्याग की अपेक्षा यह तप होता है ।

५-कायक्लेश :- आसन करना, लम्बे समय तक स्थिर आसन रहना,

खड़े रहना, शयनासन का त्याग करना, वीरासन आदि कष्ट प्रद आसन करना, आतापना लेना, सर्दी में शीत सहन करना, निर्वस्त्र रहना, अचेल धर्म स्वीकार करना, ये कायक्लेश तप है । संयम विधि के आवश्यक नियम पाद(पैदल) विहार, लोच करना, स्नान नहीं करना, औषध उपचार नहीं करना, भूमि शयन करना, आदि भी काय क्लेश तप रूप ही है । इसके चार भेद है- १-आसन, २-आतापना, ३-विभूषा त्याग, ४-परिकर्म-शरीर सुश्रुषा त्याग ।

६-प्रतिसंलीनता तप :-

१- इन्द्रियों को अपने विषयों में नहीं जाने देना एवं सहज इन्द्रिय प्राप्त विषयों में राग-द्वेष नहीं करना, इन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप है ।

२- गुस्सा, घमंड, कपट, लोभ-लालच को उत्पन्न ही नहीं होने देना, सावधान रहना एवं उदय की प्रबलता से उत्पन्न हो जाय तो उसे तत्काल विफल कर देना अर्थात् ज्ञान से वैराग्य से अपने कर्तव्य का चिंतन कर, आत्म सुरक्षा के लक्ष्य को प्रमुख कर, परदोष दर्शन दृष्टि को नष्ट कर, स्वदोष दर्शन को प्रमुख कर, ऐहिक स्वार्थों को गौण कर, आध्यात्म विकास को प्रमुख रखकर, उन कषायों को टिकने ही नहीं देना "कषाय प्रतिसंलीनता" है ।

३- खोटे संकल्प विकल्प उत्पन्न ही नहीं होने देना, अच्छे उन्नत संकल्पों को बढाते रहना एवं मन को एकाग्र करने में अभ्यस्त होना अर्थात् धीरे-धीरे संकल्प विकल्पों से परे होना, ये सभी "मन योग प्रतिसंलीनता" है । इसी प्रकार खराब वचन का त्याग या अप्रयोग, अच्छे वचनों का प्रयोग, उच्चारण और मौन का अधिकतम अभ्यास, यह "वचन योग प्रतिसंलीनता" है । हाथ-पाँव आदि शरीर के अंग उपांगों को पूर्ण संयमित संकुचित रखना, स्थिरकाय रहना, चलना, उठना, बैठना, अंग संचालन आदि प्रवृतियों पर विवेक और यतना की विधि को अभ्यस्त रखते हुए अयतना पर पूर्ण अंकुश रखना **काय प्रतिसंलीनता** है।हाथ पाँव मस्तक, अस्तव्यस्त चंचलता युक्त चलाते रहना, अनावश्यक प्रवर्तन करना, **काय अप्रतिसंलीनता** है ।

४- एकांत स्थानों में रहना, बैठना, सोना आदि चौथा "विविक्त शयनासन" प्रतिसंलीनता तप है ।

भिक्षाचर्या के ३० प्रकार :-

१-द्रव्य- द्रव्यों से सम्बन्धी नियम या अभिग्रह करके आहार लेना।

२-क्षेत्र- ग्रामादि क्षेत्रों में से किसी एक क्षेत्र सम्बन्धी वास, गली, घर आदि का अभिग्रह करके आहार लेना ।

३-काल- दिन के अमुक भाग में आहार लेने का अभिग्रह करना ।

४-भाव- अमुक वय, वस्त्र या वर्ण वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

५-उक्खित्त चरए- किसी बर्तन में भोजन निकालने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

६-निक्खित्त चरए- किसी बर्तन में भोजन डालने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

७-उ. नि. चरए- किसी एक बर्तन में भोजन लेकर दूसरे बर्तन में डालने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

८-नि. उ. चरए- किसी एक बर्तन में निकाले हुए भोजन को, दूसरे बर्तन में लेने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

९-वट्टिज्जमाण चरए- किसी के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना ।

१०-साहरिज्जमाण चरए- अन्यत्र कहीं भी ले जाने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

११-उवणीय चरए- आहार की प्रशंसा करके देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

१२-अवणीय चरए- आहार की निन्दा करके देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

१३-उव. अव. चरए- जो आहार की पहले प्रशंसा करके बाद में निन्दा करे उससे आहार लेने का अभिग्रह करना ।

१४-अव. उव. चरए- जो आहार की पहले निन्दा करके बाद में प्रशंसा करे उससे आहार लेने का अभिग्रह करना ।

१५-संसट्ठ चरए- लिप्त हाथ, पात्र या चम्मच से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

१६–असंसट्ठ चरए– अलिप्त हाथ, पात्र या चम्मच से आहार लेने का अभिग्रह करना । इसमें दाता और वस्तु का विवेक रखा जाता है जिससे कि पश्चात्कर्म दोष न लगे ।

१७–तज्जाय संसट्ठ चरए– देय पदार्थ से लिप्त हाथ, पात्र या चम्मच द्वारा दिये जाने वाले आहार को लेने का अभिग्रह करना ।

१८–अण्णाय चरए– अज्ञात स्थान(जहाँ भिक्षु की प्रतीक्षा न करते हों वहाँ) से आहार लेने का अभिग्रह करना, अपनी जाति कुल बताये बिना आहार लेना । अज्ञात, अपरिचित व्यक्तियों के घरों से आहार लेना ।

१९–मौन चरए– मौन रखकर आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२०–दिट्ठ चरए– दिखता हुआ अर्थात् सामने रखा हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२१–अदिट्ठ चरए– नहीं दिखता हुआ अर्थात् अन्यत्र रखा हुआ, पेटी, आलमारी आदि में रखा हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२२–पुट्ठ चरए– "तुम्हें क्या चाहिए" इस प्रकार पूछकर देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२३–अपुट्ठ चरए– बिना पूछे देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२४–भिक्ख लाभिए– "मुझे भिक्षा दो" ऐसा कहने पर देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

२५–अभिक्खलाभिए– "भिक्षा दो" आदि कुछ भी कहे बिना ही स्वतः देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२६–अण्णगिलायए– नीरस, रुक्ष, ठंडा बासी, उच्छिष्ट, बचाखुचा आहारादि लेने का अभिग्रह करना ।

२७–ओवणीयए– दाता के समीप में पड़ा हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२८–परिमिय पिंडवाइए– परिमित द्रव्यों के लेने का अभिग्रह करना ।

२९–संखा दत्तिए– दत्ति का परिमाण निश्चित्त करके आहार लेन का अभिग्रह करना ।

३०- **भिन्नपिण्डपातिक**- खंड-खंड किये हुए पदार्थों की भिक्षा लेने वाला, अखंड पदार्थ मूग चना आदि नहीं लेने वाला । *-ठाणांग ५*

रस परित्याग तप के नौ प्रकार :-

१-**निर्विकृतिक**- विगय रहित आहार करना ।

२-**प्रणीत रसपरित्याग**- अतिस्निग्ध और सरस आहार का त्याग करना-सादा भोजन करना ।

३-**आयंबिल**- नमक आदि षट्रस तथा विगय रहित एक द्रव्य को अचित्त पानी में भिगोकर दिन में एक ही बार खाना ।

४-**आयाम सिक्थभोजी**- अत्यल्प (कण मात्र) पदार्थ लेकर आयंबिल करना ।

५-**अरसाहार**- बिना मिर्च मसाले का आहार करना ।

६-**विरसाहार**- बहुत पुराने अन्न से बना हुआ आहार करना ।

७-**अन्ताहार**- भोजन के बाद बचा हुआ आहार करना ।

८-**प्रान्ताहार**- मंलिचा आदि तुच्छ धान्यों से बना हुआ आहार करना ।

९-**रुक्षाहार**- रुखा-सूखा आहार करना ।

कायक्लेश तप के नौ प्रकार :-

१-**स्थानस्थितिक**- एक आसन से स्थिर खड़े रहना । बैठना नहीं ।

२-**उत्कटुकासनिक**- पुट्ठों को भूमि पर न टिकाते हुए केवल पांवों के बल बैठकर मस्तक पर अंजली करना ।

३-**प्रतिमास्थायी**- एक रात्रि आदि का समय निश्चित कर कायोत्सर्ग करना ।

४-**वीरासनिक**- कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के नीचे से कुर्सी निकालने पर जो स्थिति होती हैं, उस आसन से स्थिर रहना ।

५-**नैषधिक**- पुट्ठे टिकाकर पालथी लगाकर बैठना एवं समय की मर्यादा करना ।

६-**आतापक**- धूप आदि की आतापना लेना ।

७-**अप्रावतक**- देह को कपड़े आदि से नहीं ढकना, खुले शरीर रहना ।

८-**अकण्डूयक**- खुजली चलने पर भी देह को नहीं खुजलाना।
९-**अनिष्ठीवक**- थूंक कफ आदि आने पर भी नहीं थूकना ।
सर्वगात्र परिकर्म एवं विभूषा विप्रमुक्त- देह के सभी संस्कार तथा विभूषा-श्रंगार आदि करने से मुक्त रहना ।
१-**दण्डायतिक**- दंडे के समान सीधे लम्बे पैर करके सोना ।
२-**लगण्डशायी**- शिर और एड़ी को जमीन पर टिकाकर शेष शरीर को ऊपर उठाकर सोना । अथवा करवट से सोकर हथेली पर शिर एवं एक खड़े पांव के घुटने पर दूसरे पांव की एडी रखना । इस आसन में शिर रखे हाथ की कोहनी जमीन पर रहती है और एक पांव का पंजा भूमि पर रहता है, एक करवट भूमि पर रहता है ।
३-**समपादपुता**- दोनों पैरों को और नितम्बों को भूमि पर टिकाकर बैठना ।
४-**गोदोहिका**- गाय दुहने की तरह से बैठना ।
५-**अप्रतिशायी**- शयन नहीं करना । खड़े रहना या किसी भी आसन से बैठे रहना ।
७-**प्रायश्चित्त :**- प्रमाद से, परिस्थिति से या उदयाधीन होने से लगे दोषों की आलोचना आदि करना । सरलता, नम्रता, लघुता युक्त होकर पूर्ण शुद्धि करना, यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार करना, मिथ्या दुष्कृत देना आदि "प्रायश्चित्त तप" है ।
८-**विनय :**- विनय का सामान्य अर्थ नम्रता, वंदना, नमस्कार, आज्ञा-पालन, आदर देना, सन्मान करना, भक्ति भाव युक्त व्यवहार करना, यह सब प्रवर्तन सामान्य 'विनय तप' है ।
विशेष अर्थ :- आत्मा के कर्मों को दूर करने हेतु ज्ञान दर्शन चारित्र का आराधन कर, श्रुत भक्ति एवं अनाशातना का व्यवहार करना, मन वचन काया को प्रशस्त रख कर कर्म बंध से आत्मा को विशेषरूप से दूर करना, अप्रशस्त मन वचन व्यवहार नहीं करना भी विनय है। विनय के क्षेत्र काल सम्बन्धी नियम अनुष्ठानों का, व्यवहार का पालन करना भी "विनय तप" है । कायिक प्रवृतियाँ यतनापूर्वक करना प्रत्येक व्यक्ति या प्राणी के साथ सद्व्यवहार करना इत्यादि । विशेष विनय के सात प्रकार है यथा- १. ज्ञान विनय २. दर्शन विनय ३.

चारित्र ४. मनं ५. वचन ६. काय विनय ७. लोकोपचार विनय है ।

काया से उपयोग पूर्वक गमनागमन उल्लंघन-प्रलंघन, बैठना उठना भी विनय में कहा गया है । अविवेकी प्रवृत्तियाँ नहीं करना भी विनय है । अर्थात् सभी प्रकार की विवेक युक्त अनाश्रवी वति से व्यवहार करने वाला गुणसम्पन्न व्यक्ति विनीत कहा जाता है । इस प्रकार सभी उन्नत गुणों को विनय कहा जा सकता है । जिनका उक्त सात भेदों में समावेश हो जाता है ।इसी अपेक्षा से उत्तराध्ययन सूत्र के पहले और ग्यारहवें अध्ययन में अनेक गुणों वाले को विनीत कहा गया है ।

टिप्पण-१-आत्म शुद्धि बिना विनय के संभव नहीं है । विनय व्यक्ति को अहंकार से मुक्त करता है और यह स्पष्ट है कि आत्मगत दोषों में अहंकार ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दोष है । जैनागमों में विनय शब्द का तात्पर्य आचार के नियमों से भी है । उसके अनुसार आचार के नियमो का सम्यक् रूप में परिपालन ही विनय है । दूसरे अर्थ में विनय विनम्रता का सूचक है । इस दूसरे अर्थ का तात्पर्य है वरिष्ट एवं गुरुजनों का सन्मान करते हुए उनकी आज्ञाओं का पालन करना व उन्हें आदर प्रदान करना ।

९-**वैयावत्य :**- आचार्य आदि १० संयमवान महापुरुषों की यथायोग्य सेवा करना वैयावत्य तप है । यथा- १. आचार्य २. उपाध्याय ३. स्थविर ४. तपस्वी ५. रोगी ६. नवदीक्षित ७. कुल ८. गण ९. संघ १०. साधर्मिक श्रमण । इन्हें आहार, पानी, औषध, वस्त्र-पात्र, प्रदान कर शारीरिक शाता पहुँचाना, वचन-व्यवहार से मानसिक समाधि पहुँचाना, वैयावत्य तप है ।

१०-**स्वाध्याय :**- इसके ५ प्रकार है- १ वाचना २ पच्छा ३ परिवर्तना- कंठस्थ ज्ञान का पुनरावर्तन ४ अनुप्रेक्षा ५ धर्म कथा । रुचि पूर्वक आगमों का, जिनवाणी का, भगवद् सिद्धान्तों का, कंठस्थ अध्ययन करना, वाँचन करना, मनन चिंतन अनुप्रेक्षण करना, प्रश्न-प्रतिप्रश्नों द्वारा अर्थ परमार्थ को समझना एवं इस उक्त स्वाध्याय आदि से प्राप्त अनुभव को भव्य जीवों के पथ प्रदर्शन के लिये प्रसारित प्रचारित करना अर्थात् प्रवचन देना, स्वतः उपस्थित परिषद के योग्य हितावह

उद्बोधन देना, उन्हें धर्म मार्ग में उत्साहित करना, यह सब स्वाध्याय तप है [प्रेरणा करके या पत्रिका छपवा कर भक्तों को इक्ट्ठा कर सभा का आयोजन किया जाता है और उनको प्रसन्न करने हेतु सम्मान माल्यार्पण किया जाता है यह स्वाध्याय तप नहीं है ।]

११-ध्यान :- स्वाध्याय आदि से प्राप्त अनुभव ज्ञान के द्वारा आत्मानुलक्षी, वैराग्य वर्धक, अनित्य भावना, अशरण भावना, संसार भावना, एकत्व भावना, अशुचि भावना आदि के द्वारा आत्मध्यान में लीन बन जाना और ज्ञान, वैराग्य एवं आत्म भाव में एक मेक बन जाना, चित्त-चिंतन सारे एक ही आध्यात्म विषय में एकाग्र, स्थिर, स्थिरतम हो जाना, आत्म विकाश के आत्मगुणों में पूर्ण रूपेण क्षीर नीर वत मिल जाना, इस प्रकार समभाव युक्त आत्म विषय में एकाग्र चित हो जाना, बाह्य संकल्पों से पूर्ण रूपेण हट कर आध्यात्म विषयों में आत्मशात हो जाना, तल्लीन बन जाना **ध्यान तप** है ।

स्वाध्याय के चौथे भेद रूप अनुप्रेक्षा और ध्यान की अनुप्रेक्षा दोनों ही अनुप्रेक्षा है किन्तु है दोनों अलग-अलग । एक तत्वानुप्रेक्षा है तो दूसरी आत्मानुप्रेक्षा । विस्तत नय की अपेक्षा ध्यान के चार भेद भी है यथा- १ आर्त ध्यान २ रौद्र ध्यान ३ धर्म ध्यान ४ शुक्ल ध्यान।

नोट :- ***ध्यान स्वरूप एवं उसके भेदप्रभेद तथा विस्तत विचारणा अन्य निबंध में देखें ।***

१२-व्युत्सर्ग :- स्वाध्याय और ध्यान में वचन मन का प्रयोग होता है किन्तु व्युत्सर्जन तप तो त्याग प्रधान है । यह अंतिम और पराकाष्ट दर्जे का तप है । इसमें त्याग ही त्याग करना होता है । यहाँ तक कि स्वाध्याय और ध्यान का भी त्याग किया जाता है । क्यों कि स्वाध्याय ध्यान में योग प्रवर्तन है, अनुप्रेक्षा करना भी योग प्रवत्ति है । इस व्युत्सग तप में तो मन वचन काया के योगों के त्याग का ही लक्ष्य होता है।

द्रव्य :- १-सामुहिकता का अर्थात् गण का त्याग कर एकल विहार धारण करना **गण व्युत्सर्ग तप** है। २-शरीर का त्याग कर कायोत्सर्ग करना अर्थात् तीनों योगों का शक्य व्युत्सर्जन करना, **कायोत्सर्ग तप** है । ३-उपधि का क्रमिक या पूर्ण रूपेण त्याग करने रूप देश अचेलत्व

या पूर्ण अचेलत्व स्वीकार करना **उपधि व्युत्सर्जन तप** है। ४-आहार पानी का पूर्ण रूपेण या क्रमिक त्याग करना **भक्त पान व्युत्सर्जन तप** है । द्रव्य व्युत्सर्ग तप के ये ४ प्रकार कहे गये हैं ।

भाव :- कषाय त्याग, कर्म बंध निवारण और संसार भ्रमण का निरोध ये भाव व्युत्सर्ग तप के तीन प्रकार है ।

विशेष विचारणा :- कायोत्सर्ग में जो लोगस्स आदि के जाप आदि की प्रवृत्ति चल रही हे वह पूर्ण व्युत्सर्जन नहीं है । सही रूप में व्युत्सर्जन वह है जिसमें वचन और काय योग के त्याग के साथ निर्विकल्पता की साधना होती है अर्थात् इसमें मनोयोग के व्यापार का भी निरोध करने का पूर्ण लक्ष्य होता है, अनुप्रेक्षा का भी त्याग होता है, यही पूण कायोत्सर्ग रूप व्युत्सर्ग तप की साधना है । यह ध्यान के बाद का तप है । ध्यान से भी इसकी श्रेणी विशिष्ट दर्जे की साधना वाली है ।

आजकल इस साधना को भी ध्यान के नाम से प्रचारित किया जाता है । यथा- निर्विकल्प-ध्यान, गोयंका-ध्यान, प्रेक्षा-ध्यान, आदि । यह व्यवहार सत्य ध्यान हो गया है किन्तु वास्तविक सत्य नहीं है ।

कई लोगों का ऐसा सोचना है कि निर्विकल्पता छदमस्थ के नहीं हो सकती है । किन्तु उनका ऐसा एकांतिक विचार अयोग्य है । मनोयोग का अंतर भी शास्त्र में बताया गया है । प्रगाढ निद्रा में भी मनोयोग अवरूद्ध होता ही है । एवं व्युत्सर्ग तप में योगों का व्युत्सर्जन करना भी आगम में तप रूप कहा गया है । इसमे मन के संकल्पों का भी व्युत्सर्जन करना समाविष्ट ही है । अतः उसका एकांत निषेध करना अनुपयुक्त एवं अविचारकता है । ध्यान की साधना से यह व्युत्सर्जन की साधना कुछ विशेष कठिन अवश्य है, किन्तु इसे असाध्य नहीं मानना चाहिये ।

ये सभी प्रकार के तप, "ज्ञान-दर्शन-चारित्र" की भूमिका के साथ ही महत्व शील होते है, अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र या चारित्रा-चारित्र नहीं है तो बिना भूमिका का तप आत्म उत्थान में, मोक्ष आराधना में महत्वशील नहीं हो सकता । अतः किसी भी छोटे या बड़े तप में ज्ञान, श्रद्धान एवं विरति भाव की उपेक्षा नहीं होनी चाहिये । चाह भले ही वह उच्च ध्यान हो या परम तप व्युत्सर्ग हो।

चतुर्विध मोक्ष मार्ग की सापेक्ष साधना ही मोक्ष फलदायी हो सकती है । वे चार प्रकार है- १ सम्यग ज्ञान २ सम्यग् श्रद्धान ३ सम्यग् चारित्र ४ सम्यग् तप । यथा-

णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एयं मग्गं अणुपत्ता, जीवा गच्छई सोग्गइं ॥-उत्तरा. अ.२८,गा.३

भावार्थ :- ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इस चतुर्विध मोक्ष मार्ग को प्राप्त करके उसकी आराधना करने वाले जीव मोक्ष रूपी सद्गति को प्राप्त करते हैं ।

निबंध-७३

श्रमण के पर्यायवाची शब्द एवं अर्थ

१-**श्रमण**- संयम और तप में श्रम करे, विषय वासना का शमन करे और समभाव युक्त रहे ।
२-**निर्ग्रन्थ**- कनक और कामिनी के त्यागी, परिग्रह के सर्वथा त्यागी ।
३-**भिक्षु**- निर्दोष भिक्षा करने वाले ।
४-**अनगार**- जिन्होंने अपने घर का त्याग कर दिया हो ।
५-**यति**- इन्द्रियों को वश में रखने वाले ।
६-**मुनि**- अधर्म के कार्यों में मौन रहने वाले, ज्ञानवान ।
७-**पंडित**- पाप से डरने वाले ।
८-**ऋषीश्वर**- समस्त जीवों के रक्षक ।
९-**योगीश्वर**- मन, वचन और काया के योगों को वश में रखने वाले ।
१०-**ब्रह्मचारी**- नव वाड़ युक्त जो ब्रह्मचर्य पाले ।
११-**साधु**- आत्म-हित की साधना करे । सादा रहना, सादा खाना ।
१२-**तपस्वी**- कर्मों की निर्जरा के लिए दीर्घ तप करने वाले ।
१३-**ऋजु**- सरल हृदयी ।
१४-**प्राज्ञ**- बुद्धिमान ।
१५-**अकुतोभय**- किसी भी प्राणी को जिससे भय नहीं । जो स्वयं भय रहित निर्भय हो ।

अपनी बात

(स्वास्थ्य सुधार एवं प्रायश्चित्त)

आगम मनीषी मुनिराज श्री के विचित्र कर्मोदय से २०११ के ५ जनवरी को अचानक औपद्रविक पेट में तीव्र वेदना होने से एवं ६ महिनों में कोई उपचार नहीं लगने से तथा १५ किलो वजन घट जाने से, जिससे संयम के आवश्यक कार्य हेतु चलना आदि भी दुःशक्य हो जाने से १२ जुलाई २०११ को श्रावक जीवन स्वीकार करना पडा । पुनः ५ जनवरी २०१३ को १६ घंटे तक विचित्र उल्टीयें एवं दस्ते होकर उपद्रविक रोग पूर्ण शांत हो गया। दो महिने में कमजोरी भी कवर हो गई । धीरे-धीरे २०१४ जनवरी तक स्वास्थ्य एवं वजन पूर्ववत् हो जाने से एवं पूरी हिंमत आ जाने से आगम संबंधी प्रकाशन का कार्य जो अवशेष था उसे पूरा करते हुए अब आगे २०१६के जनवरी से प्रायश्चित्त रूप में (प्रायश्चित्त पूर्ण स्वस्थ होने पर ही किया जा सकता है इसलिये) एक वर्ष की निवृत्ति युक्त संलेखना तथा दिसंबर २०१६में दीक्षा तथा संथारा ग्रहण कर आत्मशुद्धि एवं साधना आराधना का प्रावधान रखा है । संलेखना के एक वर्ष के काल में चार खंध पालन, राजकोट से बाहर जाने का त्याग, प्रायः विगय त्याग या आयंबिल उपवास आदि, मोबाइल त्याग आदि नियम स्वीकार । अंत में जिन संतों के पास जिस क्षेत्र में दीक्षा लेना होगा वहाँ वाहन द्वारा पहुँच कर पाँच उपवास के साथ दीक्षा संथारा ग्रहण किया जायेगा ।

व्याधि :- पेट में कालजे की थोडी सी जगह में हाईपावर अे.सी.डी.टी, सांस और हार्ट (धडकन) ये तीन रोग एक साथ थे, असह्य वेदना सप्टेम्बर-२०११ तक अर्थात् ९ महिना रही थी ।

निवेदक :

डी.एल.रामानुज, मो.९८९८० ३७९९६

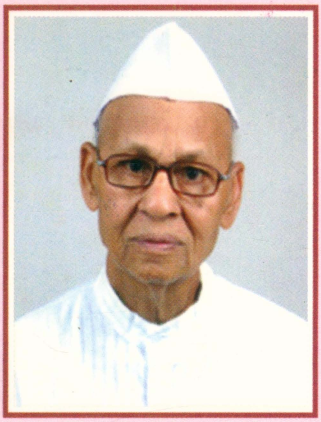

जैनागम नवनीत एवं प्रश्नोत्तर सर्जक
आगम मनीषी
श्री तिलोकचंद्रजी का परिचय

जन्म : १९-१२-४६
दीक्षा ग्रहण : १९-५-६७
गच्छ त्याग : २२-११-८५
श्रावक जीवन स्वीकार : १२-७-२०११
निवृत्ति-संलेखना : २०१६ जनवरी से
दीक्षा-संथारा : १९ दिसम्बर २०१६

दीक्षागुरु : श्रमण श्रेष्ठ पूज्यश्री समर्थमलजी म.सा. ।

निश्रागुरु : तपस्वीराज पूज्यश्री चम्पालालजी म.सा. (प्रथम शिष्य)

आगमज्ञान विकास सानिध्य : श्रुतधर पूज्यश्री प्रकाशचंद्रजी म.सा. ।

लेखन, संपादन, प्रकाशन कला विकास सानिध्य : पूज्यश्री कन्हैयालालजी म.सा. 'कमल', आबूपर्वत ।

नवज्ञान गच्छ प्रमुखता वहन : मधुरवक्ताश्री गौतममुनिजी आदि संत गण की ।

बारह वर्षी अध्यापन प्रावधान की सफलता में उपकारक : (१) तत्त्वचिंतक सफल वक्ता मुनिश्री प्रकाशचंद्रजी म.सा. (अजरामर संघ) (२) वाणीभूषण पूज्यश्री गिरीशचन्द्रजी म.सा. (गोंडल संप्रदाय) ।

गुजराती भाषा में ३२ आगमों के विवेचन का संपादन-संचालन लाभ प्रदाता : तप सम्राट पूज्यश्री रतिलालजी म.सा. ।

आगम सेवा : चारों छेद सूत्रों का हिन्दी विवेचन लेखन (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर से प्रकाशित) । ३२ आगमों का सारांश लेखन । चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग के ५ खंडो में संपादन सहयोग । गुणस्थान स्वरूप, ध्यान स्वरूप, १४ नियम, १२ व्रत का सरल समझाइस युक्त लेखन संपादन ।

गुजरात तथा अन्य जैन स्थानकवासी समुदायों के संत सतीजी को आगमज्ञान प्रदान । ३२ आगम के गुजराती विवेचन प्रकाशन में संपादन सहयोग । ३२ आगमों के प्रश्नोत्तर लेखन संपादन (हिन्दी)। आगम सारांश गुजराती भाषांतर में संपादन एवं आगम प्रश्नोत्तर गुजराती भाषांतर संपादन ।

– लालचन्द जैन 'विशारद'